त्रैमासिक शोध पत्रिका

# अनेकान्त

वर्ष २६ : किरण १

जनवरी-मार्च १९७६

परामर्श-मण्डल :
डा० प्रेमसागर जैन,
श्री यशपाल जैन

सम्पादक :
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम. ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

विश्वधर्म के प्रेरक उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली

## विषय-सूची


| क्र० | विषय | पृ० |
|---|---|---|
| १. | परमात्मा का स्वरूप | १ |
| २. | जैन रास साहित्य का दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ विक्रम लीलावती चौपाई—डा. सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन | २ |
| ३. | देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोकराज कौन था ? —डा. सत्यपाल गुप्त, एम. ए., पी-एच डी., लखनऊ | ३ |
| ४. | हस्तिमल्ल के विक्रान्तकौरव में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव—श्री बापूलाल आंजना, उदयपुर | ६ |
| ५. | महावीर का धर्म-दर्शन : आज के सन्दर्भ में —श्री वीरेन्द्रकुमार जैन, बम्बई | १२ |
| ६. | ज्ञान की पावन ज्योति बुझ गई है —श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली | १७ |
| ७. | भगवान् महावीर तथा श्रमण संस्कृति —श्री राजमल जैन, नई दिल्ली | १६ |
| ८. | मालवा के शाजापुर जिले की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएँ—डा. सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन | २४ |
| ६. | तीन अप्रकाशित रचनायें—श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली | २६ |
| १०. | रयणसार : स्वाध्याय की परम्परा मे —डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच | ३० |
| ११. | भास के श्रमणक—डा. राजपुरोहित | ३३ |
| १२. | वेदों मे जैन सस्कृति के गूंजते स्वर —श्री जी. सी जैन | ३६ |
| १३. | जैन संस्कृत नाटको की कथावस्तु : एक विवेचन —श्री बापूलाल आंजना, उदयपुर | ३८ |
| १४. | आयुर्वेद के ज्ञाता जैनाचार्य —डा. हरिश्चन्द्र जैन, जामनगर | ४४ |
| १५. | तीर्थंकर महावीर – श्री प्रेमचन्द जैन, एम. ए, दर्शनाचार्य, जयपुर | ४६ |
| १६. | खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर का शिल्प वैभव—श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, आजमगढ | ५३ |
| १७. | जैन आचार्यों द्वारा सस्कृत मे स्वतन्त्र ग्रथो का प्रणयन—मुनि श्री सुशीलकुमार | ५६ |
| १८. | जैन सस्कृति की समृद्ध परम्परा —श्री जयन्ती प्रसाद जैन, मुजफ्फरनगर | ६३ |



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा



# वीर-सेवा-मन्दिर के अभिनव प्रकाशन

## जैन लक्षणावली (दूसरा भाग)

चिर प्रतीक्षित जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोश) का द्वितीय भाग भी छप चुका है। इसमे लगभग ४०० जैन ग्रन्थों से वर्णानुक्रम के अनुसार लक्षणों का संकलन किया गया है। लक्षणो के सकलन में ग्रन्थकारों के कालक्रम को मुख्यता दी गई है। एक शब्द के अन्तर्गत जितने ग्रन्थों के लक्षण संगृहीत हैं, उनमें से प्राय: एक प्राचीनतम ग्रन्थ के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है। जहां विवक्षित लक्षण में कुछ भेद या हीनाधिकता दिखी है वहां उन ग्रन्थों के निर्देश के साथ २-४ ग्रन्थों के आश्रय से भी अनुवाद किया गया है। इस भाग में केवल 'क से प' तक लक्षणों का संकलन किया जा सका है। थोड़े ही समय में इसका तीसरा भाग भी प्रगट हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए तो विशेष उपयोगी है ही, साथ ही हिन्दी अनुवाद के रहने से वह सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगी है। द्वितीय भाग बड़े आकार में ४१८+८+२२ पृष्ठो का है। कागज पुष्ट व जिल्द कपड़े की मजबूत है। मूल्य २५–०० रु० है। यह प्रत्येक यूनीवर्सिटी, सार्वजनिक पुस्तकालय एवं मन्दिरो मे सग्रहणीय है। ऐसे ग्रन्थ बार-बार नहीं छप सकते। समाप्त हो जाने पर फिर मिलना अशक्य हो जाता है।

जैन लक्षणावली (तृतीय भाग) (मुद्रणाधीन)
श्रावक धर्म संहिता : श्री दरियावसिंह सोधिया ५.००
Jain Bibliography
(Universal Encyclopaedia of Jain References)
Pp. 2250 (Under print)
ध्यानशतक हिन्दी टीका—श्री बालचन्द्र शास्त्री १.००

प्राप्तिस्थान
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली


अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —सम्पादक

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २६ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | जनवरी-मार्च
वीर-निर्वाण संवत् २५०२, वि० सं० २०३२ | १९७६

## परमात्मा का स्वरूप

**जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणि-पत्तं सहावपयडीए ।**
**तह भावेण ण लिप्पइ कसाय-विसएहिं सप्पुरिसो ॥**

—भावपाहुड, १५४.

जैसे कमलिनीपत्र जल में रहता हुआ भी पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को प्राप्त करनेवाला विषय-वासनाओं में तथा भावों में लिप्त नहीं होता। वह अपने वीतराग-स्वभाव को प्राप्त करता है।

**णिस्सेस-दोस-रहिओ केवलणाणाइ-परमविभव-जुदो ।**
**सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥**

—नियमसार, ७.

जो सभी प्रकार के दोषों रहित शुद्ध, निर्मल आत्मा है और केवल-ज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है, वह परमात्मा कहा जाता है। उससे विपरीत परमात्मा नही है।

**स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय सयलत्था ।**
**णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता ॥**

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १९८.

केवल ज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानने वाले, शरीर सहित अर्हन्त और सर्वोत्तम सुख को प्राप्त करनेवाले तथा ज्ञानमय शरीरवाले सिद्ध परमात्मा है।

# जैन रास साहित्य का दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ
# विक्रम-लीलावती चौपाई

□ डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य, उज्जैन

उज्जयिनी के प्राचीन-रचित काव्य, नाटक एवं कथा-साहित्य में उदयन, वासवदत्ता और विक्रमादित्य ऐसे पात्र हैं जिन पर शताब्दियों तक साहित्य सृजन चलता रहा। चंडप्रद्योत (ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी) के काल से लेकर कवि कालिदास तक उदयन-वासवदत्ता की कथाएँ, उन पर अभिनीत नाटक और काव्य अवंतिका के ग्राम वृद्ध सुना और देखा करते थे। इसी प्रकार, बैताल, भर्तृहरी, पिंगला और विक्रमादित्य की कथाएँ यहां लोकप्रिय रही।

विक्रमादित्य से सम्बद्ध साहित्य उज्जैन के सिंधिया प्राच्य-विद्या शोध प्रतिष्ठान में इन दुर्लभ प्रतियों में सुरक्षित है: (१) विक्रमसेन चरित (२) सिंहासन बत्तीसी (३) सिंहासन बत्तीसी कथानक (४) सिंहासन-बत्तीसी बखर (५) बैताल पंचविंशति बखर (६) विक्रम लीलावती चौपाई। अंतिम ग्रन्थ मालवा और विक्रम पर अनेक सूचनायें देता है। प्रतिष्ठान मे इस कथानक की दो प्रतियाँ हैं जिनके नाम क्रमशः विक्रम-लीलावती चौपाई (ग्रंथ क्रमांक ५३२) तथा विक्रमाचरित्र लीला चौपाई (ग्रन्थ अंक ५२८६) हैं।

यह एक जैन रास है जिसकी रचना गुजराती मूलक हिन्दी भाषा में श्री अभय सोम ने संवत् १७२४ में की थी। इस ग्रंथ में विक्रमादित्य को परमार वंशीय माना गया है। रास का मुख्य कथानक यह है कि एक बार जब विक्रमादित्य रात्रि में नगर-भ्रमण कर रहे थे, उन्हें किसी नागरिक के घर से शुकसारिका का यह संवाद सुनाई दिया कि दक्षिण देश के स्त्री राज्य में पुरुषों से द्वेष करने वाली अत्यन्त लावण्यमयी राजकुमारी रहती है। यह वार्ता सुनकर विक्रमादित्य उस राज्य में पहुंचे तथा उस राजकुमारी से विवाह कर स्वदेश लौट आये।

ग्रन्थ के प्रारंभ मे सरस्वती की वंदना है और यह महत्वपूर्ण सूचना दी गई है कि जैन मूर्त्तिशिल्प में सरस्वती की प्रतिमा किन लक्षणों पर निर्मित होती थी। "वीणा पुस्तक धारणी, हंसासन कवि माय प्रात समये नित नमु सारद तोरा पाँय।" कह कर स्तुति की गई है। तत्पश्चात् मालव देश और उज्जैन का वर्णन है। जम्बूद्वीप में भरतखण्ड और उसमें तीर्थ-स्थान उज्जैन और वहां के गढ़, मठ, मन्दिरों के वैभव का काव्यात्मक भाषा मे वर्णन है :—

"जंबू द्वीपे भरत विशाला, मालव देश सदा सुकाला।
उज्जेणी नगरी गणे भरी, गढ़, मठ, मन्दिर देवल करी॥
सात भूमि प्रसाद उत्तंग, तोरण मँडप सोहे संग।
ठामें ठामें साहुकार, इतर पान जिहां जय जयकार॥
चार वर्ण बसे तिण पुरे, पवन बत्तीस बसे ऊपरे।
राजा विक्रम देव प्रकार, बंक्षस त्रिस ऊपर सार॥
राजा नित पाले राजान, न्याय समंत्रणों उपमान।
सबल सौभाग बहुगुण मिलौ, सूर वीर उपकारी भलौ॥"

ग्रन्थ के अंत में कहा गया है कि श्रीचंद सूरि के शिष्य अभय सोम खरतर गच्छ के श्रावक थे। ग्रन्थ से मालवा की भौगोलिक स्थिति, प्रतिमा-लक्षण और विक्रमादित्य का परमार काल से सबन्ध ज्ञात होता है। यह प्रति दुर्लभ है और प्रायः मेरे देखने में और कहीं नहीं आई है।

४, धन्वन्तरि मार्ग, गली न० ४,
माधव नगर उज्जैन

(म० प्र०)

# देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोकराज कौन था ?

□ डा० सत्यपाल गुप्त, एम. ए., पी-एच. डी. लखनऊ

सम्पूर्ण भारतवर्ष मे बिखरे हुए बहुत से स्तम्भ-लेख तथा शिलालेख मिले है जिनमे देवानाप्रिय प्रियदर्शी राजा का उल्लेख है । गुजर्रा तथा मास्की से प्राप्त लघु शिलालेखों में देवानां प्रिय अशोकराज नाम देखकर विद्वानों ने इन समस्त अभिलेखों को चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक मौर्य का मान लिया है । इन अभिलेखों में ऐसी कोई सामग्री नही मिलती जिसके आधार पर इनका सम्बन्ध मौर्य वंश से जोड़ा जा सके । ये लेख बहुत दिनो तक नही पढे जा सके थे, परन्तु सबसे पहले १८३८ ई० में प्रिसेप ने गिरनार के द्वितीय शिलालेख को पढ़ा और प्रकाशित किया । प्रारम्भ मे उसका मत यह था कि ये लेख लंका के देवानांप्रिय तिष्य के है । परन्तु बाद मे नागार्जुन पहाड़ियो मे (गया से १५ मील उत्तर) दशरथ मौर्य के गुहालेखों को देखकर तथा दीपवश में अशोक नाम के साथ प्रियदर्शन लगा देखकर उसने उनको अशोक मौर्य का माना । इन गुहाओं का दान राजा दशरथ द्वारा आजीवक सम्प्रदाय के लिए किया गया था । गत १४० वर्षों में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक खोजपूर्ण लेख तथा ग्रन्थ लिखे है, स्थान-स्थान पर खुदाइयां हुई है, सस्कृत के अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है; अतएव १८३८ ई० की तुलना में आज बहुत अधिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, जिससे इन स्तम्भ-लेखों तथा शिलालेखों के वास्तविक निर्माता का पता चल सकता है । सन् १९४७ ई० में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् अनुसन्धान क्षेत्र में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ है और आजकल इतिहासकार उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारत का वास्तविक नवीन इतिहास तैयार करने में सलग्न है ।

भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि भारतवर्ष मे एक नाम वाले अनेक राजा हुए हैं । सर विलियम जोन्स ने २८ फरवरी, १९७३ ई० के अपने अभिभाषण में मेगास्थनीज के सैंड्राकोटस को चन्द्रगुप्त मौर्य से अभिन्न माना था । इस अद्भुत खोज के एक वर्ष बाद अप्रैल, १९७४ मे उनका देहावसान हो गया । उन्होंने जिसको एक सम्भावना माना था, आज लगभग १७० वर्ष बाद भी इतिहासकार उसी निराधार सम्भावना को दोहराते आ रहे है । उस समय तक यह ज्ञात नहीं था कि गुप्तवंश में भी कोई चन्द्रगुप्त नाम का राजा हुआ था । सैंड्राकोटस चन्द्रगुप्त का द्योतक तो अवश्य है परन्तु वह चन्द्रगुप्त मौर्य न होकर गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त प्रथम है । भारतीय इतिहास की खोज अत्यन्त कष्टसाध्य है और जल्दबाजी में किसी सत्य निष्कर्ष पर नही पहुंचा जा सकता ।

रुद्रदामा के जूनागढ़ लेख से इतना तो स्पष्ट है कि मौर्य वंश मे अशोक नाम का राजा हुआ था ( अशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराज तुषास्फेनाधिष्ठाय…) और काठियावाड़ उसके राज्य के अन्तर्गत था, परन्तु अन्य कोई ऐसे प्रमाण अभिलेख आदि के रुप में नहीं मिले है जिनसे उसके कार्यकलापों पर प्रकाश पड़े । बौद्ध साहित्य के अध्ययन से तथा फाहियान और ह्वेनसांग आदि चीनी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि भारतीय इतिहास मे दो अशोक राजा हुए है। ह्वेनसांग ने लिखा है : "तथागत के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् एक अशोक नामक राजा हुआ जो बिम्बसार का प्रपौत्र था। उसने राजगृहसे लाकर पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया था ।" उसने पाटलिपुत्र के निर्माण के सम्बन्ध में बुद्ध की भविष्यवाणी का भी उल्लेख किया है । इससे इतना स्पष्ट है कि ह्वेनसाग के काल में भारतवासी बौद्ध यह मानते थे कि सबसे पहले अशोक ने पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया था । वह बिम्बसार का प्रपौत्र था, अजातशत्रु का पौत्र और गौतम बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् राजा बना था । वायु पुराण में उदायी द्वारा अपने शासनकाल के चतुर्थ वर्ष मे गंगा

के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर नामक श्रेष्ठपुर बनवाने का उल्लेख है। 'पाटल' शब्द शाश्वत कोश के अनुसार 'कुसुम' का पर्याय है। अतएव कुसुमपुर कालान्तर मे पाटलपुत्र या पाटलिपुत्र कहलाया। अश्वघोष के बुद्धचरित (सर्ग २२/३) मे अजातशत्रु के मंत्री वर्षकार द्वारा पाटलि ग्राम मे एक किले के निर्माण करवाने का उल्लेख है। अजातशत्रु ने बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् १५ वर्ष राज्य किया था। तत्पश्चात् दर्शक (अजात शत्रु के भ्राता) ने २५ वर्ष और उदायी ने २३ वर्ष राज्य किया। उदायी के बाद बौद्ध ग्रथो के अनुसार अनिरुद्ध तथा मुण्ड ने क्रमश: ९ वर्ष तथा ८ वर्ष राज्य किया। पुराणो मे केवल मुख्य मुख्य राजाओ के नाम तथा शासन-काल दिए हुए है। काल-गणना सही रखने के लिए महत्त्व-हीन राजाओ के शासन-काल बाद वाले राजा के काल मे जोड़ दिए गए है (देखिए डा० मनकड कृत पौराणिक क्रोनोलाजी)। इस प्रकार बुद्ध के ६० वर्ष बाद नन्दिवर्धन राजा बना। गिलगिट से प्राप्त विनयपिटक के हस्तलेख मे लिखा है

"बोधिसत्त्वस्य जन्मकालसमये चतुर्महानगरेषु चत्वारो महाराजा अभवन्। तद्यथा राजगृहे महापद्मस्य पुत्र, श्रावस्त्या ब्रह्मदत्तस्य पुत्र। उज्जयन्या राज्ञो अनन्तनेमि पुत्र:। कौशाम्ब्या राज्ञ: शतानीकस्य पुत्र।"

इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के जन्म-काल के समय मगध मे महापद्म प्रथम (क्षत्रौजा, क्षेमजित्, हेमजित) और महारानी बिम्बा से उत्पन्न पुत्र बिम्बसार राजा था। बिम्बसार बुद्धचरित (११/२) के अनुसार हर्यक कुल का था। इसको इतिहास मे श्रेण्य या श्रेणिक कहा गया है। मज्झिमनिकाय (पृ० १३१) मे इसको 'सेनिय' लिखा है. "रञ्जा मागधेन सेनियेन 'बिम्बिसारे नाति'। इसका पुत्र अजातशत्रु था जिसको कुणिक, देवानाप्रिय, अशोकचन्द्र आदि नामो से औपपत्तिक-सूत्र (प्रकरण १८,१९), कथाकोश, विविधतीर्थ कल्प (पृ० २२,६५) और आवश्यक-चूर्णि मे स्मरण किया गया है। महावंश के अनुसार, अजातशत्रु ने प्रथम बौद्ध संगीति का प्रबन्ध किया था (अ०३/१५-१९), परन्तु अजातशत्रु बौद्ध नही था, वह जैन था। बिगौडेट महोदय ने बर्मा में प्रचलित बौद्ध दन्त-कथाओ के आधार पर लिखा है कि अजातशत्रु ने गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् एक नया सम्वत् चलाया था और उसकी मृत्यु बुद्ध सं० २५ मे हुई थी (लीजेन्ड्स आफ दी बर्मीज बुद्ध, पृ० ११३)। इन बौद्ध दन्तकथाओ की प्रामाणिकता की पुष्टि कुणिक की अभिलेखयुक्त मूर्ति मे होती है। यह मूर्ति मथुरा के पास परखम मे मिली थी और आजकल मथुरा सग्रहालय मे है। भास ने 'प्रतिमा' नाटक में यह सकेत दिया है कि प्राचीन काल मे नगर के बाहर देवकुलो मे राजा की मृत्यु हो जाने पर उसकी प्रतिमा बनवाकर खड़ी कर दी जाती थी। इस प्रतिमा में नीचे की ओर यह अभिलेख है :—

'निभादप्रसेनि अजातशत्रु राजश्री कुणिक सेवासिनागो मागधानां राजा" अर्थात् मगध देश का राजा अजात--शत्रु, श्री कुणिक, जो निर्वाण को प्राप्त हो गया।

श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने बिहार-उड़ीसा के रिसर्च जरनल, खण्ड ५ (१९१९) मे शिशुनागवशीय राजाओ की प्रतिमाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत लेख लिखा है। उदायी तथा नन्दिवर्धन की प्रतिमाए भी पटना मे मिल गयी है। एक प्रतिमा गगा मे से निकाली गयी थी, दूसरी प्रतिमा अगमकुआं के पास मिली थी। ये अब पटना के सग्रहालय मे है। डा० जायसवाल ने इन पर खुदे अस्पष्ट लेखो का पढकर यह निश्चय किया कि एक मूर्ति अज उदायी की है और दूसरी सिररहित मूर्ति व्रात्य नन्दिवर्धन की है (जे० बी० ओ० आर० एस०, खण्ड ५)। अजातशत्रु ने अग, वज्जि, काशी और मल्ल महाजनपदो को जीतकर मगध मे मिला लिया था। उदायी ने पालक तथा कुमार (अवन्तिवर्धन) के मरने के बाद अवन्ति को मगध राज्य मे मिला लिया था। विविध तीर्थकल्प मे भी पालक का राज्य ६० वर्ष माना गया है। उदायी के पुत्र नन्दिवर्धन ने पाटलिपुत्र के अतिरिक्त वैशाली को भी अपनी दूसरी राजधानी बना रखा था। सुत्त-निपात मे इसका उल्लेख मिलता है। नन्दिवर्धन मूलत: जैन था, अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों मे उसकी प्रशसा नही मिली। वस्तुत: नन्दिवर्धन (नन्दराजा) धर्मसहिष्णु राजा था। उसने अपने पितामह की तरह देवानाप्रिय तथा अशोकविरुद अपने नाम के साथ जोड़ा था। सम्पूर्ण भारत मे पाए गए स्तम्भ-लेख, शिलालेख, पचमार्क सिक्के (नन्दी चिह्नयुक्त) इसी राजा के

है। यह दुख का विषय है कि इतने प्रतापी, धर्मसहिष्णु, चक्रवर्ती राजा को भारतीयों ने पूर्णत: भुला दिया।

लौरिय नवन्दगढ़ की खुदाइयों मे ३ फुट से १२ फुट की गहराई पर मानव अस्थियों तथा कोयलो के साथ पृथिवी की एक सोने की पत्तर पर बनी प्रतिमा पायी गयी थी (ए० एम० आर० १६०६-७)। इस स्थल पर टीले मे गडा एक लकडी का स्तम्भ भी मिला था। ऊपरी भाग दीमक ने खा लिया था, परन्तु निचला भाग ठीक था। इस स्तम्भ की ऊंचाई ४० फीट रही होगी। प्राचीन काल मे राजाओ के मरने के पश्चात् उनकी अवशिष्ट अस्थियो पर स्तूप तथा स्तम्भ बनवाने की वैदिक प्रथा थी। ऋग्वेद (म० १०,१८/१०) 'मे उपस्तं स्नम्भाना पृथिवींत्वन् परिमा ' मन्त्र मिलता है। दूसरे मन्त्र (१३) मे भी मृतक के प्रति कहा गया है ."अपनी माता पृथ्वी के पास जाओ। यह म जो ऊन सदृश कोमल है, तुम्हारी विनाश से रक्षा करे।" श्री टी० ब्लाख का मत है कि लौरिय अरराज और लौरिय नवन्दगढ के स्तूप प्राक् मौर्यकाल के है। नवन्दगढ शब्द स्वय नव (नवीन) नन्दो की स्मृति दिलाता है। नवन्दगढ मूल नाम था और अब भ्रम से उसी को नन्दनगढ कहा जा रहा है जो मूल शब्द नवनन्दगढ का अपभ्रंश रूपान्तर है। लौरिय अरराज तथा लौरिय नवन्दगढ मे प्रियदर्शी ने प्रस्तर स्तम्भ क्यो खड़े करवाए ? इसका स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि ये स्थल नन्द राजाओ के श्मशान-स्थल थे और प्राचीन युग मे यहाँ पर वज्जि गणराज्य की राजधानी थी। लौरिय नवन्दगढ के स्तम्भ का शीर्ष कमलाकार है जिस पर सिंह उत्तर को मुख किए खडा हुआ है। इस स्तम्भ पर भी टोपरा स्तम्भ सदृश छ: स्तम्भ लेख उत्कीर्ण है।

खारवेल का हाथी-गुम्फा लेख प्रियदर्शी के सन्दर्भ मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह प्राचीन अभिलेख भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी की हाथी-गुंफा (चित्र पृ० ७ पर) नामक गुफा मे खुदा हुआ है। इस प्रशस्ति मे खारवेल के वंश, जीवन और शासन की घटनाओ का सिलसिलेवार वर्णन दिया हुआ है। खारवेल ने अपने शासन-काल के पाँचवे वर्ष मे तनसुली से अपनी राजधानी तक, ३०० वर्ष पूर्व नन्द राजा द्वारा बनवायी गयी नहर का जीर्णोद्धार

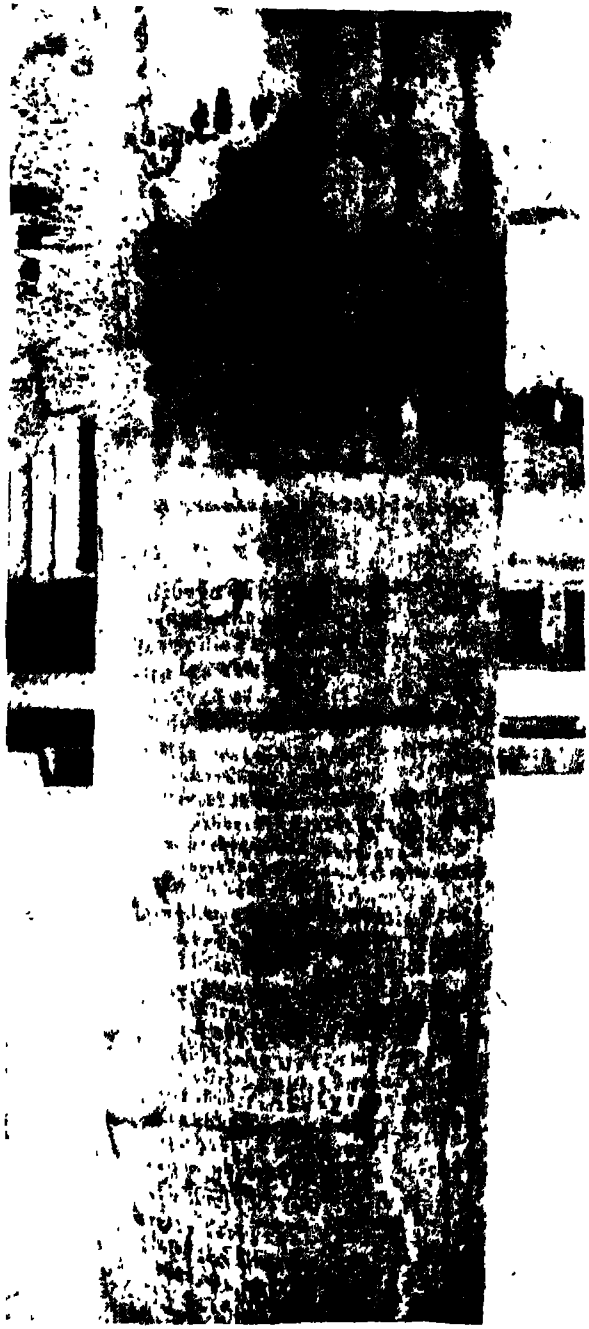

इलाहाबाद के किले मे विद्यमान नन्दिवर्धन का स्तम्भ जिस पर उसके अभिलेख खुदे हुए हैं। इस स्तम्भ पर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी संस्कृत भाषा में खुदी हुई है (भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से)।

करवाया (पञ्चमे च दानी वसे नन्दराज तिवसमत ओघाटितं तनसुलिय वाटापनादीं नगरं पवेसयति)। खारवेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष मे राजगृह पर आक्रमण किया और यवनराज दिमित को मथुरा भगा दिया। अगली बार अपने शासन के १२वें वर्ष मे खारवेल ने पुनः मगध पर आक्रमण किया और राजा बृहस्पति मित्र को अपने चरणो में गिरने को बाध्य किया। खारवेल मगध से काफी सामान लूट कर ले गया। इसमें भगवान् की वह मूर्ति भी थी जो नन्द राजा कलिंग से छीनकर ले गया था। इस प्रशस्ति मे मौर्य संवत् १६५ का उल्लेख भी मिलता है : मुरिय काल वोछिनं अगम निकंतरिय उपादायाति'। इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि कलिंग देश पर किसी नन्द राजा ने आक्रमण किया था, वह 'जिन भगवान की मूर्ति उठा ले गया' और प्रजा के सुख के लिए नहर भी खुदवायी थी। इतिहास मे कलिंग पर प्रियदर्शी के आक्रमण का ज्ञान तो उसके तेरहवें शिलालेख से होता है। यह युद्ध प्रियदर्शी के अभिषेकके आठवे वर्ष मे हुआ था। इस युद्ध से ही उसका चित्त अनुतप्त हो गया और उसने युद्ध-विजय के स्थान मे धर्म-विजय प्रारम्भ की। यदि यह अशोक मौर्य वश का था, तो बौद्ध ग्रंथों मे उसके इस आक्रमण का उल्लेख क्यों नही है। दिव्यावदान में अशोक के बुद्ध-जीवन से सम्बन्धित स्थलो की यात्रा का वर्णन मिलता है। यह यात्रा उसने उपगुप्त स्थविर के साथ की थी। ह्वेनसाग के अनुसार, कपिलवस्तु, सारनाथ आदि स्थलो पर अशोक ने स्तूप बनवाए थे (बील पृ० २४)। फाहियान ने तथा बुद्ध-चरित मे अश्वघोष ने चौरासी सहस्त्र स्तूप बनवाने का उल्लेख किया है। यदि सहस्त्र का अर्थ 'लगभग' भी है तो कम से कम चौरासी स्तूप तो अशोक मौर्य ने बनवाए ही थे, फिर उनका अभिलेखो मे कोई उल्लेख क्यो नही है। निगली सागर स्तम्भ लेख से यह स्पष्ट है कि प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के १४ वर्ष बाद कनकमुनि स्तूप को दुगना करवाया था। २० वर्ष बाद उसने इस स्थान पर एक प्रस्तर स्तम्भ बनवाया जिस पर लेख खुदा हुआ है। आधुनिक रुम्मिन देई ही प्राचीन लुम्बिनी वन है जहा पर गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। प्रियदर्शी ने 'बलि' सज्ञक धर्मकर हटा दिया और लुम्बिनी ग्राम को उद्बलिक (जिससे बलि न ली जाए) और अष्टभागी कर दिया, अर्थात् उपज का आठवां भाग कर के रुप मे लिया जायेगा। क्या इससे यह स्पष्ट नही है कि प्रियदर्शी राजा अशोक मौर्य नही था, नही तो स्तूप बनवाने का उल्लेख अवश्य करता।

प्रियदर्शी के अभिलेखो मे कही भी कौटिल्य या उसके अर्थशास्त्र का कोई उल्लेख नही मिलता। अभिलेखों मे रज्जुक, प्रादेशिक तथा युक्त अधिकारियों का उल्लेख है। तृतीय लेख मे स्पष्ट कहा गया है कि मेरे विजित राज्य मे युत, रज्जुक, प्रादेशिक प्रति पाच वर्ष पर दौरे पर निकला करे। प्रियदर्शी ने इस प्रकार अपने शासको से धर्मानुशासन का कार्य भी लिया था। धर्म महामात्रो की नियुक्ति प्रियदर्शीने अपने राज्याभिषेक के तेरहवे वर्ष मे की थी। इसके अतिरिक्त, स्त्रीधर्मगात्र, और व्रजभूमिक भी धर्म-विजय के लिए नियुक्त किए गए थे। इनका उल्लेख अर्थशास्त्र मे नही है। सी.सी. एच. वाल्यूम २ मे कीथ ने एक विस्तृत लेख लिखकर अर्थशास्त्र और प्रियदर्शी के अभिलेखो की विसगतियाँ दर्शायी है। रुद्रदामा के जूनागढ अभिलेख से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक मौर्य के काल मे प्रान्तीय शासक को 'प्रादेशिक' न कहकर 'राष्ट्रिय' कहा जाता था। पुष्यगुप्त तथा तुषाष्प चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक मौर्य के काल मे सौराष्ट्र राष्ट्रिय थे। प्रियदर्शी को मोर का मास पसद था। सरक्षित पक्षियो की सूची मे मोर का नाम नही दिया हुआ है। परिशिष्ट पर्व (५।२२६) तथा उत्तराध्ययन-सूत्र पर सुखबोधा टीका से स्पष्ट है कि मौर्य लोग मयूर पोषक थे और मोरो के देश से आए थे। प्रियदर्शी की पत्नी कारुवाकी और पुत्र तीवर का सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य मे उल्लेख नही है। अभिलेखो मे महेन्द्र तथा सघमित्रा का कोई सकेत नही मिलता। इसी प्रकार, तिष्य की अध्यक्षता मे हुई तृतीय बौद्ध संगीति तथा विदेशो मे भेजे जाने वाले प्रचारको का ही कोई उल्लेख है। महावंश और दीपवश मे इन प्रचारको की विस्तृत सूची मिलती है (महा० १२।१-८, दीप० ८।१-११)।

द्वितीय अभिलेख मे लिखा है कि अशोक ने अपने विजित प्रदेश मे ही नही, अपितु सीमावर्ती राज्यो मे भी मनुष्यों तथा पशुओ की चिकित्सा का प्रबन्ध करवाया था। औषध, फल तथा फूलों के वृक्ष लगवाए थे। सीमान्त

राज्यों में चोळ, पांड्य सातियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अंतिओक राज्य गिनाए हैं। अंतिओक अफगानिस्तान के पास यूनानियों की एक छोटी-सी बस्ती का राजा था। इस अंतिओक के सामन्त कतिपय अन्य छोटी-छोटी बस्तियो के राजा थे जिनके नाम तुरमय, अन्तकिनि, मक तथा अलिक सुन्दर थे। यह मत कि ये नाम सीरिया, मिश्र, मैसीडोनिया, साइरीनी और इपाइरस के शासको के थे, नितान्त भ्रामक है। क्या इन देशो के इतिहास मे भी यह उल्लेख मिला है कि भारत के किसी राजा ने उसके देश मे चिकित्सा, वृक्षारोपण आदि करवाया था ? प्रियदर्शी के राज्य की जो सीमाएं अभिलेखो के आधार पर निश्चित की गयी है, वे उसको सम्पूर्ण भारत का एकछत्र राजा दर्शाती है। मेगास्थनीज़ के वर्णन से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विद्वानों का ध्यान क्यों नही गया। जहाँ तक प्रियदर्शी नन्दिवर्धन का सम्बन्ध है, उसके राज्य का वर्णन ऊपर किया ही जा चुका है। मैसूर के उत्कीर्ण लेखों के अनुसार, कुन्तला प्रदेश नन्दों के शासन मे था। ये लेख १२वी सदी के है, परन्तु इनकी प्रामाणिकता विवादग्रस्त नही है (राइस. कृत मैसूर एण्ड कुर्ग इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ३)। कवि मामूलनार ने संगम साहित्य मे नन्द राजा द्वारा दक्षिण-विजय का स्पष्ट उल्लेख किया है।

कल्हण ने राजतरंगिणी मे लिखा है कि राजा अशोक जैन था। इसने श्रीनगर बसाया था। अनेक बिहार और स्तूप बनवाए थे। राजतरंगिणी एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। मुद्राराक्षस मे राक्षस की ओर से युद्ध करने वाले राजा का नाम पुष्कराक्ष (मुद्रा० १/२०) था। राज-

भुवनेश्वर के पास उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुम्फा नामक गुहा। इसमे कलिंग के महाराजाधिराज खारवेल की प्रशस्ति है जिसमे नन्द राजा का दो बार उल्लेख किया गया है। (भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से)

केवल मगध का राजा था और उसके काल मे दक्षिण मे आन्ध्र अत्यन्त शक्तिशाली थे। अशोक ने केवल कलिंग देश जीता था। विन्दुसार ने राष्ट्रव्यापी अभियान चलाया था। इसका वर्णन बौद्ध, जैन ग्रन्थों या कथासरित्सागर आदि मे कहीं नहीं मिलता। फिर इतने बड़े तथ्य की ओर तरंगिणी मे यह नाम उत्पलाक्ष दिया हुआ है। संस्कृत मे पर्यायों के प्रयोगकी परिपाटी थी। पुष्कर तथा उत्पल दोनों कमल के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। उत्पलाक्ष ने ३० वर्ष ३ मास काश्मीर मे शासन किया था। कल्हण की काल गणना पूर्णत. पुराण सदृश है। उसमे कल्हण ने केवल एक यह

भूल की है कि महाभारत युद्ध ६५३ कलि स० में हुआ था।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व 'अशोक का लोक सुखयन धर्म' लेख लिखा था। इसमें उन्होंने अभिलेखों के विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न किया था कि प्रियदर्शी का धर्म हिन्दू धर्म था : 'ऐसा पोराण पक्ति'। यही सनातन धर्म है। लघु शिलालेख २ मे दिए हुए शब्दो की तुलना तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावली के 'सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' से की जा सकती है। "धर्म अच्छा है, लेकिन धर्म है क्या ? पाप रहित होना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सत्य और पवित्रता, ये धर्म है।" मनु ने धर्म के दस लक्षण माने है : धृति, क्षमा, दया, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, ध्यान, विद्या, सत्य और अक्रोध। प्रियदर्शी की व्याख्या मनु सदृश है। चडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या ये आसानिब या पाप के गर्त मे मनुष्य को गिराते है (स्तम्भ-लेख ३)। मनु के ध्यान को प्रियदर्शी ने 'निझति' कहा है। लेख ७ में निझति के महत्व पर बल दिया गया है। ध्यान द्वारा मानसिक परिवर्तन ही निझति है। यह जैन धर्म का विशिष्ट शब्द है। वस्तुतः प्रियदर्शी ने जीवन का सत्य पा लिया था। प्रियदर्शी और व्यास की धर्म विषयक वाणी एक है–भेरी घोष को हटाकर मैंने धर्म घोष चलाया है (लेख ४)। लेख २ मे प्रियदर्शी ने शील और सदाचार-प्रधान धर्म को 'दीघावुस' या दीर्घजीवी माना है।

शतपथ ब्राह्मण मे 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' लिखा है (१/७/१/५)। तैत्तिरीय ब्राह्मण म भी 'यज्ञो हि श्रेष्ठतम कर्म' कहा गया है (३/२/१/४)। परन्तु कालान्तर मे परम्परा विकृत हो गयी और यज्ञो मे पशु हिंसा होने लगी। इसी का वर्णन प्रियदर्शी ने अपने चतुर्थ शिलालेख मे किया है–'अतिकति अनर बहूनि वासस तानि वढि तो एव प्रणारभो विहिसा न भूतान' अर्थात् पूर्वकाल मे बहुत समय तक पशुओ की हिसा और समस्त प्राणियो के प्रति हिसात्मक व्यवहार बढता रहा। इसलिए प्रियदर्शी ने घोषणा की . 'एसहि ऐस्टं कमं या धर्मानुसारसन' अर्थात् वही श्रेष्ठ कर्म है जो धर्म का अनुशासन है। परन्तु धर्माचरण के लिए शील आवश्यक है। शील-प्रधान जीवन मे भावशुद्धि के बिना सब आडम्बर बन जाता है। मनु ने (२/९७ मे) 'न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छति कहिचित्' कहा है। गीता भी मन के सयम के बिना धार्मिक जीवन को मिथ्याचार मानती है। सच्चे धर्म के लिए आत्म-पर्यवेक्षण आवश्यक है। प्रियदर्शी ने सब धर्मों के सार-तत्त्व की वृद्धि पर और सब सम्प्रदायो के दृष्टिकोण को उदार बनाने पर बल दिया है (लेख १२)।

इन शिलालेखों मे बुद्ध-धर्म का कही उल्लेख नही है। श्रमण शब्द का अर्थ जैन साधु होता है जिसने अपनी वासनाओ का शमन कर लिया हो। जैन ग्रन्थो मे भी ब्राह्मण-श्रमण शब्दो का साथ-साथ प्रयोग मिलता है। प्रियदर्शी के काल मे बौद्ध धर्म का बहुत अधिक प्रचार नही था। जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था और इसलिए जनता भी इसी मत की अनुयायी थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य आचार्य कौटिल्य ने शाक्यप्रव्रजितो को देवकार्यों एव पितृकार्यो मे निमन्त्रित करने का निषेध किया था। 'शाक्यप्रव्रजित' से तात्पर्य 'बौद्ध भिक्षुओ' से है। जिनशासन शब्द का अर्थ 'जैन' था। 'जिन' शब्द महावीर स्वामी के लिए प्रयुक्त किया गया है। श्रमण, श्रावक, उपासक, सघ शब्द जैन धर्म से सम्बन्धित है : 'सः सम्प्रति नामा राजावन्तीपतिः श्रमणाना श्रावकः उपासकः पञ्चाणुव्रतधारी अभवदिति शेष.'—बृहत्कल्प सूत्र टीका। विद्वानो ने शिलालेखो की शब्दावली का भली प्रकार अध्ययन नही किया, नही तो प्रियदर्शी राजा जैन था इसमे कोई सन्देह का अवकाश नही है।

प्रियदर्शी की लाट पर नन्दी की मूर्ति मिली है (देखिए रामपुरवा की नन्दी की मूर्ति)। यह नन्दी की मूर्ति नन्दिवधन का प्रतीक है।

इस युग मे श्रमण-ब्राह्मणो का विरोध था, ऐसा महाभाष्यकार के 'एषा च विरोधः शाश्वतिकः' (२।४।१२) पर भाष्य से प्रकट होता है। उन्होंने 'अहिनकुलम्' के साथ-साथ 'श्रमण-ब्राह्मणम्' का उल्लेख किया है। सम्भवतः प्रियदर्शी के काल मे भी श्रमण-ब्राह्मणो म विरोध था, इसलिए प्रियदर्शी ने दोनो धर्मों के अनुयायियो को धर्मो का सार ग्रहण करने का आदेश दिया था।

उपर्युक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि प्रियदर्शी राजा, अशोक मौर्य से कम से कम १९२ वर्ष पूर्व हुआ था और जैन था, न कि बौद्ध। अशोक मौर्य बौद्ध था। भ्रम से इतिहासवेत्ताओ ने दो भिन्न कालो के दो भिन्नधर्मी राजाओ को मिला दिया है।

मन्त्री, नेहरू शोध सस्थान,
४६ माडल हाउस, लखनऊ

# हस्तिमल्ल के विक्रान्तकौरव में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव

□ श्री बापूलाल आंजना, उदयपुर

१३ वीं शती मे जैन कवियों ने सस्कृत नाट्य-साहित्य का पर्याप्त सवर्धन किया है। उनमे महाकवि हस्तिमल्ल का नाम अग्रणी है। उनके लिखे चार रूपक विक्रान्त कौरव[1], मैथिलिकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय और सुभद्रानाटिका है[2]। हस्तिमल्ल को पाण्ड्यमहीश्वर का समाश्रय प्राप्त था। ये पाण्ड्यमहीश्वर अपने भुजबल से कर्नाटक प्रदेश पर शासन करते थे।[3] डा० ए० एन० उपाध्ये ने अजनापवनजय की दो प्रतियो मे 'श्रीमत्पाण्यमहीश्वरे' श्लोक में 'सततगमे' 'सतगमे'—पाठ में से 'संततगमे' पाठ को उचित बतलाया है। सभवत हस्तिमल्ल 'सततगम, में ही कुटुम्बसहित निवास कर रहे थे, और यही पाण्ड्यमहीश्वर की राजधानी भी थी। कर्नाटकविरचित के कर्ता आर० नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १३४७ वि० सं० निश्चित किया है।[4] डा० रामजी उपाध्याय का भी यही मत है कि कवि ने अपनी कुछ रचनाएं ई० १३ वी श० के अन्तिम भाग मे और कुछ १४वी श० के प्रारम्भ मे लिखी होंगी।[5]

हस्तिमल्ल के उपलब्ध चार रूपकों[6] मे से तीन का कथानक जैन पुराणों पर आधारित है। विक्रान्तकौरव की कथावस्तु का आधार जिनसेन का महापुराण है: विक्रान्तकौरव मे जयकुमार व सुलोचना के स्वयवर की कथा प्रस्तुत की गई है। जयकुमार एव सुलोचना का विस्तृत जीवन चरित जिनसेन के महापुराण मे उपलब्ध है। ये जयकुमार दिग्विजय के समय ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के सेनापति रहे है। इन्होने जीवन की अन्तिम अवस्था मे विरक्त होकर मुनि-दीक्षा धारण की थी, और ये ऋषभदेव के ८४ गणधरो मे हुए।[7]

यद्यपि हस्तिमल्ल ने 'विक्रान्तकौरव' नाटक मे जयकुमार एव सुलोचना के स्वयंवर का कथानक निबद्ध किया है, तथापि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के प्रति अगाध भक्तिभावना के दर्शन हमे इस नाटक मे प्राप्त होते है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी। कल्पवृक्षो से ही लोगों का साराकार्य चलता था। उनके समय भोगभूमि नष्ट होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ था। भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन ६ कर्मों का उपदेश देकर सबको आजीविका की शिक्षा दी। उन्होने नगर ग्रामादि का विभाग कराया, वर्णव्यवस्था की और राज्यवशो की स्थापना की। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने भरतक्षेत्र के चार राजाओं का अभिषेक किया था, वाराणसी के राजा अकम्पन और हस्तिनापुर के राजा

---

१. विक्रान्तकौरव का अपर नाम सुलोचना है।

२ सभवत कवि ने उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर आदि चार नाटक भी लिखे थे। मि० आफ्रेख्त के केटेलागस् केटलाग्रोरम्' (सन् १८६१ लिपजिग) में इन सब नाटकों का उल्लेख आफर्ट साहब की लिस्ट आफ संस्कृत मेनु० इन सदर्न इण्डिया' (जिल्द १-२, सन् १८८०-८५) के आधार से किया गया है। सभवतः दक्षिण के भण्डारो मे विद्यमान हो, भरतराज सुभद्रा का ही अपर नाम जान पड़ा है।

३. श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरे निजभुजदण्डावलम्बो कृतम्— माणिकचन्द्र जै० ग्रं० मा० से प्रकाशित अजनापवनजय की भूमिका, पृ० ६६.

४. प्रथपरीक्षा, तृतीय भाग, पृ० ८

५ मध्यकालीन सस्कृत नाटक, पृ० २२८.

६ ये चारों रूपक माणिकचन्द्र जैन ग्रथमाला, बंबई से मूलरूप मे प्रकाशित हुए है।

७. पन्नालाल जैन सं० 'विक्रान्तकौरव' की भूमिका, पृ० ११ व १२.

सोमप्रभ भी इनमे थे। (प्रस्तुत नाटक की नायिका सुलोचना राजा अकम्पन की पुत्री थी। नायक जयकुमार महाराज सोमप्रभ का पुत्र था।) जब भगवान् ऋषभदेव ससार से विरक्त होकर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुए थे और उनके बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती राज्य सिंहासनारूढ़ थे तब सुलोचना का स्वयंवर हुआ। महाकवि हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव के मगलाचरण में आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव की वन्दना में इसी रूप में उनका स्मरण करके जगत् के कल्याण की कामना की है : "जिन भगवान् ऋषभदेव ने पृथ्वी पर असि, मसि आदि की वृत्ति प्रकट की (कर्मभूमि के प्रारम्भ मे कल्पवृक्षो के नष्ट होने पर विद्या, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर आजीविका का साधन बतलाया), जिनके पुत्र भरत लोक मे सर्वश्रेष्ठ सम्राट् हुए हैं और इन्द्रो के मुकुटो की मणियों (कलगियो) से जिनके चरणकमलो की आरती उतारी गई थी, वे प्रथम जिनेन्द्र हर्षपूर्वक सदा भारी कल्याण करे"।[१]

हरिवश पुराण मे भी ऋषभदेव के प्रति की गई स्तुतियों में कहा गया है कि वे मति, श्रुति एव अवधि इन तीनों सर्वोत्तम ज्ञान रूपी नेत्रों से सुशोभित है। भरतक्षेत्र में उत्पन्न होकर उन्होने तीनो लोको को प्रकाशित कर दिया।[२]

महाकवि हस्तिमल्ल उनके जगत्पूज्य, जगत्कल्याणकर्ता, पापनाशक, दानादि के महात्म्य के प्रतिष्ठापक एव मोक्षदायी स्वरूप का पुन पुन स्मरण करते है। सपूर्ण नाटक मे काशीराज अकम्पन, प्रतीहार कञ्चुकी और रत्नमाली, मन्थरक एवं मन्दर आदि तीनों विद्याधरों ने भगवान् ऋषभदेव के प्रति अपनी भक्तिभावना प्रकट की है। वस्तुत: यहां महाराज अकम्पन, प्रतिहार, कञ्चुकी और रत्नमाली आदि की दृष्टि स्वयं नाटककार की ही है। इस प्रकार, नाटककार ने ऋषभदेव के विविध रूपों की स्तुति करते हुए उनके प्रति अपनी उत्कृष्ट भक्तिभावना प्रकट की है।

उन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के चरणकमल समस्त देवो के द्वारा पूज्य है।[३] वे तीनों ज्ञान के धारक है। उन्होंने युग के प्रारम्भ मे अभिषेक कर, 'तुम राज्य करो' इस प्रकार जिन्हे प्रबोधित किया था, इसीलिए जो 'कुरुराज' नाम से प्रसिद्ध हुए थे तथा जिन्होने प्रजा मे कुशल-मगल की प्रवृत्ति की थी।[४] भगवान् ऋषभदेव ने पहले असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य इन छह वृत्तियों को और अन्त में मोक्षपद के मार्ग को दिखाकर जिस युग को अन्धकार-रहित किया, वह युग कृतयुग कहलाता है।[५] आत्मशुद्धि के लिए लोग उनका स्मरण करते है।[६] अभिषेक, स्थापन, पूजन, शाति एव विसर्जन इन ५ प्रकार के उपचारो मे निपुण भव्य जीव जगत् के कल्याण के लिए उनकी पूजा करते है।[७] उन परमेश्वर की पूजा सब प्रकार से कल्याण करने वाली है एवं शुभदायी है।[८] कैलास के शिखरो को पवित्र करने वाली एव सावधान गणधरो मे युक्त भगवान् ऋषभदेव की समवसरणाभूमि पापो का नाश करने वाली है।[९] युग के प्रारम्भ मे जब लोग दानादि के माहात्म्य से अनभिज्ञ थे, तब आदि तीर्थंकर ने दानादि के माहात्म्य की प्रतिष्ठा की

१. असिमषिमुखा वृत्तिर्येन क्षितौ प्रकटीकृता,
भरतमहिपससम्राड् यस्यात्मजो भुवनोत्तर।
सुरपमुकुटीकोटी नीराजिताङ्घ्रिसरोरुह,
प्रथमजिनपः श्रेयो भूयो ददातु मुदा सदा ॥
- विक्रान्त कौरव, १-१.

२. हरिवशपुराण, पृ. १२२, ८, १९६।

३. समस्तदेवाचितपादपकज पितामहश्चास्य पुनः पितामह विक्रान्त कौरव, ३ ५५।

४. अभिषिच्य युगोद्यमे विधाम्ना कुरुराज्य त्वमितिप्रबोधितो यः।
कुरुराज इति प्रतीतनामा कुशलादानमवर्तयत् प्रजानाम् ॥
वही, ३ ७१।

५. असिमषिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्यवृत्तीः।
शिवपदपदवीमप्यन्ततो दर्शयित्वा। वही, ४.१७।

६. वही, ५.१५।

७. पचोपचारचतुराः परमेश्वरस्य
कुर्वंति सर्वजगदभ्युदयाय पूजाम्। वही ६ ६।

८. हेमागद - सर्वं शुभोदर्क भगवदभ्यर्हणपुरःसरतया।
चौखम्बा से प्रकाशित, वही, पृ २५२।

९. समवसरणभूमि पूनकैलाशमौलि प्रणिहितगणनाथापस्थिता भूतमर्तु ॥ वही, ४-१०६।

थी। दानादि के माहात्म्य से अनभिज्ञ और तपश्चर्या को प्रकट करने मे पराधीनता से हतबुद्धि श्रेयान् ने घर आए हुए ऋषभदेव को दान दिया था।[१]

महाकवि हस्तिमल्ल का यह विवेचन पौराणिक वर्णनो से अत्यधिक मेल रखता है। हरिवश-पुराण मे कहा गया है—"मनुष्य भव मे आते ही आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने समस्त प्राणियों को कृतार्थ किया।[२] इस भव मे ऋषभदेव तीनो ज्ञान के धारक उत्पन्न हुए है, अत उनको 'स्वयभू' कहा जाता है।[३] भागवत मे आदि तीर्थंकर के प्रगट होने के दो प्रयोजन बताए गए है—मुनियों के लिए धर्म प्रकट करना[४] और मोक्षमार्ग की शिक्षा देना।[५] तिलोयपण्णत्ति मे सभी तीर्थंकर मोक्षमार्ग के नेता कहे गए है।[६] महापुराण के अनुसार, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव नृत्य करती हुई एक अप्सरा की मृत्यु द्वारा इन्द्र को जीवन की क्षणिकता से परिचय करवाते है।[७] तीर्थंकरो के अवतार लेने के कई प्रयोजन पौराणिक ग्रथो मे वर्णित है। जैन मुनियो के लिए आचार का आदर्श प्रस्तुत करना, आचार एव नियम पालन की शिक्षा देना और जैनधर्म का प्रचार करना आदि मुख्य प्रयोजन है। साथ ही तीर्थंकरो मे भव्य जीवो को ससार-समुद्र से तारने की सामर्थ्य भी है।[८] महाकवि हस्तिमल्ल ने भी विक्रान्तकौरव मे ये ही प्रयोजन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के अवतरित होने के बताए है।

नाटकान्त मे महाकवि ने ऋषभदेव को भूतनाथ विरुद से अलंकृत करते हुए इस प्रकार वन्दना की है—

**(महाराज अकम्पन) यस्य स्वयभुवो नाभेर्ब्रह्मणो विरुद्भवम्।**
**विश्वोत्पादलयध्रौव्यसाक्षी चास्तु शिवाय वः॥**[९]

अर्थात् जिन स्वयंभू ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि-नाभिराज नामक कुलकर से हुई है तथा जो समस्त पदार्थों से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का साक्षात् करने वाले है, वे भगवान् ऋषभदेव तुम्हारे कल्याण के लिए हों।

**(प्रतीहार) आकाशं मूर्त्यभावादघकुलदहनादग्निरुर्वी क्षमातो,**
**नैस्सग्याद्वायुरापः प्रगुणशमतया स्वात्मनिष्ठः सुयज्वा।**
**सोमः सौम्यत्वयोगाद्रविरिति च विदुस्तेजसां सन्निधाना-**
**द्विश्वात्मा तीतविश्व स भवतु भवतां भूतये भूतनाथः॥**[१०]

अर्थात् जो मूर्ति के अभाव मे आकाश है, पाप-समूहो को जलाने से अग्नि है, क्षमा से पृथ्वी है, निष्परिग्रह होने से वायु है, अत्यधिक शाति से युक्त होने से जल है, स्वकीय आत्मा मे स्थिर होने से सुयज्वायाजक है, सौम्यता के सयोग से चन्द्रमा है, तेज के सन्निधान से सूर्य है, विश्व-रूप है तथा विश्व से परे है, वे भूतनाथ-प्राणिमात्र के स्वामी भगवान् जितेन्द्र आप सब को भूति (ऐश्वर्य) के लिए हों।" यह वर्णन महाकवि कालिदास के द्वारा की हुई अष्टमूर्ति शिव की वन्दना से एकदम समता रखता है[११]। उपनिषदो मे भी ऋषियो ने परब्रह्म परमात्मा का ठीक ऐसा ही वर्णन किया है। परमात्मप्रकाश के अनुसार, जो जिनेन्द्र देव है, वे परमात्मप्रकाश भी है।[१२] केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त चतुष्टय से युक्त होने के कारण वही जिनदेव है। वही परम मुनि (अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी) है।[१४] जिस परमात्मा को मुनि परमपद हरि, महादेव, ब्रह्म तथा परमप्रकाश नाम से कहते है, वह रागादि से रहित जिनदेव ही है।[१५]

(शेष पृ० १६ पर)

१. वही, ३ ७२।
२. हरिवशपुराण, पृ १२३, ८, २०५-२०६।
३. वही, पृ. १२३, ८, २०७।
४. भागवत, ५-३-२०।
५. वही, ५-६-१२।
६. तिलोयपण्णत्ति ४, ६२८।
७. महापुराण ६, ४।
८. प्रवचनसार (८१ से १६५ ई० के बीच), पृ. ३, ४।
९. विक्रान्तकौरव, ६-५१।
१०. वही, ६.५२।
११. वही, ६-५२।
१२. अभिज्ञानशाकुन्तल, १.१।
१३. परमात्मप्रकाश, पृ. ३३६, २, १६८।
१४. वही, पृ. ३३७, २, १६६।
१५. वही, ३३७-३८, २, २००।
जो परमप्पउ परम पउ हरि हरू बभुवि बुद्ध परम पयासु भणति मुणि सो जिण देउ विसुद्ध। द्र० डा० कपिलदेव पांडेय विरचित : मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद; पृ. ८७ से ६३।

# महावीर का धर्म-दर्शन : आज के सन्दर्भ में

☐ श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, बम्बई

यह केवल संयोग नहीं, बल्कि एक बुनियादी तथ्य है कि महावीर का धर्म-दर्शन आज के सन्दर्भ मे शत-प्रतिशत घटित होता है। इसका कारण यह है कि जैन द्रष्टाओं ने सत्ता की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमे वस्तुओं की प्रतिक्षण की गतिविधि और प्रगति अत्यन्त अद्यतन तरीके से समाहित हो जाती है। उन्होने कहा है : "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्वं।" सत्ता एकबारगी ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मे युक्त है, अर्थात् उसमे प्रतिक्षण कुछ उत्पन्न हो रहा है, कुछ मिट रहा है, और कुछ है जो सदा एकसा कायम रहता है। प्रतिक्षण जो उठ और मिट रहा है, वह पर्याय है, यानी चीजो का रूप है, और जो सदा एक-सा कायम यानी ध्रुव है, वह चीजों का सत्य है, अर्थात् साराश है। मतलब यह हुआ कि गति और स्थिति के सयुक्त रूप को ही सत्ता कहते है।

इस तरह हम देखते है कि जैन-दर्शन ने वस्तु की प्रतिक्षण की नित नई गति-प्रगति को सत्य के रूप मे स्वीकृति दी है। उसे महज मिथ्या, माया या प्रपंच कह कर टाला नही है। ठीक विज्ञान की तरह ही जैन-दर्शन ने इस विश्व की तद्गत वास्तविकता यानी "आब्जेक्टिव रियलिटी" को स्वीकार किया है। नतीजे मे यह हाथ आता है कि जैनधर्म यथार्थवादी है, वास्तविकता-वादी है, वह कोरा आदर्शवादी नही है। जीवन से कटे हुए कोरे ऊर्ध्वमुख आदर्शवाद की अस्वीकृति और ठोस यथार्थवादी जीवन-जगत् की स्वीकृति, आज के युग की एक लाक्षणिक विशेषता है और यह विशेषता जैन-धर्म मे, सत्ता की मूल परिभाषा में ही उपलब्ध हो जाती है।

दूसरी आधुनिक विशेषता, जो जैनधर्म मे मिलती है, वह है वस्तु के साथ व्यक्ति का एक यथार्थवादी संबंध। चीजें ठीक जैसी है, उन्हे ठीक वैसी ही देखने-जानने को जैन द्रष्टाओं ने सम्यक् दर्शन कहा है। मतलब यह हुआ कि चीजों के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण ही सम्यक् दर्शन है। जैनी मानता है कि वस्तुओं या व्यक्तियो को देखकर, या उनसे सम्बन्धित हो कर जो रागात्मक भाव हमारे मन मे उदय होता है, उसी मे चीजो का मूल्य नही आकना चाहिए। वस्तुओं पर अपने भाव या राग को आरोपित करके उन्हे न देखो। वे यथार्थ मे, अपने आप मे जैसी है, वैसी ही उन्हे वीतराग भाव मे देखो। चीजो पर अपने को लादो नही। तुम स्वय अपने मे रहो, चीजो को स्वयं अपने मे रहनो दो। स्वयं अपने स्वभाव में रहो, चीजों को अपने स्वभाव मे रहने दो। इसी तरह उनसे सरोकार करो, इसी तरह उनसे बर्ताव करो। हमारा दृष्टिकोण चीजो के प्रति वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' हो, आत्म-लक्ष्यी या 'सब्जेक्टिव' न हो। इस प्रकार हमने यह देखा कि आज के युग की एक और सबसे बडी विशेषता वस्तु-लक्ष्यी या 'आब्जेक्टिव' दृष्टिकोण है और वही जैन तत्वज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। आधुनिक बुद्धिवाद और विज्ञान इसी दृष्टिकोण के ज्वलन्त परिणाम है।

जैन तत्वज्ञान को सावधानीपूर्वक समझने पर पता चलता है कि उसमें जीवन-जगत् का इनकार नहीं, बल्कि महज स्वीकार है। जीवन-जगत् जैनी के लिए एक ठोस वास्तविकता है, और उसमे जीने वाले मनुष्य या प्राणी की आत्मा भी एक ठोस वास्तविकता है। सो उनके बीच का सम्बन्ध भी एक ठोस वास्तविकता है। इस वास्तविकता को सही-सही देख कर, सही-सही जानना होगा, यानी जैन शब्दों मे कहे तो हमें जगत् का सम्यक् दर्शन करते हुए उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना होगा। वस्तुओं और व्यक्तियो का सही दर्शन और सही ज्ञान होने पर ही, उनके साथ का हमारा सम्बन्ध-व्यवहार, सलूक-सरोकार सही हो सकता है। इस सही सम्बन्ध-व्यवहार को ही जैन तत्वज्ञो ने सम्यक् चारित्र्य कहा है।

जैन धर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति है। यह मुक्ति कैसे पायी जा सकती है? तत्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति के शब्दों मे, "सम्यक्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग"। जीवन-जगत्, वस्तु-व्यक्ति को सही देखना, सही जानना, और तदनुसार उनके साथ सही व्यवहार करना— यही मोक्षमार्ग है, यानी विश्व के साथ व्यक्ति आत्मा का सम्बन्ध जब अन्तिम रूप मे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रयमय हो जाता है, तो अनायास ही आत्मा की मुक्ति घटित हो जाती है।

चीजों और व्यक्तियो के साथ जब हमारा सम्बन्ध वस्तु लक्ष्यी और वीतरागी न होकर, आत्मलक्ष्यी और सरागी होता है, तो वह रागात्मक तीव्रता विश्व मे सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्म भौतिक पुद्गल-परमाणुओ को आकृष्ट करके, हमारी चेतना को उनके पाश मे बाध देती है। इसी को कर्म-बन्धन कहते है, यानी राग और उसकी परिणति द्वेष, इन दोनो के आत्मा मे घटित होने पर वस्तुओ के साथ आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध भग हो जाता है, और उनके बीच कर्मावरण की ओट खडी हो जाती है। जगत् के साथ जब मनुष्य का सम्बन्ध विशुद्ध वस्तु-लक्ष्यी यानी "आब्जेक्टिव" या वीतरागी हो जाता है, इसी को जैन द्रष्टाओ ने मोक्ष कहा है।

आत्मा के इस तरह मुक्त होने पर, उसके भीतर का जो मूलगत पूर्ण ज्ञान है, अर्थात् सर्व का सर्वकाल मे सपूर्ण जानने की जो क्षमता या शक्ति है, वह प्रकट हो जाती है। इसी को केवल ज्ञान कहते है, अर्थात् एकमेव शुद्ध, अखड प्रत्यक्ष ज्ञान। केवलज्ञान होने पर लोक के साथ मनुष्य का एक अमर, अबोध, अविनाशी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन को गहराई से समझने पर पता चलता है कि वह जगत्-जीवन से मनुष्य का तोडने या अलग करने वाला धर्म नही है बल्कि जगत् के साथ जीव का सच्चा और स्थायी नाता स्थापित करने की शिक्षा ही जैनधर्म देता है।

× × ×

महावीर के १००० वर्ष बाद जिनवाणी के ग्रन्थ-बद्ध होने पर उसमे जो जैन धर्म का उपदेश मिलता है, उसमें प्रकटत: कठोर संयम, वैराग्य और तप की प्रधानता है। ऐसा स्पष्ट लगता है, कि जैनधर्म जीवन का विरोधी है, और उसका मोक्ष जगत से पलायन है। इस प्रतिवाद को नकारा नही जा सकता।

यह भी स्पष्ट है कि स्वय महावीर दीर्घ तपस्वी थे, और उन्होने निदारुण तपस्या का जीवन बिताया था। पर वे तो तीर्थकर यानी युगतीर्थ के प्रवर्तक और परित्राता होकर जन्मे थे। इसी कारण चरम तपस्या के द्वारा त्रिलोक और त्रिकाल के कण-कण और जन-जन के साथ तादात्म्य स्थापित करना उनके लिए अनिवार्य था। वे स्वय ऐसी मृत्युजयी तपस्या करके, औरो के लिए, अपने युगतीर्थ के प्राणियो के लिए, मुक्ति-मार्ग को सुगम बना गये है और सबको अमरत्व प्राप्ति का सहज ज्ञान-मन्त्र दे गये है।

लेकिन वस्तुत उत्तरकालीन जिन-शासन मे जो अति निवृत्तिवाद का बोलबाला रहा, वह वैदिक धर्म के अति प्रवृत्तिवाद और भ्रष्टाचारी कर्म-काण्डो की प्रतिक्रिया के रूप मे ही घटित हुआ है। फलतः वैराग्य, तप और जीवन-विमुखता पर बेहद जोर दिया गया है। नतीजा यह हुआ कि अल्पज्ञ साधारण जैन श्रावक और श्रमण इस तप-संयम के बाह्याचार को ही सब कुछ मान कर उसी मे चिपट गये। इस प्रवृत्ति के कारण जैन द्रष्टाओ की असली, मौलिक विश्व-दृष्टि लुप्त हो गयी।

यह दृष्टि हमे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के दृष्टि-प्रधान ग्रन्थ 'समयसार' मे यथार्थ रूप मे उपलब्ध होती है। यह कहना शायद अत्युक्ति न होगी कि महावीर के बाद भगवान् कुन्दकुन्ददेव ही जिन-शासन के मूर्धन्य और मौलिक प्रवक्ता हुए है। उनकी वाणी मे आत्मानुभूति का रूपान्तरकारी रसायन प्रकट हुआ है। उन्होने 'समयसार' मे स्पष्ट सिखाया है कि वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। तुम अपने स्वभाव मे रहो, वस्तु को अपने स्वभाव में रहने दो। अपने स्वभाव को ठीक-ठीक जानो और उसी मे सदा अवस्थित रहकर सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान पूर्वक इस जगत् जीवन का उपयोग करो, यानी भोग का इनकार उनके यहा कतई नही है। मगर सम्यक्दृष्टि और सम्यक्ज्ञानी होकर भोगो। तब तुम्हारा भोग बन्धन और कष्ट का कारण न होगा, बल्कि मोक्षदायक और आनन्द-

दायक होगा।

जो चीजों का सम्यक्दर्शी और सम्यक्ज्ञानी है, वही उनका सच्चा, सम्पूर्ण या निर्बाध भोक्ता हो सकता है। ऐसा भोग क्षणिक और खंडित नहीं होता। वह नित्य और अखण्ड भोग होता है। उसमें वियोग नहीं, पूर्ण योग है, पूर्ण मिलन है। उसमें कभी कुछ खोता नहीं, सब सदा को पा लिया जाता है, सबके साथ हम सदा योग और भोग मे एक साथ रहते हैं। जो चीजों का मिथ्यादर्शी और मिथ्याज्ञानी है, वह उनका सच्चा और पूर्ण भोक्ता नहीं हो सकता। ज्ञानी वस्तुओं का स्वामी होकर उन्हें भोगता है। अज्ञानी उनका दास हो कर उन्हें भोगता है। स्वामी का भोग मुक्तिदायक और आनन्ददायक होता है, दास का भोग बन्धनकारक और कष्टदायक होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनधर्म जीवन-जगत् के भोग का विरोधी नहीं। वह केवल सच्चे और अखण्ड भोग की कला सिखाता है। आज का मनुष्य ऐसे अखण्ड और नित्य भोग के लिए ही तो छटपटा रहा है। अति-मोहवादी पश्चिमी जगत् अब क्षणिक और खण्ड भोग से ऊब गया है, थक गया है, विरक्त तक हो गया है। वह भोग छोड़ने को तैयार नहीं, मगर उसे अचूक और पूर्ण तृप्तिदायक, नित-नव्य भोग की तलाश है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' में उसी सच्चे, सार्थक और पूर्ण तृप्तिदायक भोग की शिक्षा दी है। आज के भोग से ऊबे हुए, फिर भी परम भोग के अभिलाषी मनुष्य के लिए 'समयसार' एक चिन्तामणि जीवन-कुंजी है।

पुरा पूर्वकाल मे राजर्षि भरत चक्रवर्ती और जनक ऐसे ही परम भोक्ता योगीश्वर हुए है। वे जगत् के विषयानन्द में भी वेहिचक उन्मुक्त तैरते हुए पूर्ण आत्मानन्द मे मगन रहते थे। जैनधर्म में ही नहीं, प्रथमतः और अन्ततः पूरे भारतीय प्राक्तन् धर्म ने यही शिक्षा दी है। बीच के ऐतिहासिक चक्रावर्त्तनों के कारण जो अतिवादी और प्रतिक्रियाग्रस्त वैराग्यवाद का प्रभुत्व हुआ है, उसमे भारतीय धर्म का मर्म ही लुप्त हो गया। आज के भारतीय जैन योगियों, चिन्तकों और मनीषियों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हमारे धर्म के मर्म की सच्ची पहचान वे आज के जगत् के समक्ष प्रकट करें और इस युग की भटकी हुई विपथगामी मानवता को सही दिशा-दर्शन प्रदान करें।

\+ \+ \+

महावीर ने कहा है कि वस्तु मात्र अनेकान्तिक है, यानी उसमें अनन्त गुण, धर्म, पर्याय एक साथ विद्यमान है। इसलिए वस्तु के अलग-अलग पहलुओं को अनेकान्तिक दृष्टि से देखना चाहिए। वस्तु प्रतिक्षण गतिमान, प्रगतिमान और परिणमनशील है। उसमें प्रतिपल नये रूप, भाव और परिणाम पैदा हो रहे हैं। इसलिए कभी भी वस्तु के बारे में अन्तिम कथन नहीं करना चाहिए। अपेक्षा के साथ ही, वस्तु के एक गुण, धर्म, भाव-रूप विशेष का कथन करना चाहिए। वस्तु अनेकान्तिक है, तो उसका सच्चा दर्शन-ज्ञान भी एकान्तिक नहीं, अनेकान्तिक ही हो सकता है। इस तरह हम देखते है कि अनेकान्त दृष्टि ही जैनधर्म की आधारभूत चट्टान है।

आज का मनुष्य भी किसी अन्तिम कथन या अन्तिम धर्मादेश का कायल नहीं। वह हर तरह की धार्मिक कट्टरवादिता से नफरत करता है। वह 'डायनेमिक' यानी गतिशील है, और जीवन-जगत के गति-प्रगतिशील दृष्टिकोण को ही पसन्द करता है। जैनधर्म का अनेकान्त आधुनिक मानव-चेतना के उस 'डायनेमिज्म' यानी गत्यात्मकता का सर्वोपरि दिग्दर्शक और समर्थक है।

अनेकान्तिक वस्तु-स्वभाव का सही दर्शन-ज्ञान पाकर, वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ सही सम्बन्ध में जीवन जीने की कला सिखाने के लिए ही जैन द्रष्टाओं ने सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के आचार धर्म का विधान किया है: सत्य यानी यह कि हम चीजों को सत्य देखें, जानें और सत्य ही कहें, अहिंसा यानी यह कि हर चीज को अस्तित्व में निर्बाध और सुरक्षित रहने का अधिकार है। हम परस्पर एक दूसरे को बाधा या हानि न पहुँचायें। हम खुद जिस तरह सुख-शान्ति से जीना चाहते है उसी तरह औरों को भी सुख-शान्ति से जीने दें, यानी सह-अस्तित्व जीवन की शर्त है। अचौर्य यानी यह कि सब वस्तुओं पर सबका समान अधिकार है और वस्तु-मात्र अपने आप में स्वतन्त्र है। परस्पर एक दूसरे के कल्याणार्थ हम वस्तुओं पर व्यक्तियों के साथ विनियोग-

व्यवहार करें। वस्तु-सम्पदा पर अधिकार करना ही चोरी है। जीवन-जगत् की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, कि वस्तुमात्र सर्वकी सम्पत्ति रहे और आवश्यकतानुसार सबको सब कुछ प्राप्त हो। सम्पत्तिवाद, पूंजीवाद, अधिनायकवाद आदि आज की सारी व्यवस्थाएं चोरी पर टिकी हुई है। अचौर्य की व्यवस्था लाने के लिए ही आज की सारी प्रजाएं समाजवाद की पुकार उठा रही है। जैनधर्म के सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त मे आगामी सच्चे और स्थायी समाजवाद की कुजी छिपी है।

अपरिग्रह का अर्थ है कि मोह-मूर्च्छा मे पडकर, वस्तुओं और व्यक्तियो पर अधिकार न जमाया जाए। मनुष्य, मनुष्य और वस्तुओं के स्वभावगत स्वतन्त्र परिणमन को पहचाने और स्वय भी स्वतन्त्र रहे तथा औरो की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। परिग्रह यानी प्रमादवश चीजो के अधीन होना और उन्हे अपने अधीन रखना। यह बन्धक और कष्टदायक है। परिग्रही-वृत्ति से ही सम्पत्तिवाद, पूंजीवाद, सत्तावाद जन्मे है। परिग्रह को ही जिनेश्वरो ने बहुत बडा पाप कहा है। जिनेश्वरो के धर्म-शासन मे पूंजीवाद और अधिनायकवाद को स्थान नही। स्वतन्त्र मानववाद और सर्वकल्याणकारी समाजवाद ही जिनेश्वरो के अनुसार सच्ची और मोक्षदायक जीवन-व्यवस्था हो सकती है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी आत्मा मे ही निरन्तर रमण करने और भोग करने की स्वाधीन सत्ता प्राप्त कर लेना। नर-नारी के यौन-भोग और काम-भोग तन, मन, प्राण, इन्द्रियो के स्तर पर सर्वथा स्वाभाविक है और उचित है पर आत्मा परम स्वतन्त्र है। बाहर के भोग-रमण मे रहते हुए भी, वह अपनी तृप्ति के लिए, उनकी गुलाम नही। हर नर-नारी के भीतर नर और नारी दोनों है। अपने ही भीतर बैठे रमण या रमणी को पहचान कर पा लेने पर, बाहर रमण करते हुए भी, हम एक-दूसरे के गुलाम या बन्धन हो कर न रहे। अपने-अपने आत्म मे स्वतन्त्र, निर्मोह, अबाध विचरे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य वीतरागी, आत्मरसलीन, पूर्ण भोक्ता होने की परम रमवन्ती कला सिखाता है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि जैनों का पंच अणुव्रती या महाव्रती आचार-मार्ग जीवन से पलायन करने या उसका विरोध करने की शिक्षा नही देता। वह जीवन-जगत् के पूर्ण भोक्ता और स्वाधीन स्वामी होने की पराविद्या हमे सिखाता है। क्या आज का मनुष्य, ऐसी ही किसी परा-विद्या की खोज मे नही भटक रहा है? ये पथ-भ्रष्ट दीखने वाले, स्वैराचारी, स्वच्छन्दविहारी 'हिप्पी' वैभव और सुरक्षा की गोद को ठुकरा कर उसी पराविद्या की खोज मे निकल पड़े है। वे अधेरे मे भटक रहे है बेशक, मगर सच पूछो तो वे अनजाने ही परम लक्ष्य से चालित है, यानी वे मनुष्य की असली स्वतन्त्रता के अभिलाषी है। जैनधर्म के अनुसार, वे स्वभावत. अपनी मंजिल पर पहुंचेगे ही, क्योंकि मंजिल आखिर तो अपनी आत्मा ही है और अपनी आत्मा से बिछुड कर आदमी कब तक भटकता रह सकता है? आखिर पराकाष्ठा तक भटक कर, वह अपने घर लौटेगा ही। इसी कारण जिनेश्वरो ने पाप को हौआ नही बनाया है। पाप के भय को उन्होने मूल मे ही काट दिया है, यानी आत्मा पाप कर ही नही सकता, वह उसका स्वभाव नही। पाप है केवल अज्ञान। सही ज्ञान हो जाने पर आदमी अपने आप ही सही आचरण करता है। तब वह अनायास ही पाप से ऊपर उठकर, आत्मा का सज्ञान, निष्पाप जीवन जीता है।

+ + +

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म का ज्ञानमार्ग भी विश्लेषण-प्रधान है। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि ससार के सभी जीवित धर्मों मे जैनधर्म ही सबसे अधिक वैज्ञानिक है। उसका जीव-शास्त्र और कर्म-शास्त्र इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इतना अधिक वैज्ञानिक और तार्किक है जैनधर्म, कि मनुष्य की भाव-चेतना को तृप्त करने मे समर्थ नही हो पाता। अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वरीय शक्ति को अस्वीकृत करके जैनधर्म ने भक्तिभाव के आधार को ही खत्म कर दिया है। पर अपनी इस अतिवैज्ञानिकता और बुद्धिवादिता के कारण ही, वह आज के विज्ञानवेत्ता मनुष्य के बहुत अनुकूल है।

विज्ञान की तरह ही जैनधर्म मनुष्य को स्वतन्त्रता

देता है कि वह किसी पूर्व मान्यता और अन्धश्रद्धा से विश्व-तत्व का निर्णय न करे। अपने स्वतन्त्र तार्किक अन्वेषण और वस्तु के अणु-प्रति-अणु तार्किक विश्लेषण द्वारा ही विश्व-तत्व की जाच-पड़ताल करे और उसका स्वतन्त्र ज्ञानात्मक साक्षात्कार करे। यह ध्यातव्य है कि हजारों वर्षों पूर्व जैन द्रष्टाओ ने जगत-जीवन का जो अन्तर्वैज्ञानिक साक्षात्कार किया था, वह क्रमश. आज की वैज्ञानिक खोजो द्वारा अचूक प्रमाणित होता जा रहा है। इस प्रकार जैनधर्म आज के मनुष्य को वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा ही आत्मिक आस्था और अनुभूति तक ले जाना चाहता है।

+ + +

पश्चिम के दार्शनिक जगत् मे आज अस्तित्ववाद का बोलबाला है, यानी अस्तित्व मे जो दीखता है, वही सत्य है। 'एग्जिस्टेन्स' मे हो कर 'ईसेंस' मे पहुँचना है। 'ईसेंस' को पूर्व मान्य करके 'एग्जिस्टेंस' का फैसला नही करना है। जैनो के यहा बारह अनुप्रेक्षाओ या भावनाओ द्वारा जो अस्तित्व और आत्मा का चिन्तन किया गया है, उसमे आज का अस्तित्ववाद सर्वांगीण अभिव्यक्ति पा जाता है। अनुप्रेक्षण बताता है कि मनुष्य की स्थिति यहा अनित्य, अशरण, एकाकी है। वह अकेला है। अन्तत. हम सब एक-दूसरे के लिए अन्य यानी पराये है। शरीर अन्तत विनाशी और ग्लानिजनक तत्वों से भरा है।

अत. आत्मा की मुक्ति के लिए आवश्यक है कि अनिष्ट बाहरी पुद्गल परमाणुओ को, हमारे अस्तित्व को कर्म-बन्धन मे बाधने से रोका जाए। अपने को समेट कर अपने सच्चे स्वरूप मे ही रहा जाए। इस प्रकार आत्म-सवरण द्वारा अपने मे स्वाधीन हो रहने पर पुराने बधे जड़कर्म के बन्धन स्वय टूट जाते है। तब हमारे पूर्ण ज्ञान मे लोक अपने सच्चे स्वरूप मे हमारे सामने प्रकट हो जाता है। उस स्थिति में मनुष्य एक मुक्त पुरुष होकर लोक का पूर्ण ज्ञानपूर्वक नित्य भोग करता है। यही मोक्ष है।

साराश मे, यही जैनो का अस्तित्ववाद है और संभवतः आज के अस्तित्ववादी दर्शन मे जहा भी गत्य-वरोध है, वहा जैन दृष्टि अगला सही मार्ग मुक्त कर सकती है। यह ध्यातव्य है कि कार्ल येस्पर्स आदि का आज का अतिक्रान्तिवादी अस्तित्ववाद (ट्रान्सेंडेंटल एक्जिस्टेशियलिज्म) जैन-दर्शन के बहुत निकट आ जाता है।

इस प्रकार, आप देखेगे कि आज के युग मे अस्तित्व-वाद आत्म-स्वातन्त्र्य-वाद. सर्व-स्वातन्त्र्य-वाद, स्वच्छन्दवाद, पूर्ण-भोगवाद, समाजवाद, गणतत्रवाद, परोक्षवाद, कला-वाद आदि की जो प्रमुख पुकारे मानव आत्मा मे ज्वलन्त है, उन सबका मौलिक समाधान जिनेश्वरो के धर्म-दर्शन मे समीचीन रूप से उपलब्ध है।

एकतन्त्रीय पूंजीवाद और अधिनायकवाद से दुनिया को उबार कर, एक सच्चे सर्वोदयी साम्यवाद और समाजवाद मे प्रतिष्ठित करने के लिए महावीर के धर्म-दर्शन को नये सिरे से समझना और पहचानना जरूरी है।

जैनो के अनुसार तो महावीर ही हमारे युग के तीर्थंकर है, यानी हमारे वर्तमान युग-तीर्थ की मागलिक परिचालना का धर्म-चक्र उन्ही भगवान की उँगली पर घूम रहा है। एक बार एकाग्र होकर हम उस धर्म-चक्र का दर्शन करे तो शायद हमारे युग की चाल ही बदल जाये। समग्र क्रान्ति और किसे कहते हैं ?

—वीर-निर्वाण-विचार-सेवा, इन्दौर के सौजन्य से।

गोविन्द निवास, सरोजनी रोड
विले पारले (पश्चिम), बम्बई -५६

(पृ० ११ का शेषाश)

महाकवि हस्तिमल्ल की सुभद्रा नाटिका मे भी आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना कई स्थलो पर की गई है। चार अको की इस नाटिका मे राजा नमि की भगिनी और कच्छराज के पुत्री सुभद्रा का तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत से विवाह की कथा है।[1]

सी-८, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स, दुर्गा नर्सरी रोड,
उदयपुर (राज०)

१. अजनापवनञ्जय और सुभद्रा नाटिका का सपादन वासुदेव पटवर्धन ने किया है। माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बबई से प्रकाशित ७ अको के अजनापवनञ्जय नाटक मे महेन्द्रपुर की कुमारी अञ्जना स्वयवर मे विद्याधर पवनञ्जय का वरण करती है। बाद मे अजना हनुमत् को जन्म देती है। कथा का आधार विमलसूरि का पउमचरिउ है।

# ज्ञान की पावन ज्योति बुझ गई है

□ श्री कुन्दन लाल जैन, दिल्ली

६ अक्तूबर १९७५ की वह मनहूस घड़ी थी जब ८ बजकर, ८ मिनट पर आकाशवाणी से उद्घोषित किया गया कि "डा. ए. एन. उपाध्ये का कोल्हापुर मे निधन हो गया है।" सुनते ही ऐसा अनुभव हुआ मानो किसी ने सिर पर हथौड़े जड़ दिए हो। चित्त बड़ा ही व्यथित हुआ। वे ज्ञान के भंडार थे। जितना गभीर और सूक्ष्म अध्ययन उन्होने किया था, वैसा दूसरा कोई व्यक्ति दिखाई नही देता है। उनकी शोधों से भारतीय विद्वान् ही नही, अपितु भारतीय विद्या के विदेशी विद्वान् भी बड़े प्रभावित थे। वे लोग उनकी लेखिनी का लोहा मानते थे। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् कार्लायल (Carlyle) को उद्धृत करते हुए लिखा था : "Blessed is he who has got his life's work, let him ask for no other blessedness." Dr. Upadhye asks for no other blessedness"

सन् १९०६ के फरवरी मास की छठी तिथि को बेलगाम जिले के सदलग ग्राम में एक नक्षत्र उदित हुआ था जो ६९ वर्ष ८ मास तक साहित्य और समाज को आलोकित करता हुआ ८ अक्तूबर, १९७५ को अस्त हो गया। वे जैन शोध के क्षेत्र मे ऐसे प्रखर सूर्य थे कि उनकी प्रचण्ड किरणें युग-युगो तक अनुसंधित्सुओं का पथ आलोकित करती रहेगी और शोध के क्षेत्र मे मार्ग दर्शक बनी रहेगी! डा. उपाध्ये का सर्वप्रथम दर्शन सन् १९४६ मे स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी के हॉल मे किया था, जब वे अपने परम सखा डा० हीरालाल जी के साथ छात्र सघ के आमंत्रण पर विद्यालय मे पधारे थे। उनकी विद्वत्ता की धाक समाज मे तब तक व्याप्त हो गई थी। विदिशा मथुरा आदि स्थानो पर भी उनसे समय-समय पर भेंट होती रही, पर सन् १९६० से तो उनके निकटतम सपर्क मे आने का सौभाग्य मिला और उन्ही की अनुकम्पा-वश शोध के क्षेत्र मे कुछ चञ्चु-प्रवेश कर पाया हूं।

सन् १९६० के अक्तूबर मास मे ओरिएटल कान्फ्रेंस का अधिवेशन काश्मीर (श्रीनगर) मे हुआ था जिसमे डा उपाध्ये और डा. हीरालाल जी सम्मिलित हुए थे। मैं भी घूमने के लिए काश्मीर गया था। पता चला कि डा उपाध्ये यहाँ है तो उनसे मिलने चला गया। बातचीत के दौरान उन्होने पूछा— केटलाग का काम करोगे ? मै इस दिशा मे सर्वथा शून्य था, फिर भी बिना कुछ जाने-समझे स्वीकृति दे दी। केवल यह समझ कर कि डा. उपाध्ये जैसे विद्वान् के वरदहस्त की छत्रछाया तो मिलेगी। अस्तु डा. सा. ने कहा कि फिर दिल्ली मे मिलना, वही चर्चा करेंगे। दिल्ली आकर दिल्ली के जैन भण्डारो मे स्थित पाडुलिपियो की विवरणात्मक सूची तैयार करने का सारा मसविदा तैयार हो गया और मैंने बा० पन्नालालजी अग्रवाल के सहयोग से यह पुनीत कार्य प्रारम्भ कर दिया। पर बीच मे अनेकानेक बाधाएँ आई जिनसे बार-बार विचलित हो कार्य छोड़ना चाहता था, किन्तु बा० छोटेलाल जी के समुचित परामर्श एव डा. उपाध्ये की पत्रो द्वारा प्रेरणा पा-पाकर इस रूक्ष और आँख-फोड़ू परन्तु ज्ञानवर्द्धक कार्य मे लगा रहा। आज जबकि उपर्युक्त सूची की प्रेस कापी प्रकाशन के लिए पड़ी-पड़ी सिसक रही है और डा. उपाध्ये नही रहे है, तो आँखो के आगे घनघोर अन्धकार छा जाता है। वे ज्ञान की पावन ज्योति थे जो स्वय तिल-तिल जलकर दूसरो को आलोकित किया करते थे। आज उनके अभाव मे मुझ जैसे हजारो शिष्य किंकर्तव्यविमूढ़ता का अनुभव करने लगे है। अब हमारा मार्गदर्शन कौन करेगा, शोध के क्षेत्र मे हमारी गुत्थियों को कौन सुलझावेगा ? उन जैसा सूक्ष्म अन्वेषक और अनुसधित्सु आज कोई जैन समाज मे है क्या ?

दूसरो के छोटे-छोटे गुणो को बढ़ावा देकर उन्हे शोध

के क्षेत्र मे लगाए रखना कोई उनसे सीखे। सन् १९६४ या ६५ मे वीर सेवा मन्दिर में उनके अभिनन्दन का आयोजन किया गया था, हाल मे लोग एकत्रित हो रहे थे। डा उपाध्ये ऊपर के कमरो मे ठहरे थे। मैं सूची के सम्बन्ध मे चर्चा हेतु उनके पास बैठा था, सूची के पारिश्रमिक के भुगतान की बात थी। डा. सा. ने कहा "This is just a clerical job; you should not expect much more"। बात चलती रही पर (Clerical) शब्द का प्रयोग उन्हें स्वय कुछ अच्छा न लगा। यद्यपि इसे मैंने कुछ भी महसूस न किया था फिर भी बातचीत के दौरान अनजाने ही उस (clerical) शब्द की पुनरावृत्ति दो तीन बार हो गई जिससे वे बड़े ही व्यथित और व्याकुल हो उठे और शायद अपनी भूल समझकर उन्होने स्वय ही तीन-चार चाँटे अपने ही गालों पर तड़ातड जड़ लिए। वहाँ हम दोनों के अतिरिक्त तीसरा कोई न था। मै अवाक् किंकर्त्तव्यविमूढ-सा जडवत् खड़ा रह गया। मुझे कुछ न सूझा और उनके चरण पकड़कर वही बैठ गया और बिलख-बिलख कर रोता रहा। मै आत्मग्लानि से गल रहा था और लज्जित था कि यह सब क्या हो गया था; उसे मेटा नही जा सकता था, मैं तब तक रोता रहा जब तक कि नीचे से बुलावा नही आ गया। बुलावा आते ही वे नीचे समारोह मे जाने लगे। साथ ही मेरी पीठ पर वत्सलतापूर्वक हाथ फेरते हुए मुझे भी उठाकर साथ नीचे समारोह मे ले गए। मैं बहुत ही बोझिल था, अपराधी जैसी दशा मे वहा बैठा रहा, पर वे स्थितप्रज्ञ की भांति पूर्ण शात और अवदात मन से अभिनन्दन समारोह मे सम्मिलित हुए सभी औपचारिकताओ के बाद जब उनका भाषण हुआ तो उसमे उन्होने मेरी और मेरे काम (भडारो की सूची) की भूरि-भूरि प्रशसा की और लोगो से इस कार्य मे पूरा-पूरा सहयोग देने का आग्रह एव अपील की। मै यह सब सुनकर बड़ा विस्मित था कि अभी-अभी ऊपर कमरे मे क्या हुआ था और अब यहा क्या हो रहा है? मेरा मन घुल गया था और उनके प्रति मेरा हृदय श्रद्धा से गद्गद् हो उठा था। इस रहस्य का मैं आज तक अपने मन मे बहुमूल्य निधि की भाँति सजोए रहा कि कही किसी को सुनाकर या कह कर हल्का न हो जाऊ। आज जब वे नहीं रहे तो लेखनी से लिपिबद्ध कर पश्चात्ताप कर रहा हूं। इस समय महाकवि भर्तृहरि की निम्न उक्ति उन पर अक्षरशः घटती है कि—

> परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
> निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ?

डा० उपाध्ये ने पिछले चार दशकों मे जैन साहित्य और समाज को जो कुछ दिया है, उसके लिए सारा ही देश चिर ऋणी रहेगा। वे पत्र का उत्तर अवश्य ही और तत्परता से दिया करते थे। उनके द्वारा हजारो पत्र विभिन्न सस्थाओ और व्यक्तियों को लिखे गये है जो जैन-साहित्य के विकास एव शोध के सम्बन्ध मे बड़े ही उपयोगी सिद्ध हो सकते है। मेरा अनुरोध है कि भारतीय ज्ञानपीठ, वीर सेवा मन्दिर या कोई अन्य सस्था या व्यक्ति इस पुण्य कार्य को अपने हाथ मे ले और सारे ही पत्र संकलित कर सुसम्पादित कराकर प्रकाशित कराए, मेरे पास लगभग १०० पत्र होगे जिन्हे देने को सहर्ष तैयार हू। डा. उपाध्ये ने लगभग बीस बृहत ग्रन्थो का सपादन कर उनकी विशद शोधपूर्ण ऐतिहासिक भूमिकाएँ लिखी है जिनका देश-विदेश मे समादर हुआ है, और वे सब अग्रेजी मे है। अत सामान्य भारतीय उनसे पूर्णतया अवगत नही है इसलिए उनका हिन्दी मे अनुवाद कराया जावे। साथ ही उनके लगभग १०० शोधपूर्ण फुटकर निबन्ध भी है जिनका हिन्दी अनुवाद अपेक्षित है। उनका अन्तिम निबन्ध "यापनीय सघ" से संबधित था जिसे उन्होने १७ जुलाई, १९७३ को पेरिस मे होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ओरिएटल काग्रेस मे पढ़ा था। उसका अनुवाद 'अनेकान्त' मे प्रकाशित हो गया है। अभी जुलाई १९७५ मे जब दिल्ली मे उनसे भेंट हुई थी तो उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि उनका लेखन हिन्दी वाले भी पढ़ें। मेरा उपर्युक्त सस्थाओ से अनुरोध है कि वे उनके लेखन को हिन्दी मे प्रस्तुत कराने का उत्तरदायित्व सभाले। मैं अपनी ओर से पूरा-पूरा सहयोग देने को वचनबद्ध हू।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने डा. उपाध्ये के विषय मे ऋग्वेद की निम्न ऋचा का उल्लेख किया है —

> सक्तुम इव तितौना पुनन्तो
> यत्रधीरामनसावाचम् अक्रत। (शेष पृ० २३ पर)

# भगवान महावीर तथा श्रमण संस्कृति

[ ] श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक भगवान महावीर का इस वर्ष २५००वां निर्वाण महोत्सव मनाया गया इसमे भारत सरकार का भी योगदान रहा। यह उचित ही है कि जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के २५००वें जन्म-दिवस पर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की थी, उसी भांति श्रमण संस्कृति के अग्रदूत महावीर और उनकी इस देश को देन पर भी विचार-विमर्श हुआ।

प्राचीन काल मे अनेक श्रमण परम्पराए थी। किन्तु उनकी धारा इतनी क्षीण रही कि धीरे-धीरे श्रमण शब्द केवल महावीर और बुद्ध के अनुयायियो तक ही सीमित हो गया। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि "प्राचीन काल मे गोव्रतिक, श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक आदि सैकड़ो प्रकार के श्रमणमार्गी आचार्य थे। उन्ही मे से एक निर्ग्रन्थ महावीर हुए और दूसरे बुद्ध। औरो की परम्परा लगभग नामशेष हो गई या ऐतिहासिक काल मे विशेष-रूप से परिवर्तित हो गई।"

भारतीय दर्शन के इतिहास से परिचित जन भली भांति जानते हैं कि महावीर की परम्परा बुद्ध से कही अधिक प्राचीन है।

**श्रमण शब्द**

महावीर की श्रमण परंपरा और उसकी प्राचीनता एव भारतीय सस्कृति मे उसके योगदान को समुचित रूप से समझने के लिए श्रमण शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को जान लेना उचित होगा। यह शब्द श्रम्धातु से बना है जिसके दो अर्थ होते है—श्रांत होना या थकना और तप करना (श्रम तपसि खेदे च)। अभिधानराजेंद्र नामक शब्दकोश मे श्रमण शब्द का अर्थ इस प्रकार समझाया गया है: "श्राम्यति संसारविषयेषु खिन्नो भवतीति वा तपस्यतीति वाश्रमण:"।

(जो सांसारिक विषयो मे खिन्न या उदासीन है अथवा तपस्या करता है)।

एक अन्य आचार्य ने कहा है—

परित्यज्य नृपो राज्य श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सबध तपो हि श्रम उच्यते॥

(राजा अपने राज्य को त्यागकर तथा तप से सबध जोडकर महान श्रमण बन जाते है क्योकि तप ही श्रम कहलाता है।)

महावीर अपना राज-पाट त्यागकर तप करने चल दिए थे, यह सर्वविदित है। बुद्ध भी चल दिए थे। इसी-लिए इनको मानने वाले तपस्वी श्रमण कहलाए।

लेकिन श्रमण का अर्थ प्राचीन काल मे दिगम्बर मुनि होता था। इसका प्रमाण वाल्मीकि रामायण की गोविन्द-राजीय टीका मे मिलता है, जहाँ स्पष्ट लिखा है. "श्रमणा दिगम्बारा. श्रमणा वातवसना इति निघंटु." के अनुसार श्रमण का अर्थ दिगम्बर (मुनि) और वायु ही जिसके वस्त्र है ऐसा होता है।

**प्राचीनता**

वातरशना शब्द श्रमण संस्कृति को कम-से-कम ऋग्वेद काल तक तो पुरातन सिद्ध करता ही है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे लिखा है · मुनयो वातरशनः (वायु ही जिनकी मेखला है ऐसे मुनि अर्थात् दिगम्बर साधु)।

प्रसिद्ध विद्वान् डा० हीरालाल जैन ने भागवत पुराण का उद्धरण इस प्रकार दिया है: "बर्हिणि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त-भगवान् परमर्षिभि प्रसादितो नाम प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरु देव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावतार (भा० पु० ५-३-२०), अर्थात् यज्ञ मे परम ऋषियो द्वारा प्रसन्न किए जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वय श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए इनके रनिवास मे महारानी मरु देवी के गर्भ मे आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण

ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।"

उक्त उद्धरण से भी प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ का संबंध श्रमण परंपरा से जुड़ जाता है। इनका भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है। इस प्रकार महावीर जिस श्रमण परंपरा के उन्नायक थे, वह अत्यंत प्राचीन है।

श्रमण, वातरशन के अतिरिक्त इस संस्कृति के साधकों को व्रात्य (व्रतों का पालन करने वाले—अब भी दिगंबर मुनि को पांच महाव्रतों का पालन करना होता है) क्षपणक, आदि से सम्बोधित किया जाता था। व्रात्य शब्द का उल्लेख तो वेदों में भी आया है। महावीर भी श्रमण मुनि कहलाते हैं। उन्हें ऋषि के रूप में कदाचित् ही संबोधित किया जाता है। हम अपनी भाषा में भी ऋषि-मुनि इन युगल शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि मुनि का अर्थ ही है जो मनन या चिंतन करे अथवा जाने। तप की साधना के द्वारा ही वह ऐसा कर सकता है। जो पूरी तरह जान लेता है वह संपूर्ण ज्ञानी अथवा केवलज्ञानी हो जाता है। तब उस श्रमण को तीर्थंकर कहा जाता है। महावीर इसी प्रकार के श्रमण थे।

मेगस्थनीज ने अपने यात्रा विवरण में दो सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। वे हैं—सरमनाई (श्रमण) तथा ब्राचमनाई (ब्राह्मण)। ह्वेनसांग ने भी श्रमणेरस् का जिक्र किया है।

कबीर ने श्रमण साधुओं का उल्लेख शेवड़ा (श्वेतवस्त्र धारी साधु के के रूप में) किया है। जायसी ने स्पष्ट ही दिगम्बर शब्द अपने सिंहलद्वीप वर्णन में प्रयुक्त किया है।

उक्त उद्धरणों और विवेचन का सार यह है कि दिगम्बर श्रमण परंपरा ऋग्वेद से लेकर आज तक सतत प्रवहमान रही है। इसके विपरीत बौद्ध परंपरा अन्य अनेक प्राचीन परंपराओं की भांति लुप्तप्राय हो गई। शायद इसका कारण यह रहा हो कि महावीर की परंपरा के श्रमणों ने तपस्या कर आत्मकल्याण के लक्ष्य को नहीं भुलाया। वे अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भारत के ही अन्दर या बाहर घूमते नहीं फिरे। भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक में उनका बड़ा सुंदर वर्णन किया है "एकाकी निस्पृह. शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बर."(अर्थात् ये लोग एकाकी जीवन बिताते हैं, किसी से कुछ लेना-देना नहीं रखते, शांतचित्त होते हैं और हाथ में भोजन करते हैं)। आज भी दिगम्बर साधु किसी पात्र में भोजन ग्रहण न कर हस्तसपुट में ही भोजन लेते हैं और दिगम्बर होते हैं।

**प्रमुख विशेषतायें एवं उपलब्धियां**

श्रमण संस्कृति की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां इस प्रकार हैं।

**अहिंसा**—न केवल महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने अपितु महात्मा बुद्ध ने भी अहिंसा का उपदेश दिया था। महावीर द्वारा पोषित श्रमण संस्कृति में जितना सूक्ष्म विश्लेषण और पालन अहिंसा का हुआ है उतना शायद अन्य किसी संस्कृति में नहीं हुआ। उसने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया। जिओ और जीने दो का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने यह जरूर कहा कि मन, वचन और कार्य इन तीनों में से किसी प्रकार से भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। किसी का बुरा सोच लेने मात्र से ही व्यक्ति हिंसा का भागी हो जाता है।

एक प्रश्न प्रायः किया जाता है कि क्या महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा का पूरी तरह पालन संभव है। महावीर ने इसका अत्यंत व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है कि राजा, किसान तथा साधारण गृहस्थ हिंसा से पूरी तरह बच नहीं सकते। युद्ध होगा तो राजा को अन्यायी का मुकाबला करना ही होगा। किसान हल चलायेगा तो कुछ जीव मरेंगे ही। गृहस्थ भी जब चलेगा तो कुछ प्राणि उसके पैरों तले कुचले जायेंगे। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने अणुव्रतों का विधान किया है। ऐसे लोग यह प्रतिज्ञा लें कि वे स्वयं किसी प्रकार की हिंसा जानबूझकर (जैसे अपने आहार के लिए किसी प्राणी का वध करना, आदि) नहीं करेंगे। यज्ञों के लिए भी उन्होंने हिंसा का विरोध किया था। फलतः यज्ञों में हिंसा लगभग बंद ही हो गई। श्रमण संस्कृति के साधु के लिए उन्होंने सब प्रकार की हिंसा वर्जित की है। इसे उन्होंने महाव्रत की संज्ञा दी। श्रमण साधु हिंसा का उत्तर हिंसा से कभी नहीं देगा। यह साधुपद भी कठिन अभ्यास के बाद किसी को प्राप्त हो सकता है।

अहिंसा का एक दार्शनिक आधार भी है जो कि कर्म सिद्धांत से स्पष्ट हो जाता है

**कर्मवाद**—श्रमण संस्कृति की यह मान्यता है कि यह मान्यता यह ससार अनादि है। इसका कोई कर्त्ता नही है। इसमे जो अनंत प्राणी है, वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों मे भ्रमण कर रहे है। इस प्रकार जीव कर्त्ता है। वह अच्छा-बुरा जो भी करता है उसका फल भोगता है। यदि वह अपनी मुक्ति के उपयुक्त कर्म नही करता तो अच्छी-बुरी योनियो मे घूमता रहता है। जब वह अच्छे कर्म कर केवल आत्म-कल्याण मे अपना ध्यान लगाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है। कहा भी है –

स्वय कर्म करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्माद् विमुच्यते॥

मुक्त हो जाने पर वह दूसरो के लिए केवल आदर्श रूप होता है। वह दूसरो को न कोई वरदान देता है और न कोई दण्ड।

उक्त सिद्धात का सार यह हुआ कि श्रमण सस्कृति की यह मान्यता है कि ससार के समस्त प्राणियो को जीने और अपना विकास करने का पूरा अधिकार है उन्हे चूंकि अपने प्रयत्नो से आत्मा से परमात्मा बनना है, अत उनका कर्त्तव्य है कि वे न केवल एक दूसरे की रक्षा करें और इस प्रकार एक-दूसरे को अपनी आध्यात्मिक उन्नति का अवसर दें, बल्कि एक-दूसरे से सहयोग करें।

सामाजिक क्षेत्र मे उक्त सिद्धात का यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी जन्म से ऊँच-नीच नही होता। अपने कर्मों के कारण मनुष्य ऊची-नीची स्थिति को प्राप्त होता है। इसीलिए श्रमण सस्कृति अस्पृश्यता को नही मानती।

**विश्व मैत्री**—समस्त प्राणियो की अहिंसा के कारण श्रमण सस्कृति विश्वमैत्री की प्रबल समर्थक है क्योकि इसी मे सबका हित है।

**पुनर्जन्म मे विश्वास**—जीव जब तक कुकर्म करता रहेगा तब तक उसे अपने कर्मों के अनुसार जन्म लेते रहना पड़ेगा। इस प्रकार जब तक कर्मो की शृखला से वह छूट नही जाता तब तक उसका जन्म होता रहेगा—यह श्रमण संस्कृति का एक मूल सिद्धात है।

**अनेकांतवाद**—दर्शन के क्षेत्र मे श्रमण सस्कृति की महत्वपूर्ण उपलब्धि अनेकातवाद है। उसके अनुसार वस्तु मे अनेक अश या गुण होते है। किसी एक ही अश पर जोर देने से सारे बखेड़े होते है। साधक को एकागी दृष्टिकोण से बचना चाहिए। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति एक ही समय मे पिता, मामा, नाना, पति आदि हो सकता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु मे विभिन्न दृष्टिकोणो से विभिन्न प्रकार की विशेषताए एक ही समय मे सभव हो सकती है। आधुनिक भाषा मे यही सापेक्षवाद है। इस प्रकार, इस सिद्धात द्वारा किसी भी पदार्थ के अनेको धर्मो या गुणो का सामजस्य ऊपरी तौर पर विरोधी दिखाई देने पर भी किया जा सकता है। मुनि विद्यानद जी ने इस सिद्धात को बडी सरल भाषा म इस प्रकार समझाया है "जब हम कहते है कि आत्मा नित्य है तब हमारा दृष्टिकोण भौतिक आत्मा—द्रव्य पर होता है, क्योकि आत्मा भौतिक द्रव्य है, अत वह न तो अस्त्र-शस्त्रो से छिन्न-भिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। वह अनादि काल से अनन्त काल तक बना रहता है। परन्तु जब हम सासारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव-दशा) का विचार करते है तो आत्मा अनित्य सिद्ध होती है क्योकि आत्मा कभी मनुष्य-भव मे होती है, कभी मर कर पशु-पक्षी आदि हो जाती है। इस तरह एक ही आत्मा मे नित्यता भी है और अनित्यता भी। पृ० ८३, तीर्थंकर वर्धमान)

तर्कशास्त्र के क्षेत्र म अनेकातवाद का रूपातर **स्यादवाद है**। यह श्रमण सस्कृति का प्रमुख सिद्धात है। इसके अनुसार, किसी पदार्थ का कथन सात प्रकार से किया जा सकता है। विस्तार मे न जाकर इस तर्क के कुछ सोपान है : वस्तु है, वस्तु नही है, वस्तु का कथन सभव नही है, इत्यादि। उदाहरण के लिए, हिमालय उत्तर मे है, हिमालय उत्तर मे नही है (जब हम चीन के भूगोल को ध्यान मे रखे तब)। इसी प्रकार, यह कहा जा सकता है कि हिमालय का ठीक-ठीक वर्णन सभव नही है (अवक्तव्य)। यह बात भूतत्व की दृष्टि से विचार करने पर कही जा सकती है। स्यादवाद मे जो 'स्यात्' लगा है उसका अर्थ कुछ लोग शायद करते है और उसे सशयवाद बताते है

किन्तु उसका सही अर्थ डा० हीरालाल जैन के शब्दो में इस प्रकार है : "व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार स्यात् अस् धातु का विधिलिंग अन्यपुरुष एक बचन का रूप है जिसका अर्थ होता है ऐसा हो, एक सभावना यह भी है।" वास्तव में, स्याद्वाद सशयवाद नही अपितु समन्वयवाद है।

उक्त दोनो वादो का एक सुपरिणाम श्रमण सस्कृति की सहिष्णुता और उदारता के रूप मे हुआ है। श्रमण मत के अनुयायी राजाओ ने अन्य मतावलम्बियो के साथ अन्याय नही किया। श्रमण गृहस्थो ने सांप्रदायिक उत्पात नहीं किए। वे सदा समदृष्टि बने रहे। वास्तविक श्रमण या मुनि तो सहिष्णुता के अन्यतम उदाहरण होते रहे है। उनके अचेलकत्व (दिगबरत्व) आदि के कारण उन पर पत्थरों आदि की वर्षा भी यदि की गई, तो उन्होंने शांतिपूर्वक उसे झेला। कुछ ने तो अपने प्राण भी दे दिए किंतु हिंसा का उत्तर हिंसा से नही दिया। यह श्रमण की पराकाष्ठा है।

सहिष्णुता के एक ज्वलत उदाहरण के रूप मे कवि आनंदघन (श्वेतांबर जैन संप्रदाय के एक महात्मा) की एक रचना दृष्टव्य है—

राम कहो रहमान कहो कोऊ कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
निज पद रमे राम सो कहिए रहम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिए महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
वह विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥

आर्थिक क्षेत्र मे, श्रमण सस्कृति की देन **अपरिग्रहवाद** का सिद्धात है। इसका सरल अर्थ यह है कि व्यक्ति को लोभ नहीं करना चाहिए और उसके पास इतना स्वय हो जितना अत्यत आवश्यक हो। राजा और गृहस्थ आदि की स्थिति के अनुसार इसका परिणाम भिन्न होगा ही। इन लोगो के लिए दान की मुख्य व्यवस्था श्रमण सस्कृति मे है। कम्युनिज्म भी ऐसी स्थिति की कल्पना करता है जब मनुष्य केवल अपनी आवश्यकता मात्र को ही अपना लक्ष्य बनाएगा और ऐसे समाज मे राज्य की भी आवश्यकता नही रहेगी। आखिर आवश्यकता से अधिक सग्रह की प्रवृत्ति हो तो चोरी, हिंसा, असहिष्णुता, युद्ध (देशों के बीच बाजार पाने की लड़ाई) आदि के लिए उत्तरदायी है। जो तपस्वी श्रमण होते है उनके पास तो कुछ भी नहीं होता। एक लगोटी भी नही होती। कठिन-से-कठिन शीत मे भी वे पुआल पर तनिक सो लेते है। शेष समय आत्मध्यान मे लगाते है। हा उनके पास दो वस्तुएं होती है—कमण्डलु और मोर के पखो से बनी पिच्छि जिसके लिए मोर को सताना नही पडता। उसके पंख यू ही पड़े मिल जाते है। इस प्रकार श्रमण अपरिग्रहवाद का सिद्धात एक स्वैच्छिक समाजवाद का सिद्धात सिद्ध होता है।

यह तो सर्वविदित है कि श्रमण सस्कृति का सर्वाधिक स्पष्ट लक्षण तप है। यह तप कितना कठिन होता है यह किसी से छिपा नही है। अचेलकत्व या दिगम्बरत्व एक अत्यत ही कठिन साधना है। विरले ही उसे साध या निभा सकने की सामर्थ्य रखते है। वास्तव मे वह योग साधन है। हर देश, काल और ऋतु मे उस पर दृढ रहना एक महासाधना ही तो है। उस तक पहुचने के लिए श्रमण सस्कृति म प्रतिमाओ (सीढियो) का विधान है। एकाएक कोई भी अचेलक नही हो जाता। ऐसे महायोगी अहिंसक श्रमण के समक्ष परस्पर वैरी भी अपना वैर-भाव भूल जाते है। महावीर की उपदेश सभा के बारे मे यह कहा जाता है कि उसमे शेर और गाय जैसे पशु भी निश्शक उपस्थित रहते थे। पतजलि के योगदर्शन मे कहा गया है— "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग।" (जो अहिंसक है, उसके समीप किसी की वैर-भावना नही रहती : मुनि विद्यानदजी द्वारा उक्त पुस्तक मे उद्धृत)। सक्षेप मे कहा जाए तो श्रमण सस्कृति निवृत्तिमार्गी है।

तप का आवश्यक अग चरित्र है। श्रमण सस्कृति मे उसकी ही प्रधानता है। उसमे बाह्य क्रिया-कर्म या कर्म-कांड के लिए स्थान नही है। उसमे आत्मसाधना पर ही अधिक बल है। चरित्र का पालन बिना सम्यक् ज्ञान के सभव नही। इस कारण श्रमण परपरा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य की त्रिवेणी को महत्व देती है। उसे मोक्ष का मार्ग कहा गया है। (सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणिमोक्षमार्गः)।

सृष्टि के विषय मे श्रमण सस्कृति की मान्यता है कि वह अनादि है। उसका कोई कर्त्ता नही है। यदि कोई कर्त्ता हो

ती उसके प्रयोजन और कुछ प्राणियों को सुख और कुछ को दुःख, आदि नाना शंकाएं उत्पन्न होती है और यह तथ्य उभरता है कि जीव सृष्टिकर्त्ता की अनुकम्पा पर ही सदा आश्रित रहेगा। किन्तु श्रमण संस्कृति हर आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार देती है। ऋग्वेद में भी कहा गया है—

को अद्या वेद क इह प्रवाचेत्।
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि : (१०-१२९-६)

(अर्थात् कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहा से उत्पन्न हुई, डा० हीरालाल जैन द्वारा उद्धृत)।

भाषा के क्षेत्र मे श्रमण संस्कृति को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने बोल-चाल की भाषाओं अथवा लोक भाषाओ को ही सदा अपनाया। महावीर ने अपने उपदेश अर्ध-मागधी मे दिए। अर्धमागधी प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत मे विपुल श्रमण साहित्य की रचना हुई, जो कि अब धीरे-धीरे प्रकाश मे आ रही है और विश्वविद्यालयों मे शोध-प्रबन्धों का विषय बन रही है।

**व्याकरण और कोश कला** के क्षेत्र में भी श्रमण पीछे नही रहे। जैनेन्द्रव्याकरण, शब्दानुशासन (शाकटायन), हेमचन्द्राचार्यकृत सिद्धहेमशब्दानुशासन, आदि प्राकृत कोश 'पाइयलच्छीनाममाला' और हेमचन्द्र की 'देशी नाम-माला' आज भी सैकडो हिंदी शब्दो की व्युत्पत्ति सिद्ध करने मे सहायक है।

वास्तुकला के क्षेत्र मे श्रमण सस्कृति के आज भी विद्यमान कुछ प्रमुख कीर्तिस्तभ इस प्रकार है– खजुराहो के जैन मदिर आबू के जैन मदिर, श्रवणबेलगोला (मैसूर के निकट), की गोम्मटेश्वर की ५७ फीट ऊंची एक हजार वर्ष प्राचीन एक ही शिला को काटकर बनाई गई प्रतिमा, खडवा के पास स्थित बडवानी नामक स्थान के पास बावनगजाजी के नाम से प्रसिद्ध ऋषभदेव की ८४ फीट ऊची प्रतिमा जो कि पहाड मे ही उत्कीर्ण की गई है, चित्तौड का कीर्तिस्तभ, बादामी (दक्षिणी भारत), खडगिरि, उदयगिरि (उडीसा) और ग्वालियर की गुफाए।

बी० १/३२४, जनकपुरी, नई दिल्ली-५८

---

(पृ० २० का शेषांश)

अत्र सखायः सख्यानि जानते।
भद्रैषां लक्ष्मीरनिहिताधिवाचि।

और साथ ही लिखा है कि : Dr. Upadhye is a past master in the art of critical editing. He combines in himself the learning oft he oriental pandit and the agues eyed critical faculty of the new scholar, with which he approaches his task. By a system of checks and counter-checks evolved for himself he is able to present a thoroughly reliable text of the old classics for which the Mss. material is sometimes scanty

Dr Upadhye has trained himself in the discipline of making tbe best use of his summer and winter vacations. He loads them with strenuous labour andextracts from them a beautiful harvest He seems to suckjoy from this hobby, which is but another name for स्वान्त सुखाय application, or what is more ancient terminology, was des'gnated as the निष्कारण धर्म prescribed for an entellectual.

डा० उपाध्ये के विषय मे देशी व विदेशी विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वह उनके सुसपादित ग्रन्थो मे पठनीय है।

अब से लगभग १३ वर्ष पूर्व 'सन्मति सदेश' मे डा. उपाध्ये का जीवन परिचय मैंने ही लिखा था। आज उन्हें अन्तिम श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हुए हृदय बड़ा गद्गद् और दुख मे अभिभूत है। मैं अपने अतरग की पीड़ा को शब्दों मे प्रकट नही कर पा रहा हू पर ज्ञान की जो पावन ज्योति बुझ गई है, उसे अन्तिम प्रणाम करता हुआ हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करता हू। हे महात्मन्! जहाँ भी रहे, सुख-शान्ति से ज्ञान के पथ को आलोकित करते रहे।

"शुभास्ते सन्तु पन्थान."

श्रुत कुटीर,
६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली

# मालवा के शाजापुर जिले की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएँ

☐ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

मालव प्रदेश जैन धर्म के विकास एव प्रसार का प्रमुख स्थल रहा है। यहाँ मौर्यवशीय शासक सप्रति ने जैन धर्म व सघ के चतुर्विध विकास मे अत्यधिक श्रम किया और अनेक श्रमणो को राज्याश्रय देकर जैन धर्म के उत्थान मे अपूर्व योगदान दिया। ७वी शताब्दी से लेकर पद्रहवी शताब्दी तक मालवा मे अनेक जैन मदिरो और तीर्थंकर-प्रतिमाओ का निर्माण हुआ। सपूर्ण मालव प्रदेश की तीर्थंकर-प्रतिमाओ का एक अपूर्व मूर्ति-सग्रहालय मालव-प्रान्तीय जैन-सभा ने उज्जैन के जयसिहपुरे मे स्थापित किया और विगत ४० वर्षो मे एकत्रित ५१० मूर्तियो का जैन सग्रहालय बनाया। यह मालवा की जैन-प्रतिमाओ के शोध का केन्द्र है और प्रतिवर्ष हजारो पर्यटको द्वारा देखा जाता है। यहाँ गुना, बदनावर, धार, ईसागढ, गोदलमऊ, मक्सी, आष्टा, सोनकच्छ, देवास, जवास, इदार, इदौख, झार्डा की जैन प्रतिमाएँ एकत्रित है। इनका केटलाग क्रमाकीकरण, आकार, मूर्ति-शिल्पगत विशेषताएँ, लक्षण, वाहन, तीर्थंकर-पहचान, निर्माणकाल और पादपीठ पर अभिलेख आदि का कार्य मैने उज्जैन के ही उत्साही प० सत्यधर कुमार सेठी के साथ मिलकर पिछले ७ वर्षो मे पूर्ण किया है। सपूर्ण भारत के जैन अवशेषो के आकलन मे इस सग्रहालय का अपना विशिष्ट स्थान है।

मालवा का शाजापुर जिला अपनी जैन पुरातात्विक सपदा मे अत्यन्त वैभव-सपन्न है। भगवान महावीर के २५००वे वर्ष के अवसर पर प० सत्यधर कुमार सेठी और मक्सी जैनतीर्थ के मत्री हुकुमचद जी झाझरी ने शाजापुर जिले के जैन अवशेषो के सर्वेक्षण की विस्तृत योजना बनाई और हमने इस दिशा मे सर्वेक्षण किया। इनमे जैन तीर्थ मक्सी, जामनेर, पचोर, सुन्दरसी, आष्टा, सखेडी, सारगपुर, शाजापुर, शुजालपुर आदि स्थानो पर जाकर जैन अवशेषो को खोजा। अनेक जैन अवशेष सर्वप्रथम प्रकाश मे आये। जैन मूर्तिकला का इनमे चरमोत्कर्ष तो है ही, परन्तु परमार-काल के मूर्तिशिल्प मे इनकी निर्मिति विशेष आकर्षक एव शोधात्मक है। यहा पर इन्ही अप्रकाशित जैन अवशेषो पर विचार किया जा रहा है।

मक्सी या श्री मक्सी जी जैन तीर्थ उज्जैन से ३० किलोमीटर उत्तर-पूर्व दिशा मे स्थित है। यहाँ पर विशाल जैन मदिर है। आगे का स्थापत्य मुगलकालीन है और बुर्जियाँ बनी हुई है। द्वार की मेहराबें मुस्लिम कला का नमूना पेश करती है। किवदती है कि मूर्तियो और मदिरो को ध्वस्त करता हुआ, महमूद खिलजी का सेनापति, जब इधर से गुजरने वाला था, तब यह जैन तीर्थ व मदिर बच जाय, इस विचार से रातो रात मस्जिद के प्रवेश द्वार की भाति स्थापत्य की निर्मित की गई और आक्रान्ता को दूर से ही दिखा दिया गया कि यह मस्जिद है। आज भी यह प्रवेश द्वार, बुर्जिया एव गुम्बद स्थित है और बाहर से देखने पर मस्जिद का ही भ्रम पैदा करता है।

श्री मक्सी जी जैन तीर्थ के रूप मे विख्यात है। १२वी-१३वी शताब्दी से ही यह अतिशय क्षेत्र के रूप मे प्रसिद्ध हो चुका था। यहाँ प्रतिवर्ष विशाल मेला लगता है। उज्जैन के सिधिया प्राच्य शोध-संस्थान (यहा २० हजार हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित है) से एक जैन हस्तलिखित

ग्रंथ "शीलरस रास" देखने मे आया है। इसके ग्रथकार श्री विजय कुशल ने स० १६६१ मे मक्सी तीर्थ मे इसे पूर्ण किया। इसकी एक प्रति को 'गुजरात ना जैन कवि', भाग २, पृ. ८८३ मे प्रकाशित किया गया है। उज्जैन की प्रति मे 'मगसी जी को स्तवन' अलग भाग है और इसमे 'मक्सी माहात्म्य' भी दिया गया है और इस स्थान को अतिशय क्षेत्र कहा गया है। निश्चय ही २०० वर्ष की परम्परा को इस हस्तलिखित ग्रन्थ मे लिपिबद्ध किया गया है। अतः १३-१४वी शताब्दी मे मक्सी एक जैन तीर्थ के रूप मे विख्यात था। यहाँ लगभग ५८ जैन मूर्तिया देखने मे आई (जिनमे से २७ पर अभिलेख है) जो १२वी से १६वी शताब्दी के मध्य निर्मित हुई थी। जैन गच्छ, भट्टारक, सघ एव गुरु शिष्यावली और उनके नाम यहाँ से निर्मित जैन हस्तलिखित ग्रथो मे मिलता है। महावीर, पार्श्वनाथ, आदिनाथ, श्रेयासनाथ और सुमतिनाथ की सलक्षण प्रतिमाए है। वाहन, लाछन एवं यक्ष-यक्षिणी भी जैन प्रतिमा-विज्ञान के आधार पर है। २४ तीर्थकरो के एक पद-चिह्न-प्रस्तर-फलक पर परमा-कालीन लिपि मे सभी तीर्थकरो के नाम है और अन्त मे इस शिल्प की निर्मिति का समय विक्रम संवत १३५० दिया गया है। जैन पद्मावती, धातुयंत्र एवं मानस्तंभ यहा की अन्य जैन पुरातात्विक उपलब्धियाँ है। मंदिर मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही समान रूप से आते है। यहाँ संवत १५४८ मे श्री जीवराज पापड़ीवाल द्वारा निर्मित संगमरमर प्रतिमा अभिलेख-युक्त है।

शाजापुर जिले की डाकोदिया मडी के सुन्दरसी ग्राम से लगभग ५२ जैन प्रतिमाएँ प्रकाश मे आई। यहा उन्हे एक स्थान पर एकत्रित कर दिया गया है। वैसे पूरा ग्राम एक टीले के पास बसा है जिसमे से प्रतिवर्ष तीर्थकर प्रतिमाएँ, जैन मंदिर के भग्न भाग में बरसात के बाद दिखाई पड़ जाती हैं। यहा किसी समय विशाल जैन मन्दिर अवश्य ही रहा होगा। पार्श्वनाथ, महावीर, जैन पद्मावती और मानस्तम यहाँ सुरक्षित है जो परमार कालीन मूर्तिशिल्प से मडित है। केवल सुन्दरसी की ही जैन प्रतिमाओ पर अलग शोध-लेख अपेक्षित है। यहा पर धातु-प्रतिमाएँ १५१० और १४२५ विक्रम सवत की मिली है। सुमतिनाथ की एक पद्मासन मे और महावीर की एक खड्गासन रूप की प्रतिमा भव्य है। वे भी १३वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे निर्मित हुई थी। सुन्दरसी की प्रतिमाएँ विशाल है तथा काले पत्थर मे निर्मित है। १३ फीट ऊँची पद्मासन मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्वत ही अपनी उत्कृष्टता एव भव्यता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार सखेड़ी, जामनेर और आग्टा मे भी लगभग १०३ जैन अवशेषो को देखा गया एव उनकी सूची बनाई गई।

पचोर मे एक ऐसी गढी देखने मे आई जो जैन भग्नावशेषो से भरी पड़ी है। लगभग ७८ जैन अवशेष तो हमने सूचीबद्ध किये। अन्य मूर्तियाँ भी समीप के घरो मे जड़ ली गई है, उन्हे नही लिख सके। यहा की एक ३ फुट × २ फुट जैन प्रतिमा को हम लोग उठा कर भी लाये और अब उसे जैन सग्रहालय, जयसिहपुरा, उज्जैन मे नामपट्ट, प्राप्ति स्थान एव आकार के साथ प्रदर्शित भी कर दिया है। शाजापुर और सारंगपुर मे भी लगभग २२ जैन प्रतिमाएँ देखी जो अभी तक अप्रकाशित थी। इनमे से ७ पर चौदहवीं-पन्द्रहवी शताब्दी के अभिलेख है। इसी प्रकार एक प्रतिमा (१२१० विक्रम संवत की) शुजालपुर के एक ग्राम मे देखने को मिली।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि परमार युग मे शाजापुर जिला जैन धर्म का एक केन्द्र था और मालवा का प्रमुख जैन तीर्थ था। यहा की जैन मूर्तियो को धीरे-धीरे प्रकाशित एव सगृहीत किया जाना चाहिये।

४ धन्वन्तरि मार्ग,
गली नं. ४, माधवनगर,
उज्जैन (म प्र)

# तीन अप्रकाशित रचनाएं

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिंसिपल, दिल्ली

इस वर्ष (जून ७५) ग्रीष्मावकाश में मध्यप्रदेश के विभिन्न गांवों एवं नगरों में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। लगभग दो-ढाई हजार किलो मीटर की यात्रा की होगी। अपनी आदत के अनुसार, जहा भी जाता हूं, पाडुलिपियो की तलाश किया ही करता हू और जहा जो कुछ उपलब्ध होता है उसे ग्रहण करने का भरपूर प्रयत्न करता हू। अबकी बार सेठ मिश्रीलाल जी करेरा के सौजन्य से स० १७०१ का लिपिबद्ध 'बनारसी विलास' सुन्दर, सुवाच्य लिपिवाला कलात्मक ढग से लिखा हुआ प्राप्त हुआ। साहू मोतीलाल जी दुर्जन लाल जी से स० १८०० के लगभग की लिखी नेमिचन्द्रिका और सेठ राजाराम जी बांमगढ़ वालों से एक बहुत मोटा गुटका प्राप्त हुआ जिसमें सैकडों पूजायें, स्तोत्र, कवित्त, विनतिया आदि सगृहीत हैं।

इस गुटके की लम्बाई-चोडाई ८"×६" है। प्रत्येक पन्ने में १२-१२ पंक्तियां है और प्रत्येक पक्ति मे ३०-३० अक्षर हैं। इस गुटके का पूर्णतया निरीक्षण करने पर भी इसका लिपिकाल कही नही मिला। सभव है कि आदि अत के फटे हुए पन्नों मे कही लुप्त हो गया हो, पर चूकि इसमे प० बनारसीदास जी की रचनाए सगृहीत है, अतः इसके लिपिकाल की प्राचीनता स० १७०० के लगभग तो निश्चित रूप से पहुच ही जाती है। गुटका बहुत ही जीर्ण स्थिति मे है। इसके बहुत-से पन्ने काट कर निकाले गये है। बहुत-से पन्ने अत्यधिक जीर्णशीर्ण दशा मे है और कुछ बहुत ही अस्त व्यस्त दशा मे है। पत्र सख्या भी कई जगह बदलती है। इसमे कुल पत्रो की सख्या लगभग एक हजार होगी और छोटी-मोटी रचनाए लगभग दो सौ से अधिक हैं। इनमे से सलग्न तीन रचनाए —(१) दशलक्षणी कवित्त, (२) दाणदसी और (३) वर्द्धमानस्तोत्र सवैया अप्रकाशित और उच्चकोटि की रचनाए प्रतीत हुईं। अत उन्हें यहा अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

(१) **दशलक्षणी कवित्त**—दशलक्षणी के बारह कवित्त बडे ही सरस और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत हैं। प्रत्येक धर्म पर एक एक कवित्त हृदय को छू जाने वाला है। इनके कर्त्ता का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नही होता है, पर हर कवित्त में माया परदौनु शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे आभास होता है कि इनके कर्त्ता कोई मायासिंह, माया प्रसाद या माया राम नाम के कवि होंगे और परदौनु इनका अपना उपनाम, उपाधि या विशेषण जैसा कुछ प्रतीत होता है। जो भी हो, पर कवित्तों को देखकर ऐसा लगता है कि माया परदौनु जी को अपने समय का कोई बड़ा ही प्रतिभाशाली सशक्त कवि होना चाहिए और इनकी कई अन्य भी कृतियां उपलब्ध होने की कल्पना की जाती है। यह सब शोध और खोज का विषय है। ग्रन्थागारो को कुछ बारीकी से थथोलने पर कवि के विषय मे कुछ और जानकारी प्राप्त हो सकेगी। फिर भी, सहृदय पाठक इन कवित्तो की अर्थगरिमा और रचनाशैली से प्रभावित हुए बिना न रह सकेंगे। ऐसे सुन्दर और सरस एवं रोचक कवित्त प्रायः सुलभ नही होते है, कृपालु पाठकों को कवि माया परदौनु के विषय मे कुछ जानकारी उपलब्ध हो तो मुझे अवश्य ही सूचित करें। मैं उनका अत्यधिक आभार मानूगा।

(२) **दाणदसी**—दाणदसी चौदह छंदों की छोटी-सी रचना है जिसमे चार दोहे और दस चौपाइया है। इन छन्दो मे कवि ने गो, स्वर्ण, दासी, भवन, गज, तुरग, कलत्र, तिल, भूमि और रथ इन दश दानो का जो वर्णन शास्त्रो मे मिलता है, उसका आध्यात्मिक दृष्टि से बडा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उपर्युक्त दानो का जो विवेचन इन छदों मे किया गया है वह निश्चय ही बडा श्रेयस्कर और अध्यात्म प्रेमियो को आकर्षित करने वाला है। इस रचना के

रचयिता का कुछ भी अता-पता नही मिलता है जो निश्चय ही बड़ी चिन्ता का विषय है।

(३) **श्री वर्द्धमानस्तोत्र**—यह रचना आठ सस्कृत छदों मे रची गई है। रचना सरल और प्रभु के गुणगान से भरपूर है। भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव पर जहा भगवान् महावीर से सम्बन्धित सभी छोटी-मोटी रचनाओं का सकलन हुआ है उसमे इसे भी सगृहीत किया जा सकता है। प० द्यानतराय जी विरचित "नरेन्द्र फणीन्द्रं सुरेन्द्र अधीश " इत्यादि पार्श्वनाथ स्तुति की भांति ही यह स्तोत्र संस्कृत बहुल छंदों मे विद्यमान है। इसके कर्त्ता का भी कोई नामोल्लेख नही मिलता है। परन्तु यह सर्वथा अप्रकाशित है, अत महत्त्वपूर्ण भी है।

ये तीनो रचनाएं सर्वथा अप्रकाशित है और साहित्यिक एव धार्मिक दृष्टि से बहुत ही उपादेय एव श्रेयस्कर है। कृपालु पाठक इनका रसास्वादन करें और इनके विषय मे तथा इनके कर्त्ताओ के विषय मे कुछ जानकारी हो तो प्रकाश मे अवश्य ही लाए तथा मुझे भी सूचित करे। मैं अत्यधिक अनुगृहीत होऊंगा।

## दशलाक्षणी कवित्त

कुण्डलिया—जिनवर मुख अरविन्द वानी विविध विसाल।
दशलक्षण को धर्म जिहि वरण्यौ विविध रसाल।।
वरण्यौ विविध रसाल हाल भवजल को हरता।
बदत देव अदेव भूरि शिव पद करता।।
चिन्तामणि को पाई जाइ डारहु जिन तिणवर।
कह माया परदौनु करहु भाष्यौ जो जिनवर।।१।।

उत्तम क्षमा—तीरथ दान करो पय पान धरो उर ध्यान लागतु नीको।
जो तप कोटि करो वन में वसितो सब और अकारथ फीको।।
धूम धरौ धर धूरि जटा सिर भूमि परौ तनु कै तपसी को।
कै व्रत और कहै परदौनु क्षमा बिन पावकु जातु न जी को।।२।।

मार्दव—जीति कै मान कषाय निरतर अतरभूत दया सुधरेंगे।
भाइ तो कै समता सब सौ पुनि चाइ सौ ते भव लोकु तरेंगे।
साधि सबै परमारथ को परदौनु कहै सब काज सरेंगे।।३।।

आर्जव—आरज सुद्ध प्रनाम करो तजिकै सब ही हिय की कुटिलाई।
जो सिव को सुख चाहतु हो सुर लोक यहै सब लोक बड़ाई।।
भूलि कहूं भ्रमते भ्रमते भटकै भव श्रावक को कुलि पाई।
सो व्रत दान बिना परदौनु तिना करि सब त विसराई।।४।।

सत्य—सांचहि ते पद पाइ सुरप्पति साचहि ते गुण ग्यान गहैगो।
सांचहि ते सुर बंदत आइ कै सांचहि ते यस पूरि रहेगो।।
साचहि ते उपजै कल कीरति सांचहि ते सब साधु कहैगो।
बोलहु साच कहै परदौनु सु सांचहि त सुरलोक लहेगो।।५।।

शौच—सौच रहै अभि अतर बाहर उज्जल नीर सरीर पखारत।
पूजत प्रात जिणेश्वर को चदन सो घसि केसर गारत।।
अक्षत फूल णये पकवान लै दीपक धूप महाफल भारत।
ये परदौनु कहै व्रत भाव सों आपु तरै अरु औरनि तारत।।६।।

संजम—संजमु है व्रत को महि मंडनु संयमु है यति मारग को धनु ।
संजमु है सब जोगु को साधनु संयमु है पुनि जोतनु को मनु ।।
संजमु है परदौन सु मारगु सयमु है सुचि राखण को तनु ।
सजमु थे सुर के सुख पावत संजमु सौ निबहै शिव सौपनु ।।७।।
तप—जा तप थ पद होइ सुरप्पति या तप थे निरवान चढ़ैगो ।
जा तप थे क्रम इंद्रनि जीति कै जा तप थे अति ध्याण बढ़ैगो ।।
जा तप थे परदौनु कहै उर अंतर केवल ज्ञानु रहैगो ।
ता तप को मन साधि रे साधि वृथा कत और उपाधि बढ़ैगो ।।८।।
त्याग—त्यागत सग परिग्रह को पुनि आदर सौ मुनि दान दये है ।
औषध ज्ञान अहार अभै सब दे गति चारि के पार भये है ।।
पाइ(य) पखारत साधुनि के चरनोदक पावन शीस भये है ।
कीरति कै जग कीरति गाइ सुरप्पति के सुख जाइ लए है ।।६।।
आकिचन—आकिचन कचने ज्यौ कसि क लखि कै रुचि सो उर अतर आनत ।
उज्जल ज्ञान में आतम ध्यान में देह सों भिन्न सदा करि जानत ।।
जे विधि सौ व्रत कौ प्रतिपालत ले रत्नत्रय को मन आनत ।
जे जग में जनमें परदौन तिन्हे शिवरूप सदा हम जाणत ।।१०।।
ब्रह्मचर्य—सील के सागर ज्ञान के उजागर नागर चारित्त चित्त धरेगे !
आतुर ह्वै मन कै वच कै तन कै करि लै भवलोकु तरैगे ।।
माया कहै तिन्हि के गुण लै तिन्हि कै पद बदन देव करेगे ।
बभ बलै तिन्हि कै ग्रह सुदरि ते सिव सुदरि जाइ बरेगे ।।११।।
कलसा—जे नर धर्म करै दश लक्षण तत्क्षण ते भव लोकु तरेगे ।
कै समता सब जीवनि सौ परदौनु कहै ममिता न गहैगे ।।
ताप तपै न कहूं भव तापनि पाप प्रवाहनि में न बहैंग ।
मौन रहे निरवासन ह्वै पद्मासन ह्वै धरि ध्यान रहेगे ।।१२।।
।। इति दशलक्षणीक कवित्त संपूर्ण ।।

## दानदसी

गो सुवर्ण दासी भवन गज तुरग परधाण ।
कुल कलत्र तिल भूमि रथ ए पुनीत दस दान ।।१।।
अब इनको विवरन कहौ भावित रूप बखानि ।
अलख रीति अनुभव व था जो समुझै सो दानि ।।२।।
चौपाई—गो कहिए इन्द्री अभिधान वछरा उमग भोग पय पान ।
जो इनके रस माहि न राचा, सो सवच्छ गोदानी साचा ।।३।।
कनक सुरग अछर वानी तीनों सबद सुवर्ण कहानी ।
जो त्यागे तीनिहु की साता सो कहिए सुवर्ण को दाता ।।४।।
पराधीन पररूप गरासी यौ दुर्बुद्धि कहावै दासी ।
ताकी रीति तजै जब ज्ञाता तब दासी दातार विख्याता ।।५।।

तन मंदिर चेतन घर वासी ज्ञान दृष्टि घट अंतर भासी ।
समुझै यह पर यह गुण मेरा मदिर दाण होइ तिहि वेरा ॥६॥
अष्ट महामद थुर के साथी एक कर्म कुदिसी के हाथी ।
इन्ह कौ त्याग करै जो कोई गज दातार कहावै सोई ॥७॥
मन तुरंग चढ़ि ज्ञानी दौरे लखै तुरंग और में औरे ।
निज दृग को निज रूप गहावै वहै तुरगम दान कहावै ॥८॥
अविनासी कुल के गुण गावै कुल कलत्र सद्बुद्धि कहावै ।
बुद्धि अतीता धार ना फैली वहै कलत्र दान की सैली ॥९॥
ब्रह्म विलास तेल खलि माया मिश्र पिड तिल नाम कहाया ।
मिश्र पिड रूप गहि दुविधा मानी दुविधा तजै सोइ तिल दानी ॥१०॥
जो विवहार अवस्था होइ अंतर भूमि कहावै सोई ।
तजि व्यौहार जो निहचै मानै भूमिदान की विधि सो जानै ॥११॥
सुकल ध्यान रथ चढ़ै सयाना मुकति पथ को करै पयाना ।
रहै अजोग योग सौ यागी वहै महारथ रथ का त्यागी ॥१२॥
दोहा—ए दश दान जु मै कहै ए शिव सासन मूल ।
ज्ञानवंत सूछिम गहै मूढ़ विचारे शूल ॥१३॥
एई हित वित जाण कौ एई अहित अजान ।
राग रहित विधि सहित हित अहित आन को आन ॥१४॥
॥ इति दाणदसी समाप्ता ॥

## अथ वर्द्धमान स्तोत्र

सजलजलधिसेतुर्दुखविध्वंसहेतुर्निहतमकरकेतुर्वारितानष्टहेतुः ।
क्वणित समरहेतुर्नष्टनिःशेषधातुर्जयति जगति चन्द्रो श्रीवर्द्धमानो जिनेन्द्रो ॥१॥
समयसदनकर्त्ता सार ससार हर्त्ता सकल भुवन भर्त्ता भूरि कल्याण धर्त्ता ।
परम सुख समर्त्ता सर्व सदेह हर्त्ता जयति जगति चन्द्रो श्री वर्द्धमानो जिनेन्द्रो ॥२॥
कुगतिपथभनेता मोक्षमार्गस्य नेता प्रकृति गहणहता तत्त्वसंघात नेता ।
गगन गमनगता मुक्तिरामाभिकता ॥ जयति० ॥३॥
सजल जलद नादो निर्जिताशेषवादो यति चरनुतपादो वस्तु तत्वं जगादो ।
जयति भविकपादोऽनेककोपाग्निकदो ॥ जयति० ॥४॥
प्रबलबलविसालो मुक्तिकाता रसालो विमलगुणमरालो नित्यकल्लोलमालो ।
विगत सरणशीलो धारिता नित्यसालो ॥ जयति० ॥५॥
मदन मद विदारी चारु चारित्र धारी नरक गति निवारी स्वर्ग मोक्षावतारी ।
विदित त्रैलोक्यसारी केवलज्ञानधारी ॥ जयति० ॥६॥
विषय विष विभासो भूरिभापानिवासो गत भवभयपासो कीर्तिवल्ली निवासो ।
करण सुख निवासो वर्ण सपूर्ण तासो ॥ जयति० ॥७॥
वचनरचनधीरः पापधूलिसमीरः कनकनिकषगौरः क्रूरकर्मारिसूरः ।
कलुषदहननीरः पातितानगवीरः ॥ जयति० ॥८॥
॥ इति वर्द्धमान स्तोत्रम् समाप्तम् ॥

भूति कुटीर, ९८, कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२

# रयणसार : स्वाध्याय की परम्परा में

☐ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा मे एक ऐसे महान् उज्ज्वल नक्षत्र की भाति अध्यात्म-गगन मे आलोकित हैं, जिन्होंने वस्तुगामी मूल दृष्टि को स्वानुभव से प्रकाशित कर भावी धार्मिक पीढ़ियों को यथार्थता का अवबोधन दिया। सत्यकी वास्तविक मशाल उनकी रचनाओ में आज भी अपने वास्तविक रूप मे प्रज्वलित है, जिसमे प्रकाश ग्रहण कर हम आत्म-कल्याण कर सकते है। यथार्थ मे उनकी भूमिका अपूर्व है। आज भी उन की वाणी का अवगाहन कर बड़े-से-बड़े विद्वान एव साधु-सन्त नतमस्तक हो जाते है। इसलिये नही कि उनमे विद्वत्ता के शिखर प्रकाशमान है, वरन् इसलिये कि उनमे आध्यात्मिक गहराई तथा विशदता के स्पष्ट धरातल आलोकमान है। परम्परा के साक्षात्कार के साथ ही आत्मानुभव का साक्षात्कार भी उनमे लक्षित होता है। स्पष्ट प्रमाण स्वरूप आत्मानुभव के निकष पर अमूल्य रत्नत्रयो (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को परख कर उन द्रव्य ग्रथों को मूल रूप में विवेचित किया है। उनके सभी ग्रन्थो मे आचार्यत्व का यह स्पन्दन तथा जिनवाणी का निर्घोष हमे बिना किसी व्यतिकर के सहज शब्दायमान श्रुतिगत होता है। कुछ विद्वान आज भी यह समझते है कि आचार्य कुन्दकुन्द विशुद्ध आध्यात्मिक थे, यद्यपि इस मे सन्देह की आवश्यकता नही है कि वे विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक थे, किन्तु व्यवहारी भी शुद्ध रूप से थे। श्री क्षु० जिनेन्द्र वर्णी के शब्दो मे, अध्यात्मप्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयो के पारगामी थे[1] और इसीलिए हर विषय पर आपने ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान इनके सम्बन्ध मे कल्पना करते हैं कि इन्हे करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योंकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रन्थ "षट्खण्डागम" पर आप ने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नही है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वय उत्तम चरित्रवान, निर्ग्रन्थ मुनि थे। उनकी आत्मदृष्टि और व्यवहारदृष्टि दोनो निर्मल थी। अतएव उन्होंने "समयसार" मे मुनि और श्रावक के भेद से दोनो प्रकार के मोक्षमार्ग का उल्लेख किया है।[2] "रयणसार" मे भी आचार्य की यही दृष्टि लक्षित होती है। आचार्य कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक ग्रन्थो का सार "आत्मानुभूति" है जो स्वसवेदन से अनुभव करने योग्य है। सिवाय आत्मानुभूति के शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के अन्य उपाय नही है। उनके ग्रन्थो में तथा सभी जैनधर्म के आध्यात्मिक ग्रन्थों मे यह बताया गया है कि शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से आत्माके अनुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मतत्त्व मे रुचि, प्रतीति एव स्वसंवेदनगम्य अनुभूति होना ही सक्षेप मे सम्यग्दर्शन का लक्षण है। इन्द्रियों के सुख के लिए किया जाने वाला तत्त्वश्रद्धान मिथ्यात्व है।[3] "रयणसार" का सस्वर उद्घोष स्पष्ट है कि आत्मानुभूति के बिना निश्चय से सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति नही हो सकती।[4]

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० १२६

२. ववहारिओ पुन णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।।
—समयसार, ४१४.

१. इंदियसोक्खणिमित्त सद्धाणादीणि कुणइ सो मिच्छो।
त पिय मोक्खणिमित्त कुव्वतो भणइ सद्दिट्ठी ।।
—नयचक्र, ३३३.
तथा-समयसार, २७५ : 'धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त।'

४. णियतच्चुवलद्धि बिणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाण णत्थि णियमेण ।।
—रयणसार १७९.

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन "रयणसार" ग्रन्थ में अनेक प्रकार से किया गया है। किन्तु रत्नत्रय का विशद एवं विस्तृत वर्णन न होने से यह ग्रन्थ विशेष रूप से पठन-पाठन तथा प्रचार मे नही आया हो ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु अन्तः साक्ष्य तथा अन्य विवरणो के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि यह ग्रन्थ सुदीर्घ काल तक अद्यावधि स्वाध्याय की परम्परा मे प्रचलित रहा है।

"रयणसार" नाम की एक अन्य कृति का उल्लेख दक्षिण भारत के भण्डारो की ग्रन्थ-सूची मे हस्तलिखित ग्रन्थो मे किया गया है। श्री दिगम्बर जैन मठ, चित्तामूर (जिंजनी), साउथ आरकाड, मद्रास प्रान्त मे स्थित शास्त्र भण्डार मे क्रम-सख्या ३६ मे प्राकृत भाषा के "रयणसार" ग्रन्थ का नामोल्लेख है और रचयिता का नाम वीरनन्दी है, जो सस्कृत टीकाकार प्रतीत होते है। इस टीका की खोज करनी चाहिए। इस टीका के मिल जाने पर विद्वानो का यह भ्रम पूर्ण रूप से दूर हो जाएगा कि आचार्य कुन्दकुन्द की इस रचना पर कोई सस्कृत टीका नहीं मिलती। हिन्दी पद्यानुवाद की खोज सबसे पहले मैने ही की थी। यद्यपि पद्य-कर्ता का नाम अभी तक जानकारी मे नही आया है। किन्तु इससे यह तो स्पष्ट है कि लगभग सत्रहवी शताब्दी मे रयणसार के स्वाध्याय की परम्परा अवश्य थी।

अठारहवी शताब्दी मे पण्डितप्रवर टोडरमल जी ने, जिनका समय १७३६ई० कहा जाता है, अपने सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ "मोक्षमार्ग-प्रकाशक" में दान के प्रसग मे "रयणसार" का प्रमाण देकर अपने विषय का वर्णन किया है। उनके ही शब्दो म—

"तथा लोभी पुरुष देने योग्य पात्र नही है, क्यों कि लोभी नाना असत्य उक्तिया करके ठगते है, किंचित् भला नही करते। भला तो तब होता है जब इसके दान की सहायता से वह धर्म साधन करे; परन्तु वह तो उल्टा पाप रूप प्रवर्तता है। पाप के सहायक का भला कैसे होगा? यही "रयणसार" शास्त्र मे कहा है—

**सप्पुरिसाण दाण कप्पतरूण फलाणं सोह वा।**
**लोहीण दाण जइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ॥ २६ ॥**

अर्थ :—सत्पुरुषो को दान देना कल्पवृक्षो के फलो की शोभा (के) समान है। शोभा भी है और सुखदायक भी है तथा लोभी पुरुषो को दान देना होता है सो शव अर्थात् मुर्दे की ठठरी की शोभा (के) समान जानना। शोभा तो होती है, परन्तु मालिक को परम दुःखदायक होती है। इसलिये लोभी पुरुषो को दान देने मे धर्म नही है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक, छठा अधिकार, पृ० १८८)

स्वाध्याय की यह परम्परा दिगम्बर आम्नाय मे बराबर बनी रही है। इसलिये कुछ विद्वानो का यह समझना कि "रयणसार" आचार्य कुन्दकुन्द की रचना नही है, क्योकि न तो इसकी कोई सस्कृत टीका मिलती है और न यह पठन-पाठन मे रहा है, भ्रमपूर्ण है।

पण्डितप्रवर टोडरमल जी के अनन्तर पण्डित दौलतराम जी ने "क्रियाकोष" मे आठवें पृष्ठ पर "रयणसार" की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है जो इस प्रकार है—

**गुण-वय-सम-पडिमा दाणं जलगालण च अणत्थमियं।**
**दंसणणाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥७०॥**

इसका पद्यानुवाद है :

**गुण कहिये अष्टमूल जु गुणा, वय कहिये व्रत द्वादश गुणा।**
**तव कहिये तप बारह भेद, सम कहिये समदृष्टि अभेद ॥७०**
**पडिमा नाम प्रतिज्ञा सही, ते एकादश भेद जु लही।...**

उक्त मूल गाथामे "तव" शब्द नही है, किन्तु पद्यानुवाद मे उसका उल्लेख है। सशोधित तथा मेरे द्वारा सम्पादित "रयणसार" मे शुद्ध गाथा इस प्रकार है

**गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाण-जलगालणं अणत्थमियं**
**दसण-णाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१३७॥**

अष्ट मूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता भाव, ग्यारह प्रतिमाए, चार दान, पानी छानकर पीना, रात्रि मे भोजन नही करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ये श्रावक की त्रेपन क्रियाए कही गई है।

यह उल्लेखनीय है कि "जैन क्रियाकोष" का रचना-काल १७३० ई० है। उन्नीसवी शताब्दी मे प० सदासुखदास जी ने इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाया और इसका सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए उल्लेख किया है.

"श्री कुन्दकुन्दादि अनेक मुनि निग्रन्थ वीतरागी अग के वस्तुनि का ज्ञानी होते भए तथा उमास्वामी भए ऐसे पाप

तै भयभीत ज्ञानविज्ञान सम्पन्न परम संजम गुण मण्डित गुरुनि की परिपाटी तै श्रुत का अव्युच्छिन्न अर्थ के धारक वीतरागीनि की परम्परा चली आई तिनमें श्री कुन्दकुन्द स्वामी समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, रयणसार, अष्टपाहुडकू आदि लेय अनेक ग्रन्थ रचे ते अवार प्रत्यक्ष वांचने, पढने मे आवे है। इन ग्रन्थनि का जो विनयपूर्वक आराधन करे सो प्रवचनभक्ति है।" (रत्नकरण्डश्रावकाचार, पचम अधिकार, पृ० २३६)

यही स्वाध्याय की परम्परा पं० भूधरदास जी के "चर्चा समाधान" मे भी लक्षित होती है। निर्माल्य के प्रसंग में प० भूधरदास ने "रयणसार" का उल्लेख किया है। चर्चा समाधान के पृ० ७६ पर गाथा स० ३२,३३,३५ और ३६ इन चारो के उद्धरण के साथ लिखा हुआ मिलता है—"दूजे देवधन के ग्रहण का फल कुन्दकुन्दाचार्य कृत रयणसार विषै कह्या है। तथाहि, गाथा—"

इसी प्रकार, पण्डित चम्पालाल कृत "चर्चा सागर" ग्रन्थ विक्रम संवत् १८१० का रचा हुआ मिलता है। इस ग्रन्थ से भी स्पष्ट है कि "रयणसार" की स्वाध्याय-परम्परा सतत प्रचलित रही है। दान के प्रसग की चर्चा है

"इसलिये सत्पुरुषो के लिये दिया हुआ दान तो कल्पवृक्षादिक के सुखो को उत्पन्न करता है और लोभी के लिये दिया हुआ दान ऊपर लिखे अनुसार फल देता है। सो ही रयणसार मे लिखा है—

**सप्पुरुसाणं दाण कप्पतरूण फलाण सोहं वा।**
**लोहाणं दाणं जइ विमाणसोहा स जाणेह ॥२८॥**

सशोधित व सम्पादित वर्तमान सस्करण मे यह गाथा इस प्रकार है

**सप्पुरिसा ण** दाण **कप्पतरूण फलाण सोहं वा।**
**लोहीण** दाण **जइ विमाणसोहा-सवं जाणे** ॥ २५ ॥

इसी ग्रन्थ मे एक अन्य स्थान पर 'रयणासार' का उल्लेख इस प्रकार किया गया है— इसी प्रकार ध्यान धारण करना और सिद्धान्त के रहस्यो का अध्ययन करना मुनियो का मुख्य धर्म है। पूजा और दान के बिना गृहस्थो का धम नही है और ध्यान-अध्ययन के बिना मुनियो का धर्म नही है। यही इसका तात्पर्य है सो ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है :—

**दाणेपूआ मुक्खं सावयधम्मं असावगो तेण विणा।**
**झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मं तं विणा तहा सोवि॥**

यह 'रयणासार' की गाथा है। संशोधित व सम्पादित प्रति में यह गाथा इस प्रकार है :

**दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।**
**झाणाज्झयणं मुक्खं जइ-धम्मे तं विणा तहा सो वि ॥१०**

वर्तमान कालमे भी स्वर्गीय मुनिश्री ज्ञानसागर जी महाराज ने 'समयसार' की प्रस्तावना मे 'रयणसार' का प्रमाण देते हुए लिखा है—

तथापि "रयणसार" की निम्न (१३१, १३२) गाथाओ द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा (अर्हन्त और सिद्ध) तो स्वसमय है और क्षीण-मोह गुणस्थान तक जीव 'परसमय' है। इससे स्पष्ट है कि असंयत सम्यग्दृष्टि 'स्वसमय' नही है, परसमय है।

इस प्रकार 'रयणसार' के स्वाध्याय की परम्परा १७वी शताब्दी से लेकर आज दिन तक बराबर चालू है। हालमे ही क्षु० जिनेन्द्र वर्णी ने अपने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में पृ० ८४ (भाग १) पर 'आत्मानुभव के बिना सम्यग्दर्शन नही होता' शीर्षक के अन्तर्गत 'रयणसार' की निम्नलिखित गाथा का उल्लेख किया है —

**णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।**
**सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥ ९० ॥**

अर्थात्— निज तत्त्वोपलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उपलब्धि नही होती और सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना निर्वाण नही होता।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'रयणसार' आचार्य कुन्दकुन्द की ही रचना है और आचार्य के अन्य ग्रन्थो की भाँति लगभग चार सौ वर्षो से बराबर 'रयणसार' के पठन-पाठन के उल्लेख तथा प्रमाण मिलते है। आध्यात्मिक ग्रन्थो की भाति रयणसार का भी अपना महत्व है और कई बातो मे इसे प्रमाण रूप मे उद्धृत किया जाता रहा है। अतएव इस श्रावकधर्मप्रधान 'रयणसार' को मान्यता बराबर बनी रही है, यह सिद्ध हो जाता है।

शकर आयल मिल के सामने,
नीमच (म. प्र.)

# भास के श्रमणक

□ डा० राजपुरोहित

श्रमण वस्तुतः आश्रमवासी थे जो स्वयं श्रम करते थे, तपस्या करते थे। समाज मे श्रमण-सस्था का उदय बौद्ध तथा जैनधर्म से पूर्व वैदिकयुग मे ही हो चुका था।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् (४/३/२२) मे श्रमणो का सर्वप्रथम उल्लेख ज्ञात होता है परन्तु परवर्तीकाल मे, बौद्ध और जैन-सम्प्रदायो ने इस शब्द को विशेषतः स्वीकार किया है। बुद्ध को प्रायः समण गोतम कहा गया। वहाँ यह साधारण भिक्षाटन करने वाले का अर्थ देने लगा। सुत्त तथा विनय-पिटक मे ऐसे भिक्षु समणो की संख्या ही बन गयी थी। परन्तु समय से पूर्व अपने उत्तरदायित्व से पलायन करने के कारण इनके प्रति ब्राह्मणो की सद्भावना नही थी। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थो के श्रमण सच्ची त्यागवृत्ति मे महान् थे।[2] वैदिक-साहित्य के आलोक मे उपलब्ध श्रमण परम्परा को अवैदिक सिद्ध करना[3] वस्तुतः उस शब्द तथा परम्परा-विषयक तथ्यदृष्टि के साथ अनाचार एव अन्धानुकरण है।

'पाइय-सद्द-महण्णवो' (पृष्ठ-८६५) के अनुसार पॉच प्रकार के श्रमण होते है—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक तथा आजीवक।

'निग्गथ-सक्क-तावस-गेरुय आजीव-पचहा समणा' स्पष्ट ही जैन, बौद्ध, ब्राह्मण इत्यादि के साथ ही गोव्रतिक श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक, आजीवक इत्यादि अनेक श्रमणमार्गी साधुओं की परम्परा थी।[4] यह परम्परा बुद्ध तथा महावीर के पूर्व से ही चली आ रही थी और इन दोनो महापुरुषो के अनुयायियो ने भी इसमे परिवृद्धि की है।

सम्राट् अशोक ने (बौद्ध) सघ ब्राह्मण, आजीविक निर्ग्रन्थ इत्यादि का एक साथ पृथक्-पृथक् उल्लेख करने के साथ ही बौद्धो से इतर ब्राह्मण-श्रमणो का एक-साथ उल्लेख किया है[5]। स्पष्ट ही ये श्रमण बौद्धेतर तो थे ही, ब्राह्मणेतर भी थे। सम्भवतः ये 'समण' आजीविक थे जिन्हे अशोक ने गया के निकट बराबर की गुहाएँ दान में दी थी[6]।

ईसवी पूर्व दूसरी शती मे श्रमण अथवा श्रमणदास नाम भी रखे जाते थे[7]। चीनी-तुर्किस्तान की निय नदी के पार से उपलब्ध, ईसवी की तीसरी-चौथी शती की खरोष्ठी मे उत्कीर्ण अभिलेखो मे श्रमण तथा श्रामणेर का उल्लेख प्राप्त होता है। 'सामणेर' (श्रामणेर) का तात्पर्य नौ-सिखिया भिक्खु किया गया है। श्रमणगोष्ठ के उल्लेख भी प्राप्त होते है[8]।

यह सर्वविदित है कि भास कालिदास के आदरणीय और उनसे पूर्ववर्ती दक्ष एव प्रथित रूपककार हुए है। चौदह रत्नो के समान उनके चौदह उपलब्ध नाटक सपूर्ण परवर्ती नाट्य-परम्परा के वस्तु, प्रयोग तथा कल्पना की दृष्टि से उपजीव्य बन गए है। सम्पूर्ण सस्कृत नाट्य-परम्परा मे आज भी भास के समान मंच प्रयोग-सुलभ रूपक दुर्लभ ही है। उनके रूपकों मे मचीय नाट्य-तत्व अनायास उतर पड़े है। भास की इसी नाट्य महत्ता के समक्ष कालिदास भी एक बार अपने रूपक की सफलता मे

१. डा० राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता (हिन्दी अनुवाद), चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ २६८।

२. वही।

३. डा० हरीन्द्रभूषण जैन, भारतीय सस्कृति और श्रमण परम्परा, पृष्ठ १३-१४।

४. वही, पृष्ठ १३ पर उद्धृत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का अभिमत।

५ डी० सी० सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, द्वितीय सस्करण, पृ० ६६। अशोक का सातवा स्तम्भलेख।

६ वही, पृ० ७७।

७. वही, पृ० २२७।

८. वही, पृ० २४८-४६, ५१-५४ तथा हिन्दू सभ्यता, पृ० २६८।

सशक हो कह उठते है'—

"प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ?"

परन्तु परवर्ती होने पर भी कालिदास-साहित्य मे ब्राह्मणेतर सन्दर्भ दुर्लभ ही है जबकि भास-साहित्य मे वे असुलभ नही है। बुद्ध और महावीर के उपदेशो के पश्चात् श्रमण शब्द प्रायः इन्ही के द्वारा प्रवृत्त सम्प्रदायो से सबद्ध हो गया। किसी भी स्थिति मे, भास बुद्ध और महावीर के पश्चात् ही हुए और इसलिए भास के रूपको मे इन दोनों के सन्दर्भ मे ही श्रमणक शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक तथा चारुदत्त नामक भास के रूपकों मे श्रमणक अथवा श्रमणिका के उल्लेख उपलब्ध होते है।

सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि साधारणतया श्रमणक से भास का क्या तात्पर्य है? 'अविमारक' के द्वितीय[२] अक मे विदूषक से विनोद करती हुई चेटी उसे कहती है कि वह भोजन के लिए निमन्त्रित करने किसी ब्राह्मण का अन्वेषण कर रही है। तब विदूषक कहता है—'अरी! मैं कौन हूं? क्या श्रमणक हू?'' चेटी कहती है—"तू तो अवैदिक है।" विदूषक कहता है—"मैं अवैदिक कैसे हुआ? सुन तो! रामायण नामक नाट्यशास्त्र है न, एक वर्ष पूरा होने से पहले ही मैने उसके पाँच श्लोक पढ लिए है।"[३]

विदूषक—भोदि अहं को, समणओ।

चेटी—तुवं किल अवेदिओ।

विदूषक—किस्स अहं अवेदिओ सुणाहि दाव। अत्थि रामाअणं णाम णट्टसत्थं। तस्सिं पंचसुलोआ असम्पुण्णे संवच्छरे पुमए पठिदा।

इस विवरण से स्पष्ट है कि भास की दृष्टि मे श्रमणक अवैदिक होते है। श्रमणक ब्राह्मणेतर ही हो सकते है, फिर चाहे वे बौद्ध हो, चाहे जैन अथवा अन्य कोई।

"अविमारक" के पाँचवे अक मे नायक नलिनिका को जब विदूषक का परिचय देता है तब नलिनिका कहती है—"इस ब्राह्मण को, शहर की दुकान के बरामदे मे, पहले देखा है।"

'आ, दिट्ठपुरुवो णअरापणालिंदे अअं ब्राह्मणो।

तब विदूषक कहता है कि यज्ञोपवीत ब्राह्मण की पहचान है और चीवर रक्तपट की। यदि वस्त्र त्याग दू तो श्रमणक हो जाऊँ।

"आम भोदि! जण्णोपवीदेण बह्मणो, चीवरेण रत्तपडो। जदि वत्थं अवणेमि, समणओ होमि।"

यहाँ भासने अपने युगमे प्रचलित भारतीय तीनों प्रधान धर्मों के अनुयायियों के सामान्य पहचान-चिह्न दे दिए है। चीवरधारी प्रायः बौद्ध होते थे। अत. रक्तपट से तात्पर्य बौद्ध ही लेना चाहिए। वैसे रक्तपट किसी अज्ञात अथवा लुप्त पाषड का नाम भी हो सकता है। श्रमणक वस्त्रहीन होते थे। स्पष्ट ही यहा दिगम्बर जैनों की ओर ही संकेत प्रतीत होता है। इसी आधार पर डा० ए० डी० पुसालकर यह निर्णय लेते है कि चूकि श्रमणक से भास, दिगम्बर सम्प्रदाय का ही अर्थ लेते है इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरों के उदय से पूर्व अर्थात् ई० पू० ३०० से पूर्व ही भास का समय होना चाहिए, क्योकि उन्हे श्वेताम्बरों का ज्ञान नही था।[४]

अविमारक रूपक के ही चौथे अक[५] मे नायक, विदूषक नायिका (कुरगी) विषयक प्रश्न पूछता है—

किन्न स्मरति मां कुरङ्गी? (क्या कुरंगी मेरा स्मरण नही करती?)

विदूषक कहता है—किण्णु जीवदि णग्गन्धस्समणिआ।

श्री सी० आर० देवधर इसकी सस्कृत छाया इस प्रकार करते है—"किन्नु खलु जीवति नग्नान्धश्रमणिका।" स्पष्ट ही यहाँ विरहिणी नायिका के लिए 'श्रमणिका' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य तपस्विनी अथवा बेचारी हो सकता है। अर्थ होगा—"बेचारी जीवित भी है?" तपस्विनी के अर्थ मे यहा श्रमणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय की,

१. मालविकाग्निमित्र. प्रस्तावना।
२. भासनाटकचक्रम् (श्री सी० आर० देवधर द्वारा सम्पादित का १९६२ ई० का सस्करण), पृष्ठ ११९।
३. वही, अविमारक, पृष्ठ १६९।
४. डा० ए० डी० पुसालकर, भास (भारतीय विद्याभवन बम्बई, प्रथम सस्करण १९४३), पृष्ठ २०८।
५. भासनाटकचक्रम्, पृष्ठ १६१।

ग्रोर चाहे भास ने सकेत किया हो, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की साध्वी भी नंगी कभी नही रहती है। कम से कम वह एक वस्त्र तो धारण करती ही है। पुन उपर्युक्त सन्दर्भ मे 'ग्रन्ध' शब्द का क्या ग्रर्थ होगा ? ग्रत॰ **'णग्गंधसमणिग्रा'** की **'नग्नान्धश्रमणिका'** छाया न करते हुए **'निर्ग्रन्थश्रमणिका'** छाया करना ग्रधिक उचित है, जिसका तात्पर्य होगा कि नायक के विरह मे सन्तप्त होती बेचारी राजकुमारी दिगम्बर सम्प्रदाय की श्रमणिका ही बन गयी है, ग्रर्थात् निर्ग्रन्थ श्रमणिका बनने पर भी क्या वह जीवित है ?

यहां विशेष ध्यातव्य यह है कि ग्रविमारक रूपक के उपर्युक्त तीनो स्थलो पर श्रमणिका ग्रथवा श्रमणक का विदूषक ही स्मरण करता है। प्रतीत होता है कवि इनके प्रति ग्रधिक गम्भीर नही है।

भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण रूपक के तृतीयाक मे श्रमणक नामक पात्र रंगमच पर प्रवेश करता है ग्रौर वह विदूषक तथा उन्मत्तक के वेश मे उपस्थित यौगन्धरायण के कृत्रिम टंटे को शान्त करने का प्रयास करता है। वस्तुतः यह श्रमणक भी वास्तविक नही है। उदयन का ग्रन्य मन्त्री रुमण्वान् ही श्रमणक के वेश मे उपस्थित होता है।[१] ग्रविमारक में कहे पूर्वोक्त विवरणानुसार श्रमणक नग्नक होगा ग्रौर नाट्यशास्त्र, दशरूपक इत्यादि के द्वारा सकेत न करने पर भी[२] यह ग्रसम्भव प्रतीत होता है कि उस काल मे प्रेक्षको के समक्ष कोई पात्र रगमच पर निर्वस्त्र उतरे। स्पष्ट ही प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक दिगम्बर श्रमणक नही हो सकता ग्रौर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भासोक्त ग्रवैदिक श्रमणको मे एक तो ग्रविमारक के दिगम्बर जैन है तथा दूसरे ग्रवैदिक श्रमणक बौद्ध है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक बौद्ध प्रतीत होता है, क्योकि वह विदूषक को **'बह्मणाउस' (ब्राह्मणोपासक)**[३] कहता है। यह सर्वविदित है कि बौद्ध साधु बात-बात मे 'उपासक' सम्बोधन देते थे। यही नही, विदूषक उनके मतानुयायियो को **'सघग्रारिणो'(संघचारिणः)**[४] भी कहता है। सघचारी के रूप मे बौद्ध ही प्रसिद्ध है, इसमे सन्देह नही। इससे स्पष्ट है कि प्रतिज्ञायौन्धरायण का श्रमणक बौद्ध भिक्षु था। ग्रविमारक मे भी पहले चीवरधारी रक्तपट का उल्लेख हुग्रा है। सम्भवत. वहाँ भी बौद्ध की ग्रोर ही सकेत है। वैसे स्वय भास ने ग्रपने चारुदत्त रूपक मे शाक्य श्रमणक का उल्लेख किया है,[५] जहाँ विदूषक कहता है कि "मजदूरनी के इशारा करने पर शाक्यश्रमणक के समान मुझे भी नीद नही ग्रा रही है।"

**ग्रहं खु दाव कत्तध्वकरत्थीकिदसंकेदो विग्र**
**सक्किग्रसमणग्रो णिद्दं ण लभामि।**

यहा सन्देह का स्थान नही है। चतुर्भाणी के समान शाक्य भिक्षुग्रों की कामलोलुपता पर भी फबती कसी गई है। चारुदत्त रूपक को ग्रात्मसात् करने पर भी यह वाक्य मृच्छकटिक मे प्राप्त नही होता। चारुदत्त के ही द्वितीयांक मे संवाहक के निर्वेद से प्रव्रजित होने का सकेत प्राप्त होता है जिसकी मदमस्त मगल हस्ती से वसन्तसेना का सेवक रक्षा करता है।[६] इस प्रसंग का पल्लवित रूप मृच्छकटिक मे भी प्राप्त होता है। परन्तु वहाँ हाथी का नाम 'खुण्टमोटक दिया गया है जो ग्रवन्तिप्रदेश की मालवी तथा हिन्दी मे भी 'खूटामोड़' के रूप मे ग्राज पहचाना जा सकता है, ग्रर्थात् वह मदमस्त हाथी जो ग्रपने ग्रालान रूप खूटो को भी मोडकर उखाड़ दे ग्रथवा तोड़ दे। मालवा के धार जिले मे खूटपला (खूटपल्लि ग्रथवा खूटपल्ल) जैसे ग्रब भी ग्राम के नाम उपलब्ध होते है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि—

(१) भास की दृष्टि मे श्रमणक ग्रवैदिक है।

(२) भास-साहित्य मे दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रमणक

(शेष पृ० ३७ पर)

---

१. वही, पृ ८६-८८।

२. दूराध्वान वधं युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम्।
सरोध भोजन स्नान सुरत चानुलेपनम्॥
ग्रम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।
नाधिकारिवध क्वापि त्याज्यमावश्यक न च॥
दशरूपक, ३, ३४-३६।

३ भासनाटकचक्रम्, पृ. ८६।

४. वही, पृष्ठ ९२।

५. वही, पृष्ठ २२८।

६. वही, पृष्ठ २२०-२१।

# वेदों में जैन-संस्कृति के गूंजते स्वर

□ श्री जी. सी. जैन

कुछ समय पूर्व कुछ आलोचकों ने जैन-धर्म की प्राचीनता के बारे में अनेक भ्रान्तियां फैला रखी थी। कोई इसे हिन्दू धर्म की शाखा मानता था तो कोई बुद्ध धर्म की। कोई इसे भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित मानता था तो कोई भगवान पार्श्वनाथ द्वारा, परन्तु जैसे-जैसे सांस्कृतिक शोधकार्य आगे बढ़ता गया और तथ्य प्रकाश मे आते गए, यह सिद्ध हो गया कि जैन धर्म वेदों से भी प्राचीन धर्म है। इस अवसर्पिणी काल मे भगवान ऋषभदेव इसके प्रवर्तक थे। मैने अन्यत्र सनातन धर्मी पुराणो से जैन-धर्म पर प्रकाश डालने वाले कुछ तथ्य प्रस्तुत किये थे। यहां वेदों, उपनिषदों आदि से कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत कर रहा हूं जो जैन-धर्म की प्राचीनता के स्वतः सिद्ध प्रमाण है।

**अर्हंता ये सुदानवो नरो असो मिसा स,**
**प्रयज्ञं यज्ञिभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः।**

—ऋग्वेद, अ० ४ अ० ३ वर्ग ८।

इस मन्त्र मे अरिहन्तों का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

**दीर्घात्वायुर्बलायुर्वा शुभ जातायुः,**
**ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा।**

इस मन्त्र मे बाईसवें तीर्थङ्कर भगवान अरिष्टनेमि जी से रक्षा की प्रार्थना की गयी है।

**ज्ञातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति,**
**अतिचारमिन्द्रं तमपरिष्टनेमिं भवे भवे।**
**सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवेतु शक्रं**
**अजितं तद् वर्द्धमानं पुरूहूतमिन्द्र स्वाहा॥**

प्रस्तुत मन्त्र मे भगवान् ऋषभदेव जी, द्वितीय तीर्थङ्कर अजित नाथ जी, तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ जी और चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् वर्धमान जी का स्पष्ट उल्लेख है।

**नमं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्म गर्भं सनातनम्॥**

**ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थङ्करान्,**
**ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये॥**

—बृहदारण्यके

काम क्रोधादि शत्रुओं को जीतने वाले वीर, दिशाएं ही जिनके वस्त्र है, जो ज्ञान के अक्षय भण्डार (केवल ज्ञान) को हृदय मे धारण करने वाले और सनातन पुरुष है, ऐसे अरिहन्तों को नमस्कार करता हूं।

तीनों लोकों मे प्रतिष्ठाप्राप्त भगवान् ऋषभ देव से लेकर भगवान् वर्धमान तक २४ तीर्थङ्कररूप सिद्धो की शरण ग्रहण करता हूं।

**ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा भगवता ब्रह्मणा स्वयमेवा-**
**चीर्णानि ब्रह्माणि तपसा च प्राप्त परं पदम्।**

—आरण्यके

प्रस्तुत मन्त्र मे भी ऋषभदेव जी को भगवान् एव ब्रह्मा बताया गया है और उन्हे स्वय ही तप द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाले कहा गया है।

**आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु। रूपा-**
**मुपास दामेत तिस्रो रात्रो सुरा सुताः॥**

—यजुर्वेदे

यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र मे भगवान महावीर का नामोल्लेख स्पष्ट है।

**अप्पा दवि मेयवामन रोदसी इमा च विश्वाभुवनानि**
**मन्मना यूथेन निष्ठा वृषभो विराजास।**

—सामवेदे, ३ अ १ खंड०

सामवेद के इस मन्त्र मे भी भगवान् ऋषभदेव को समस्त विश्व का ज्ञाता बताया गया है।

**नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु च न मे मनः।**
**शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥**

—योगवशिष्ठ

मैं राम नही हूं, मुझे कोई कामना नही, पदार्थों में

मेरा मन नहीं, जिस तरह से जिन अपनी आत्मा मे शान्त-भाव से रहे है, उसी तरह से शान्तभाव से मैं रहना चाहता हूं। यहा शान्तिमूर्ति जिनदेवों को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

**कुलादि बीजं सर्वेषामाद्यो विमलवाहनः।**
**चक्षुष्मांश्च यशस्वी चाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ॥**
**मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।**
**अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः॥**
**दर्शयन् वर्त्म वीराणां, सुरासुर-नमस्कृतः**
**नीतित्रयाणां कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिन ॥**

——मनुस्मृतौ

सब मे प्रथम कुल के आदिबीज विमलवाहन हुए। उनके पश्चात् चक्षुष्मान् यशस्वी अभिचन्द्र और प्रसेनजित कुलकर हुए।

भरतक्षेत्र में छठवें कुलकर मरुदेव और सातवें नाभि-राजा हुए। साथ ही सातवे कुलकर श्री नाभिराजा की पत्नी मरुदेवी से आठवे कुलकर विशालाकृति ऋषभ हुए। वीरों के मार्गभूति, सुरासुरो के द्वारा वन्दनीय और तीन प्रकार की नीति के कर्ता-धर्ता तथा मार्गदर्शक इस युग के प्रारम्भ मे ही प्रथम जिन (ऋषभ) हुए।

**मरुत्वं न वृषभं वावृधानमकवारि दिव्य शासनमिन्द्र विश्वा साहम वसे नूतनायोग्रासदो दा मिहताह्वयेम:।**

— ऋग्वेद, ३६, ७-३-११।

**समिद्धस्य प्रमहसोऽवन्दे तवश्रिय वृषभो गम्भवानसिम मध्वोष्विध्यस।**

— ऋग्वेदे, ४ अ० ४ व० ६-४-१-२२।

**अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्क यजतं, विश्व-रूपम् अर्हन्निदं दयसे विश्व भवभुवं न वा आगीयो रुद्रत्वादस्ति।**

— ऋग्वेदे अ० २ अ० १ २७।

**स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा।**
**स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥**

---यजुर्वेदे अ० २५, मन्त्र १९।

**तरणिरित्सषासति बीजं पुर ध्याः युजा आव इन्द्रा-पुरुहूतं नमो नमोगिरा नेमिस्तष्टेव शुद्ध।**

ऋग्वेदे २० अ०, ५ अ०, ३ व० २७।

उपर्युक्त मन्त्रो मे तीर्थङ्कर-वाचक शब्द जैन सस्कृति के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव जी की महिमा का गान करते हुए जैन सस्कृति को वेदो से भी प्राचीन प्रमाणित कर रहे है। □□

---

[पृ० ३५ का शेषांश]

तथा निर्ग्रन्थ-श्रमणिका का उल्लेख हुआ है। अतः प्रतीत होता है कि भास इनके अतिरिक्त जैन-सम्प्रदायों से अपरिचित थे अथवा अन्य सम्प्रदाय स्थिति मे ही नहीं आए थे।

(३) चीवरधारी रक्तपटो का जो उल्लेख प्राप्त होता है वे सम्भवत बौद्ध ही थे।

(४) बात-बात मे 'उपासक' सम्बोधन देनेवाले सघचारी शाक्यश्रमणक का भी उल्लेख किया गया है तथा उनके चारित्रिक पतन की ओर भी सकेत किया गया है जो मजदूरनियो से अपनी कामपिपासा शान्त करते है। परन्तु साथ ही निर्वेद से प्रव्रजित होनेवाले भिक्षु का भी सकेत प्राप्त होता है।

(५) जैन श्रमणको के सन्दर्भ केवल 'अविमारक' में ही प्राप्त होते है। परन्तु बौद्ध श्रमणको के उल्लेख इसके साथ ही चारुदत्त एव प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे भी प्राप्त होते है।

(६) जैन श्रमणकों की बात केवल विदूषक कहता है। जबकि बौद्ध श्रमणक का उल्लेख अविमारक एव चारुदत्त में विदूषक, चेटक तथा सवाहक करता है तो प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे रुमण्वान् प्रच्छन्न रूप मे श्रमणक के वेश मे आता है।

तात्पर्य यह है कि भास-साहित्य मे श्रमणकों को चाहे प्रतिष्ठित स्थान तो प्राप्त नही हुआ हो और अधिकाश मे उन्हे विद्वेष भावना से परिहास का भाजन बनाया गया हो तथापि तद्युगीन ब्राह्मण-समाज मे श्रमणको की स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है जो स्पृहणीय और अत्याज्य है। वस्तुतः इन संकेतात्मक विवरणो से उस युग की धार्मिक स्थिति की वास्तविकता भी प्रकट होती है। □□

# जैन संस्कृत नाटकों की कथावस्तु : एक विवेचन

□ श्री बापूलाल आंजना, उदयपुर

संस्कृत वाङ्मय की अन्य विधाओं के समान नाट्य विधा को भी जैन नाटककारों ने अपनी कृतियों से भरा-पूरा किया है। नाट्याचार्य रामचन्द्र, देवचन्द्र, रामभद्र-मुनि, मेघप्रभाचार्य, बालचन्द्र सूरि, जयसिंह सूरि, नयचन्द्र, हस्तिमल्ल, ब्रह्म सूरि, नेमिनाथ, यश पाल और यश चन्द्र आदि जैन कवियों ने दो दर्जन से भी ऊपर नाटकों की रचना की है। यहां जैन नाटककारों के नाटकों के कथानक की विशेषताओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

कई जैन मुनियों ने जैन होते हुए भी महाभारत, रामायण, नलकथा, सत्य हरिश्चन्द्र कथा या अन्य पौराणिक कथाओं को अपने नाटक की कथावस्तु बनाकर इस देश की सनातन सांस्कृतिक मर्यादाओं को अभिसिंचित किया है; उन्हें अमर बनाया है। रामचन्द्र के नलविलास, सत्य हरिश्चन्द्र, निर्भयभीम व्यायोग, रघुविलास, वनमाला और हस्तिमल्ल का मैथिलिकल्याण आदिरूपक इसी प्रकार के हैं।

## महाभारत, रामायण एवं पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटक :

**नलविलास**[1]—नाट्याचार्य रामचन्द्र (१२वी शती का द्वितीय और तृतीय चरण) का यह नाटक ७ अकों का है। इसमें नल-दमयन्ती के प्रेम व विवाह की कथा निबद्ध की गई है। महाभारतीय नलकथा मे लेखक ने पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। अनावश्यक विवरणो से नाटक का कलेवर बहुत बढ़ गया है। उपदेश देने की कवि की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि अनेक स्थलो पर यह नाटक भर्तृहरिशतक व पचतत्र की भाति लोकव्यवहार का समुच्छय प्रतीत होता है।

इसमे नाटककार एक विशिष्ट उद्देश्य लेकर चला है और वह है सामाजिक अंधविश्वासो व उनके प्रवर्तकों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना। कापालिक लम्बोदर, घोर-घोण और उसकी पत्नी लम्बस्तनी की घृणित चरितावली का विस्तार इसी दृष्टि से किया गया है। वेश्या की भर-पूर निन्दा तीसरे अक मे की गई है[2]।

**निर्भयभीम**[3]—रामचन्द्र का यह व्यायोग-कोटि का रूपक है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। एक पुरुष से भीम यह सूचना पाकर की ऊँचे पर्वत पर बक राक्षस रहता है, जिसके लिए नगर के लोग एक-एक मनुष्य भेजते है जिसे वह वध्यशिला पर मारकर खाता है। भीम अन्य राक्षसों सहित वक का संहार करता है। भय-भीत ब्राह्मण परिवार अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

इस नाटक पर भास के मध्यमव्यायोग व नागानद का स्पष्ट प्रभाव है। इस नाटक में कवि ने विदेशी आक्र-मणकारियो से जर्जरित देश की रक्षा के लिए भीम के चरित्र मे भारतीय वीरो को प्रेरणा दी है। भीम के परोपकार आदि गुणों को समाज के सामने रखना भी कवि का उद्देश्य रहा है।

**सत्यहरिश्चन्द्र**[4]—छः अको के इस नाटक मे कवि ने हरिश्चन्द्र के चरित के लौकिक आदर्श को प्रस्तुत किया है। हरिश्चन्द्र की कथा कई दृष्टियों से प्रभावोत्पादक व नाटकीय तत्त्वो से युक्त है। कथा के नायक में देवता व ऋषियों का इस स्तर पर रुचि लेना संस्कृत साहित्य मे अन्यत्र कम ही पाया जाता है। मानव, देव, विद्याधर, पिशाच व पशु-पक्षी कोटि के पात्र हैं।

इसका कथानक पौराणिक युग से ही चरित्र-निर्माण

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित।
२. रामजी उपाध्याय विरचित मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ. १५७।
३. यशोविजय ग्रथमाला १९ मे बनारस से प्रकाशित।
४. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

तथा लोकानुरञ्जन के लिए सदैव घर-घर मे प्रतिष्ठित रहा है।

**रघुविलास**—आठ अंको के इस नाटक मे राम वनगमन से रावणवध तक की रामकथा को प्रस्तुत किया गया है। इसके कथानक मे कवि कई स्थलो पर नई-नई योजनाओ को लेकर चला है। इसके कथानक मे एक विशिष्ट तत्त्व सर्वाधिक समुन्नत दिखाई देता है, जो परवर्ती युग मे विशेष रूप से छायानाटको मे अपनाया गया। छायापात्रों की इतने बड़े पैमाने पर कल्पना अन्यत्र विरल ही है। विशुद्ध नकली पात्र को ही दूसरे पात्र की छायारूप मे प्रस्तुत करना जितना सौष्ठवपूर्ण इस नाटक मे है, उतना अन्यत्र कम ही दृष्टिगोचर होता है।

**वनमाला**—रामचन्द्र की यह अप्राप्य नाटिका है, जिसके उद्धरण नाट्यदर्पण में प्राप्त होते है। राजा नल नायक है और दमयन्ती उसकी विवाहिता पत्नी, जो अब महादेवी पद पर अधिष्ठित है। नल का प्रेम किसी अन्य कन्या से चल रहा है।

**मैथिलीकल्याण**—हस्तिमल्ल (१३वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध व १४वी का प्रारम्भ) के ५ अकों के इस नाटक में सीता व राम के विवाह की कथा है।

## समसामयिक कथानक

कुछ नाटककारों ने अपनी कृतियो में समसामयिक कथानक को अपनाया है। इस तरह की कृतियों मे जयसिह सूरि का हम्मीरमदमर्दन, यशःचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र और यशःपाल का मोहराजपराजय (प्रतीक नाटक) आदि ऐसे ही नाटक है। ये कृतिया तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन का विशद चित्रण उपस्थित करती है।

**हम्मीरमदमर्दन**[1]—जयसिहसूरि कृत हम्मीरमदमर्दन ५ अकों का वीररसात्मक नाटक है। जयसिह भड़ौच के मुनिसुव्रत मन्दिर के आचार्य थे। उस समय गुजरात मे धोल्का (धवलपुर) के राजा वीरधवल थे और उसके मत्री वस्तुपाल और तेजपाल थे। एक बार तेजपाल उस मन्दिर मे दर्शनार्थ गये। मुनिवर जयसिंह की इच्छानुसार बड़ा दान उस मदिर के लिए दिया। मुनिवर ने प्रसन्न होकर उन मत्रीद्वय की प्रशस्ति लिखी। हम्मीरमदमर्दन नाटक उनके स्वामी राजा वीरधवल के साथ मत्रीद्वय की उदार कीर्ति को काव्यात्मक प्रतिष्ठा देने के लिए लिखा गया।

इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, साथ ही तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक जीवन का यथार्थ चित्रण भी इसमे प्राप्त होता है। समग्र रचना मुद्राराक्षस से प्रभावित है। मुद्राराक्षस की भाति इसमे झूठे सवाद, कपटवेशधारण, गुप्तचरो का जाल, मत्री व मत्रणा का सातिशय माहात्म्य, राजाओ का सघ बनाना आदि कई समान तत्त्व प्राप्त होते है। इसमे कवि ने युवको को राष्ट्र रक्षा का सदेश दिया है —

> **त्रस्तेषु तेषु सुभटेषु विभौच भग्ने,**
> **भग्नासु कीर्तिषु निरीक्ष्य जनं भयार्तम्।**
> **यो मित्रबान्धववधूजनवारितोऽपि,**
> **वलगत्यरीन् प्रति रसेन स एव वीरः॥ ३.१५॥**

**मुद्रित कुमुदचन्द्र**[2]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशःचन्द्र की रचना मुद्रितकुमुदचन्द्र एक प्रकरण है। यह विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलबन करके लिखा गया है जो ११२४ ई० मे श्वेताम्बर मुनि देवसूरि व दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें बाद मे कुमुदचन्द्र का मुखमुद्रण हो गया। इस प्रकार इसका नाम सार्थक है।

यह नाटक समसामयिक जैनधर्म की स्थिति पर प्रकाश डालता है।

**मोहराजपराजय**[3]—जैन कवियों ने भी कृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय का अनुसरण करके प्रतीक नाटकों को धर्मप्रचार के लिए उपयोगी समझा। यशःपालदेव की

---

१. हम्मीरमदमर्दन का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज से हुआ है। द्र० मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ. २८०-२८५ और कीथकृत संस्कृत नाटक (उदयभानुसिंह कृत हिन्दी अनुवाद), पृ० २६२ से २६४।

२. काशी से प्रकाशित, वीर स० २४३२ द्र० बलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६०६।

३. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (ग्रथाक ८), बड़ौदा से प्रकाशित, १९३०।

मोहराज पराजय ऐसी ही रचना है। इसकी रचना ११७४ से ११७७ ई० के बीच हुई, जब गुजरात के कवि का आश्रयदाता अजयदेव चक्रवर्ती शासक था। इसका प्रथम अभिनय कुमारविहार मे महावीर-यात्रा के महोत्सव पर हुआ था। इसकी कथावस्तु का सार कवि ने इस प्रकार दिया है—

**पश्चात्प्राप्य कुमारपालनृपतिर्जज्ञे स चन्द्रान्वयी.**
**जैन धर्ममवाप्य पापशमनं श्रीहेमचन्द्राद्गुरोः।**
**निर्वीराधनमुज्झता विदधता द्युतादिनिवासं,**
**येनैकेन भटेन मोहनृपतिर्जिग्ये जगत्कंटकः ॥१.४॥**

(अर्थात्) राजा कुमारपाल ने जैनधर्म के श्रीहेमचन्द्र से पापशमन करने वाले जैन-धर्म की दीक्षा ली। उन्होने अपने राज्य से द्यूतादि का निर्वासन कर दिया था और जगत्कटक मोह नामक राजा पर विजय प्राप्त की थी।

पाँच अको के इस नाटक मे कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक आदि तो मनुष्यपात्र है; शेष पुण्यकेतु, विवेक, व्यवसायसागर, ज्ञानदर्पण, सदाचार, मोहराज, सदागम, रज, काम, जनमनोवृत्ति, धर्मचिन्ता, शांति, नीतिमंजरी, कृपामजरी आदि कितने ही पात्र सत् व असत् गुणो के प्रतीक हैं।

इस नाटक का कई दृष्टियों से बहुत महत्त्व है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक उपादेय है[१]। कुमारपाल के समय मे जैनधर्म के प्रचार के लिए जो व्यवस्था की गई थी, उसका उत्कृष्ट वर्णन इसमे प्राप्त होता है। इस रचना का प्रधान उद्देश्य चरित्रनिर्माण है। इस कृति मे लोकदृष्टि से आध्यात्मिक मञ्जुलता का समावेश किया गया है। इसमे यशःपालदेव को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। विण्टरनित्स ने भी इस नाटक की भूरि-भूरि प्रशसा की है कि इसमे तत्कालीन समाज, राजनीति व धर्म पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

**चन्द्रप्रभाविजयप्रकरण**[२] — आठ अको के इस नाटक के रचयिता देवचन्द्र, हेमचन्द्र के शिष्य थे। इसका प्रथम अभिनय अजितनाथ के वसन्तोत्सव पर हुआ था। इसके अन्त मे कुमारपाल के अर्णोराज की विजय का उल्लेख है। इसकी रचना ११५० ई० के लगभग हुई थी।

## जैन कथानक विषयक नाटक

कुछ नाटककारो ने जैन कथासाहित्य की इतिवृत्तात्मक सरणि पर या जैन पुराणों के कथानकों को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की है। ये कृतियां है रामचन्द्र का कौमुदीमित्रानंद, रामभद्र मुनि का प्रबुद्ध रौहिणेय, मेघप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय, बालचन्द्र सूरि का करुणावज्रायुद्ध, हस्तिमल्ल का अञ्जनापवनञ्जय व सुभद्रानाटिका, ब्रह्म सूरि का ज्योतिप्रभाकल्याण और नेमिनाथ का शमामृत। इन रूपको मे कही मुख्य रूप मे तो कही गौण रूप से जैन धर्म के प्रचार का काम अपनाया गया है।

**कौमुदीमित्रानंद**[३]—रामचन्द्र ने दस अकों के अपने इस प्रकरण मे मित्रानद को नायक व कौमुदी को नायिका बनाया है। नायक मित्रानद जिनसेन नामक बनिये का पुत्र है और नायिका का पिता कुलपति है[४]।

इस प्रकरण के विषय मे कीथ[५] की सम्मति है—"यह कृति सर्वथा नीरस है। हा, इसकी एक मात्र रोचकता विस्मयकारी घटनाओं की योजना में हैं, जो सामाजिकों को अद्भुत रस का उद्रेक करती है।" इसमे जादू, मन्त्र-तंत्र, औषधिप्रयोग, नर-बलि व शव मे प्राणसचार आदि अतिप्राकृत तत्त्व प्राप्त होते है। कापालिक की दूषित-वृत्तियो का निदर्शन, न्यायालय के धोखा व मिथ्या व्यवहार का प्रदर्शन, चोरो-डाकुओ के कामो का वर्णन आदि तत्कालीन सामाजिक दशा पर प्रकाश डालते है। पशुबलि आदि का विरोध किया गया है—

**पुण्यप्रसूतजन्मानश्चण्डालव्यालसङ्कुलाम्।**
**मांसरक्तमयों देवाः किं बलिं स्पृहयालवः ॥**[६]

कहीं-कही सदुपदेश भी दिये गये है—

---

१. गुजरात के इतिहास के विषय मे प्राप्त अभिलेखों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी पर यह नाटक महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।
—कीथ कृत सस्कृत ड्रामा (अनूदित), पृ. २७०.

२. कृष्णमाचार्य कृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. ६४४। प्रति जैसलमेर के भडारमे उपलब्ध।

३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित।

४ मध्यकालीन सस्कृत नाटक, पृ. १८३ से १८५ तक।

५ सस्कृत ड्रामा (उदयभानुसिंह कृत अनुवाद), पृ. २७४।

६. कौमुदीमित्रानद ६.१३।

**अपत्यजीवितस्यार्थे प्राणानपि जहाति या।**
**त्यजन्ति तामपि क्रूरां मातरं दारहेतवे ॥**[1]

लेखक मृच्छकटिक व दशकुमार से प्रभावित जान पड़ता है।

**प्रबुद्ध रौहिणेय**[2] -जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि रचित प्रबुद्धरौहिणेय छ अंकों का प्रकरण है। विन्टरनित्स कवि का आविर्भाव ११८५ ई० मानते हैं। प्रस्तुत नाटक में डाकू रौहिणेय के कान में महावीर की वाणी पड़ जाने से उसका अज्ञान दूर हो जाता है और वह महावीर के चरणों की सेवा करने का निश्चय करता है। उसे अपने किए पर प्रायश्चित्त होता है[3]। अन्त में राजा द्वारा उसका अभिनंदन किया जाता है[4]।

इसमें डाकू को प्रकरण का नायक बनाया गया है। इसका कथानक सम्पूर्ण संस्कृत नाटक साहित्य में अनूठा ही है। लेखक जैन है; फिर भी पूरे नाटक में कहीं भी जैनधर्म के प्रचार का बोझिल कार्यक्रम नहीं अपनाया गया है। गौण रूप में जैनधर्म के प्रचार को रखे जाने से नाटक की कलात्मकता अक्षुण्ण रह सकी है। डाकूक्षेत्र में सद्वृत्तपरायण संतों के आने जाने से डाकुओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो सकता है। प्रबुद्धरौहिणेय उसका पूर्वरूप उपस्थित करता है।

इस युग के कई नाटकों में कूट घटना और कूट पुरुषों का प्राचुर्य मिलता है। इसमें सेठ ने डाकू को पकड़ने के लिए ऐसे कापटिक कर्म व कूट घटनाओं की योजना की है—

**तैस्तैर्बुधैर्घटकूटकोटिघटनैस्तं घट्टयिष्ये तथा।**[5]

**धर्माभ्युदयः**[6] :—मेघप्रभाचार्य के धर्माभ्युदय एकांकी का प्रथम अभिनय पार्श्वनाथ जिनेन्द्र मन्दिर में यात्रोत्सव के उपलक्ष में हुआ था। इसका नायक दान, रण व तप में अग्रणी दशार्णभद्र राजा था। प्रस्तुत कृति में नायक के दीक्षा लेने का वर्णन है। इन्द्र जिनेन्द्र की वन्दना करते हुए उनके धर्माभ्युदय की प्रशंसा करता है—

**धर्माभ्युदयस्स ते जयति।**[7]

इसके बाद उसने दशार्णभद्र को नमस्कार करते हुए कहा—

**अहो मूर्तिरहो मूर्तिरहो स्फूर्तिः शमश्रियः।**
**वीतरागप्रभोर्मन्ये शिष्योऽभूदेव तादृशः ॥**[8]

इसमें धर्म-प्रचार का कार्य सौष्ठवपूर्वक व्यञ्जना से किया गया है यथा,

**जिनराज किंवदन्ती वन्दितुमुत्कण्ठिता नातिरूपास्ति।**
**सद्धर्मवचःश्रवण पुण्यैर्गुरुतरैर्भवति ॥**[9]

इसके ५ दृश्यों में इन्द्र, शची, बृहस्पति, नन्दन, चन्दन रति, प्रीति, राजा व मन्त्री आदि दिव्य व अदिव्य पात्रों को प्रस्तुत किया है। यह श्रीगदित कोटि का उपरूपक है।

**करुणावज्रायुद्ध**[10]—इस रूपक के रचयिता बालचन्द्रसूरि (१२४० ई० के पूर्व) गुजरात के सुप्रसिद्ध महामंत्री व साहित्यकार वस्तुपाल के समकालीन थे। इस कृति में वज्रायुद्ध नामक राजा की जैनधर्म के प्रति अनुपम निष्ठा का वर्णन हुआ है। वह एक श्येन से कबूतर की रक्षा के लिए कबूतर के बराबर अपने शरीर का मांस देता है, पर पूरा न होते देख अपने शरीर को ही तराजू के पलड़े में रख देता है। देवगण प्रकट होकर राजा की अतिशय प्रशंसा करते हैं। इस कृति में जैनधर्म को ही एकमात्र सद्धर्म बताया गया है जिससे अपवर्ग स्वर्ग और समृद्धि सब प्राप्य हैं; और भी—

**एक जैनं विना धर्मं मन्ये धर्मा कुधीमताम्।**
**संवृता एव शोभन्ते पटच्चरपटा इव ॥**[11]

---

१. कौमुदी मित्रानंद, ७७।

२. भावनगर से प्रकाशित।

३. प्रबुद्धरौहिणेय ६ ३४।

४. त्वं धन्यः सुकृती त्वमद्भुतगुणस्त्वं विश्वविश्वोत्तम-
स्त्वं श्लाघ्योऽखिलकल्मषं च भवता प्रक्षालितं चौर्यजम्।
पुण्यैः सर्वजनीनतापरिगतो यो भूर्भुवःस्वोऽर्चितो
यस्तौ वीरजिनेश्वरस्य चरणौ लीनः शरण्यौ भवान् ॥
—वही ६ ४०।

५. प्रबुद्धरौहिणेय ३-२२ व द्र. ५-३।

६. भावनगर से प्रकाशित।

७. धर्माभ्युदय ३५।

८. वही, ३६।

९. वही, १८।

१०. अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में उपलब्ध, भावनगर से प्रकाशित।

११. करुणावज्रायुद्ध, ४०।

स्वशरीर के मासदान के लिए तत्पर राजा की रानी के द्वारा विरत किए जाने पर उसने कहा—

**पापावरेण किमनेन शरीरकेण**
**स्वेच्छान्नपानपरिपोषपीवरेण ।**
**सर्वाशुचिप्रणयिन कृतनाशनेन**
**कार्यं परोपकृतये न हि कल्प्यते यत् ॥**[1]

**करुणावज्रायुद्ध** मे धर्मप्रचार प्रधान उद्देश्य है, और वह भी वैदिक धर्म की निन्दापूर्वक। कबूतर श्येन आदि पक्षियों को पात्र बनाना—यह भी इस कृति की अपनी ही विशेषता है[2]।

**अञ्जनापवनञ्जय**—हस्तिमल्ल के ७ अंको के इस नाटक की कथावस्तु विमलसूरि के पउमचरिउ से ली गई है। इसमे दिव्यपात्रो का क्रियाकलाप है। अञ्जना स्वयंवर मे पवनञ्जय का वरण करती है। कुछ समय बाद अञ्जना ने हनुमत को जन्म दिया। पवनञ्जय का आदित्यपुर मे अभिषेक किया गया।

**सुभद्रा नाटिका**—हस्तिमल्ल की चार अको की इस नाटिका मे विद्याधर राजा नमि की भगिनी और कच्छराज की कन्या सुभद्रा का तीर्थकर वृषभ के पुत्र भरत से विवाह का कथानक निबद्ध किया गया है। हस्तिमल्ल के इस रूपक मे व कुछ अन्य रूपको मे स्वयवर विवाह की चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि स्वयवर विवाह का पक्षपाती था।

**विक्रान्त कौरव**—हस्तिमल्ल के इस रूपक मे काशीनरेश अकम्पन की कन्या सुलोचना स्वयवर मे कुरुराज जयकुमार का वरण करती है। अर्ककीर्त्ति व जयकुमार के युद्ध मे जयकुमार अर्ककीर्ति को परास्त करता है। तब सुलोचना व जयकुमार का विवाह धूमधाम से होता है। भरत चक्रवर्ती व तीर्थकर ऋषभदेव भी प्रकारान्तर से वर्णित है। इसमे कई स्थलों पर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना की गयी है[3]।

**ज्योतिःप्रभाकल्याण**[4]—ब्रह्मसूरि ने (१४वी व १५वी शताब्दी के मधिकाल मे) ज्योतिःप्रभाकल्याण नाटक की रचना की थी। ब्रह्मसूरि नाट्याचार्य हस्तिमल्ल के वंशज है। इसका प्रथम अभिनय शातिनाथ के जन्मोत्सव पर हुआ था। इसमे शातिनाथ का पूर्वभव सम्बन्धी अमिततेज विद्याधर और ज्योतिःप्रभा का कथानक है। गुणभद्र का उत्तरपुराण इसकी कथावस्तु का आधार है। नाटक मे यत्र-तत्र जैन जीवनदर्शन की झलक प्रस्तुत की गई है—

**कायक्लान्तिः कामकेलौ कलास्वभ्यसनाश्रमः ।**
**सांसारिकं सुखं सर्वं विभ्रममेवावभासते ॥**[5]

इस युग मे जैन विचारधारा मे कुछ परिवर्तन आया। पहले तक तो जैनधर्म मे गृहस्थाश्रम के प्रति उदासीनता और उपेक्षा का भाव था, इस युग मे मनुस्मृति मे विश्लेषित आश्रमव्यवस्था मानो स्वीकार कर ली गई। कवि की उक्ति है—

**धर्मोऽर्थः कामो मोक्ष इति पुरुषार्थचतुष्टय-क्रमवेदी किमपि न त्यजति । आधारो गृहाश्रमी सर्वाश्रमिणामाहारादिदानविधानात् । न चेदनगाराणां कथं कायस्थितः ।**

**शमामृत**[6]—नेमिनाथ के शमामृत मे (१५वी शताब्दी) मे नेमिनाथ की विरक्ति की कथा है। नेमिनाथ का विवाह उग्रसेन की कन्या राजमती से होने वाला था। उनके विवाहोत्सव मे भोज बनने के लिए मारे जाने वाले असख्य पशु रो रहे है। पशुओ के रोदन को सुनकर नेमिनाथ ने सारथि से कहा—

**पशूनां रुधिरैः सिक्तो यो धत्ते दुर्गतिफलम् ।**
**विवाहविषवृक्षेण कार्यं मे नामुनाधुना ॥**

**इतर नाटक**—कुछ जैन नाटककारो ने सस्कृत नाटक परपरा से प्रभावित होकर अपने नाटको की रचना की

---

१ करुणावज्रायुद्ध, ८६।
२ मध्यकालीन सस्कृत नाटक, पृ० २७७ से २७६।
३ विक्रान्तकौरव, १.१; ३.५५; ४.१७; ५.१५; ६.५२ व ६.५४।
४. द्र० नाथूराम प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४६६। बगलौर से प्रकाशित काव्याम्बुधि, मासिक पत्रिका, प्रथम अक मे इसके प्रथम द्वितीय व तृतीय अक के तीन पृष्ठ प्रकाशित हुए है।
५. ज्योतिःप्रभाकल्याण, १.२४।
६. मुनिधर्म विजय द्वारा सपादित, भावनगर से प्रकाशित।

है। उनकी उन कृतियों का आदर्श उनसे पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककार रहे है। अतः कथावस्तु भी पूर्णतया उनसे प्रभावित जान पडता है; यथा रामचन्द्र के मल्लिका-मकरद पर भवभूति के मालतीमाधव का प्रभाव स्पष्ट है[७]। नयचन्द्र (१३वीं १४वी शताब्दी का सधिकाल) का रंभामंजरी सट्टक कर्पूरमंजरी के आदर्श पर रचा गया है[८]।

इस प्रकार जैन नाटककारों द्वारा लिखे गये संस्कृत रूपकों को कथानक के आधार पर चार वर्गों में रखा जा सकता है। कुछ रूपको म गौणरूप से जिनमे गौणरूप में जैन धर्म के प्रचार को लिया है- वे नाटककार नाटक की कलात्मकता को अक्षुण्ण रख पाए है। जिन नाटककारों ने समसामयिक कथानक को आधार बनाकर अपने रूपकों की रचना की है, वे तत्कालीन इतिहास, समाज व धर्म की दशा पर यथार्थ प्रकाश डाल पाए है। समाज की चली आ रही कुरीतियों व अंधविश्वासों को दूर करने तथा समाज सुधार को लक्ष्य बनाकर भी कुछ नाटककारो ने अपने नाटको की रचना की है। जैन नाटककारो की एक बहुत बड़ी विशेषता तो यह है कि इनमे दिव्य कोटि के पात्रो से लेकर पशु-पक्षियों को भी पात्र रूप म उपस्थित किया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र, करुणावज्रायुध व शामामृत नाटक म ऐसा किया गया है।

इन नाटको मे सत्य, अहिंसा, अचौर्य, दया, परोपकार, शाति, दान, संसार की नश्वरता, ईश-भक्ति आदि सद्-गुणो का मानवजीवन मे समावेश दिखाया गया है। मोहराजपराजय नाटक मे असत् व सत् वृत्तियों को पात्र रूप मे उपस्थित करके असत वृत्तियो पर सत् वृत्तियों की विजय दिखाई गई है। चारित्रनिर्माण ही ऐसी रचनाओं का उद्देश्य रहा है। इस प्रकार की कृतियों म नाटककारो द्वारा लोकदृष्टि मे आध्यात्मिक मञ्जुलता का समावेश किया गया है। □□

बापूलाल आजना
सी-८, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स,
दुर्गा नर्सरी राड,
उदयपुर (राज०)

---

## श्रमण मुनियों की परम्परा

उत्तरकालीन वैदिक परम्परा में वातरशनामुनि पूर्ववत सम्मान पाते हुए ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी) और श्रमण नामों से भी अभिहित होने लगे थे।

**वातरशना हवा ऋषयः श्रमणाः ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः**

—तैत्तिरीय आरण्यक ११, २६, ७.

पद्मपुराण (६, २१२) के अनुसार तप का नाम ही श्रम है। अत जो राजा राज्य का परित्याग कर तपस्या से अपना सम्बध जोड़ लेता है वह श्रमण कहलाने लगता है। मुनियों की श्रमण सज्ञा इतनी लोक-प्रचलित हुई कि आगे के समस्त वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में प्रायः इन मुनियों का श्रमण और उनकी तपस्या व अन्य साधनाओं का श्रामण्य नामों से ही उल्लेख पाया जाता है। □□

---

७. मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ. १८६।

८. डा० पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ सपादित, निर्णयसागर से १८८९ ई० में प्रकाशित। द्र० प्राकृत साहित्य का इतिहास, ले० जगदीशचन्द्र जैन, पृ ६३३-३५।

# आयुर्वेद के ज्ञाता जैनाचार्य

☐ डा० हरिश्चन्द्र जैन, जामनगर

आयुर्वेद भारतवर्ष मे चिकित्सा-शास्त्र से सम्बन्धित विषय है। इसका प्रारभ जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव के समय से होता है क्योकि भगवान ऋषभदेव ने इस देश के लोगो के लिए जिन जीवन-यापन के साधनो की ओर सकेत किया था, उनमे रोगो से जीवन की रक्षा करना भी सम्मिलित था। अतः आयुर्वेद का प्रारभ उन्ही के समय से प्रारभ हुआ है ऐसा मानना होगा।

उस समय का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नही है। किन्तु भगवान ऋषभदेव से महावीर तक इस प्रकार का ज्ञान ( oral evangelism ) मौखिक उपदेशो के द्वारा हमको प्राप्त हुआ है।

मोक्षमार्ग के लिये स्वास्थ्य ठीक रखना आवश्यक है। अत. रोगो से बचने का उपाय आयुर्वेद कहलाया। इस विषय पर उस समय तक स्वतन्त्र ग्रंथ नही लिखे गये, किन्तु जब ज्ञान को लिपिबद्ध करने की परम्परा चली तो आयुर्वेद पर स्वतन्त्र तथा अन्य ग्रन्थो मे प्रसंगवश आयुर्वेद का वर्णन आज प्राप्त है।

आगम के अनुसार १४ पूर्वो मे प्राणवाद नामक पूर्व मे आयुर्वेद आठ प्रकार का है ऐसा सकेत मिलता है, जिससे अष्टांग आयुर्वेद का तात्पर्य है। गोमटसार, जिसकी रचना १ हजार वर्ष पूर्व हुई है ऐसा सकेत है। इस प्रकार श्वेताम्बर आगमो यथा अग, उपाग, मूल, छेद आदि मे यत्र तत्र आयुर्वेद के अश उपलब्ध होते है।

भगवान महावीर का जन्म ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व हुआ था। उनके शिष्य गणधर कहलाते थे जिन्हे अन्य शास्त्रों के साथ आयुर्वेद का ज्ञान था। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य पुष्पदत एव भूतबलि ने षट्खडागम नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ ज्येष्ठ सुदी पचमी को पूर्ण हुआ था। अत यह निश्चित है कि इससे पूर्व का जैन साहित्य उपलब्ध नही है। भगवान महावीर के पूर्व आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी थे अवश्य किन्तु उनका कोई व्यवस्थित विवरण नही मिलता है। भगवान महावीर के १७० वर्ष उपरान्त अनेक जैन आचार्य हुये जिनमे अनेक आयुर्वेद साहित्य के मनीषी थे। जैन ग्रन्थो मे आयुर्वेद का महत्व प्रतिपादित किया गया है किन्तु इसकी गणना पापश्रुतों मे की है यह एक आश्चर्य है। स्थानाग सूत्र मे आयुर्वेद के आठ अंगो का नामोल्लेख आज प्राप्त होता है। आचारग सूत्र मे १६ रोगो का नामोल्लेख उपलब्ध है इनकी समानता वैदिक आयुर्वेद ग्रन्थो से है।

स्थानाग सूत्र मे रोगोत्पत्ति के कारणो पर प्रकाश डाला गया है और रोगोत्पत्ति के ६ कारण बताये गये है। जैन मनीषी धर्मसाधन के लिये शरीर रक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति मे कहा है :—

**शरीरं धर्मसंयुक्त रक्षणीय प्रयत्नतः।**
**शरीराच्छ्रवते धर्मः पर्वतात् सलिल यथा ॥**

अर्थात् जैसे पर्वत से जल प्रवाहित होता है वैसे ही शरीर से धर्म प्रवाहित होता है। अतएव धर्मयुक्त शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

अतः शरीर रक्षा मे सावधान जैन साधु कदाचित रोगग्रस्त हो तो वे व्याधियो के उपचार की कला विधिवत् जानते थे।

निशीथ चूर्णी मे वैद्यक शास्त्र के पडितो को दृष्टिपाठी कहा है। जैन ग्रन्थों मे अनेक वैद्यो का वर्णन मिलता है जो काय-चिकित्सा तथा शल्यचिकित्सा मे अति निपुण होते थे। युद्ध मे भी वे जाकर शल्य चिकित्सा करते थे ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी साधु एव गृहस्थ दोनो वर्गो के थे।

हरिणेगमेषी द्वारा महावीर के गर्भ का अपहरण एक अपूर्व तथा चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से विचारणीय घटना है। आचार्य पद्मनदी ने अपनी पचविंशतिका मे

श्रावक को मुनियों के लिये औषध दान देने की चर्चा की है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि श्रावक जैन धर्म की समस्त दृष्टियों से अनुकूल औषध व्यवस्था करते थे। इस प्रकार के जैन आयुर्वेद साहित्य के मनीषी विद्वान ही उसमे परामर्श दाता होते थे।

आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी विद्वानो की परम्परा निम्न प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने योग्य है।

आदिनाथ (श्रीऋषभदेव स्वामी)

भरतचक्रवर्ती पुत्र. भगवान महावीर स्वामी

गणधर एव शिष्यप्रशिष्य, मुनि एव साधु आदि।

उक्त ऐतिहासिक परम्परा का वैदिक आयुर्वेद साहित्य से कोई मतभेद नही है। भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर स्वामी तक के आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषियो का कोई लिखित साहित्य नही है, किन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त जब से शास्त्र लिखने की परम्परा प्रारभ हुई, उसके बाद जो आचार्य हुए उन्होने जो आयुर्वेद साहित्य लिखा है उसका विवरण अवश्य आज भी प्राप्त है और अधिकाश का नामोल्लेख शास्त्रो मे विकीर्ण मिलता है।

मुझे अब तक आयुर्वेद साहित्य के जिन जैन मनीषियो का नाम, उनके द्वारा लिखित कृति तथा काल का ज्ञान हुआ है उसे मैं नीचे एक सूची के द्वारा व्यक्त कर रहा हू जिससे सम्पूर्ण जैन आचार्यो का एक साथ ज्ञान हो सके।

| आचार्य नाम | ग्रन्थ | काल | विषय |
|---|---|---|---|
| १ श्रुतकीर्ति | — | — | |
| २ कुमारसेन | — | — | |
| ३ वीरसेन | — | — | विष एव ग्रह |
| ४ पूज्यपाद पात्रस्वामी | वैद्यामृत | १२ वी.श. | शालाक्यतत्र |
| ५ सिद्धसेन दशरथ गुरू | | | बालरोग |
| ६ मेघद्वाद | | | बालरोग |
| ७ सिंहनाद | | | वाजीकरण एव रसायन |
| ८ समन्तभद्र | (१) पुष्पायुर्वेद | | |
| | (२) सिद्धान्त रसायन कल्प | १० वी. श. | रसायन |
| ९ जटाचार्य | — | — | |
| १० उग्रादित्य | कल्याणकारक | ९ वी. श | चिकित्सा |
| ११ वसवराज | — | — | |
| १२ गोमम्टदेवमुनि | मेरूस्तम्भ | | |
| १३ सिद्धनागार्जुन | — नागार्जुनकल्प, नागार्जुनकक्षपुट | | |
| १४ कीर्तिवर्म | | | गौ वैद्य |
| १५ मगराज | खगेन्द्रमणी दर्पण | | |
| १६ अभिनवचन्द्र | हृदयशास्त्र | | |
| १७ देवेन्द्रमुनि | बालग्रह चिकित्सा | | |
| १८ अमृतनदी | वैद्यक निघटु | | |
| १९ जगदेवमहापचवार | श्रीधरदेव वैद्यामृत | | |
| २० सालव | रसरत्नाकर वैद्य सागत्य | | |
| २१ हर्षकीर्ति सूरी | योग चिन्तामणि | | |
| २२ जैन सिद्धान्त भवन आरा के वैद्य मारसग्रह, | आरोग्य चिन्ता मणि | | |
| २३ पूज्यपाद– | अकलक सहिता, इन्द्र नदीसहिता | | औषध प्रयोग |
| २४ आशाधर वैद्य | अष्टाग हृदयटीका | १३ वी. श. | |
| २५ सोमनाथ | कल्याणकारक (कन्नड) | | |
| २६ नित्यनाथ सिद्ध | रसरत्नाकर | १४ वी. श. | रसायन |
| २७ दामोदर भट्ट | आरोग्य चिन्तामणि (कन्नड) | | |
| २८ धन्वन्तरी | धन्वन्तरी निघटु कोश | | |
| २९ नागराज | योगशतक | | |
| ३० कवि पार्श्व | रोगरत्नावली | | |
| ३१ कविमानजी | कविप्रमोद | १७४६ वि. स. | रस-शास्त्र |
| ३२ रामचन्द्र | वैद्य विनोद | १८१० वि. स. | सग्रह |
| ३३ दीपचन्द्र | बालतत्र भाषा वचनिका | १८३६ वि स. | कौमार-भृत्य |
| ३४ लक्ष्मी-वल्लभ | लघन पथ्य निर्णय कालज्ञान | १८ श. | |
| ३५ दरवेश हकीम | प्राणसुख | १८०६ वि. स. | |
| ३६ मुनि यशकीर्ति | जगसुन्दरी प्रयोगशाला | | |

| | | |
|---|---|---|
| ३७ देवचन्द्र | मुष्टिज्ञान | ज्योतिष एव वैद्यक |
| ३८ नयन सुख | वैद्यक मनोत्सव, सन्तान विधि सन्निपात कलिका, सान्नोन्तर रास | |
| ३९ कृष्ण दास | गधक कल्प | |
| ४० जनार्दन गोस्वामी | बाल विवेक वैद्यरत्न | १८ वी. वि. सं. |
| ४१ जोगीदास | सुजानसिह रासो | १७६२ वि. स. |
| ४२ लक्ष्मीचन्द्र | | |
| ४३ समरथ सूरी | रसमजरी | १७६४ वि. स |

ऊपरलिखित तालिका म मैने ऐसे आयुर्वेद के जैन मनीषियो का नामोल्लेख किया है जिन्होने आयुर्वेद साहित्य का प्रणयन प्रधान रूप मे किया है। साथ ही वे चिकित्सा कार्य मे निपुण थ। किन्तु प्राचीन जैन साहित्य के इतिहास का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि बहुत से विद्वान आचार्य एक से अधिक विषय के ज्ञाता होते थे। आयुर्वेद के मनीषी इस नियम से मुक्त नही थे। वे भी साहित्य के साथ दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, मत्र, रसतन्त्र आदि के साथ आयुर्वेद का ज्ञान रखते थे। आयुर्वेद के महान शल्यविद आचार्य सुश्रुत ने कहा है :—

**एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याद् शास्त्रनिश्चयम्**
**तस्माद् बहुश्रुतः स्यात् विजानीयात चिकित्सकः ॥**

कोई भी व्यक्ति एक शास्त्र का अध्ययन कर शास्त्र का पूर्ण विद्वान नही हो सकता है, अतः चिकित्सक बनने के लिये बहुश्रुत होना आवश्यक है।

मैं कुछ ऐसे आयुर्वेद के जैन मनीषियों की गणना कराउगा जिनके साहित्य मे आयुर्वेद विकीर्ण रूप से प्राप्त है :— पूज्यपाद या देवनदी, महाकवि धनंजय, आचार्य गुणभद्र, सोमदेव, हरिश्चन्द्र, वाग्भट्ट, शुभचन्द्र, हेमचन्द्राचार्य, प. आशाधर, पं जाजाक, नागार्जुन सोढ़ल, वीरसिह। इन्होने स्वतत्र साहित्य रचना की है तथा इनके साहित्य मे आयुर्वेद के अश विद्यमान है।

यह एक सम्पूर्ण दृष्टि है जो आयुर्वेद के जैनाचार्यों के लिये कठिनाई जा सकती है। वैसे पूर्वमध्य युग अर्थात् ७००-१२०० ईसवी से पूर्व का कोई जैनाचार्य आयुर्वेद के क्षेत्र मे दृष्टिगोचार नही होता है। आयुर्वेद के जैन मनीषी सर्व प्रथम आचार्य पूज्यपाद या देवनदी को माना जा सकता है।

(१) पूज्यपाद :- इनका दूसरा नाम देवनदी है। ये ई. ५ श मे हुये है। इनका क्षेत्र कर्नाटक रहा है। ये दर्शन, योग, व्याकरण तथा आयुर्वेद के अद्वितीय विद्वान थे। पूज्यपाद अनेक विशिष्ट शक्तियो के धनी विद्वान थे। वे दैवी शक्तियुक्त थे। उन्होने गगनगामिनी विद्या मे कौशल प्राप्त किया था। यह पारद (Mercury) के विभिन्न प्रयोगो का करते थे। विभिन्न धातुओं से स्वर्ण बनाने की क्रिया जानते थे। उन्होन शालाक्य तत्र पर ग्रन्थ लिखा है। इनके वैद्यक ग्रन्थ प्रायः अनुपलब्ध हे किन्तु इनका नाम अनेक आयुर्वेद के आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे लिखा है और इनके आयुर्वेद साहित्य तथा चिकित्सा वैदुष्य की चर्चा भी की है। आचार्य श्री शुभचन्द्र ने अपने "ज्ञानार्णव" के एक एक श्लोक द्वारा वैद्यक ज्ञान का परिचय दिया है :

**अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसम्भवम्।**
**कलकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥**

यह श्लोक ठीक उसी प्रकार का है जैसा पतञ्जलि के बारे मे लिखा है :—

**योगेन चित्तस्यपदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।**
**योऽपाकरोत् त वरदं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि ॥**

ऐसा लगता है कि पूज्यपाद पतजलि के समान ही प्रतिभाशाली वैद्यक के जैनाचार्य थे।

कन्नड़ कवि मगराज जो वि. स. १४१६ मे हुए है जिन्होने "खगेन्द्रमणि दर्पण" आयुर्वेद का ग्रन्थ लिखा है, उन्होने लिखा कि मैने अपने इस ग्रन्थ का भाग पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ से संगृहीत किया है। इसम स्थावर विषों की प्रक्रिया और चिकित्सा का वर्णन है। बौद्ध नागार्जुन से भिन्न एक नागार्जुन जो पूज्यपाद के बहनोई थे उन्हें पूज्यपाद ने अपनी वैद्यक विद्या सिखाई थी। रसगुटिका जो खेचरी गुटिका थी, का निर्माण सिखाया था। पूज्यपाद

रसायनशास्त्र के विद्वान थे। वे अपने पैरो में गगनगामी लेप लगा कर विदेह क्षेत्र की यात्रा करते थे, ऐसा कथानक साहित्य मे मिलता है।

दिगम्बर जैन साहित्य के अनुसार पूज्यपाद आयुर्वेद साहित्य के प्रथम जैन मनीषी थे। वे चरक, पतजलि की कोटि के विद्वान थे। जिन्हे अनेक रसशास्त्र, योगशास्त्र और चिकित्सा की विधियों का ज्ञान था। साथ ही शल्य एवं शालाक्य विषय के विद्वान आचार्य थे।

**(२) महाकवि धनंजय**— इनका समय वि. स. ९६० है। इन्होंने "धनजय निघटु" लिखा है जो वैद्यक के साथ कोश का ग्रन्थ है। ये पूज्यपाद के मित्र थे और समकालीन थे जैसा यह श्लोक प्रकट करता है—

प्रमाणमकलकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

इन्होंने विषापहार स्तोत्र लिखा है जो प्रार्थना द्वारा रोग दूर करने के हेतु लिखा है।

**(३) गुणभद्र**—ये शक संवत ७३७ में हुए है। इन्होंने 'आत्मानुशासन' लिखा है जिसमे आद्योपान्त आयुर्वेद के शास्त्रीय शब्दो का प्रयोग किया गया है और फिर शरीर के माध्यम से आध्यात्मिक विषय को समझाया है। इनका वैद्यक ज्ञान वैद्य से कम नही था।

**(४) सोमदेव**—९ वी श. के आचार्य है यशस्तिलक चम्पू मे स्वस्थ वृत्त का अच्छा वर्णन किया है। इन्हे वनस्पतिशास्त्र का ज्ञान था क्योंकि उन्होंने शिखण्डी ताडव वन की औषधियो का वर्णन किया है। ये रसशास्त्र के ज्ञाता थे।

**(५) हरिश्चन्द्र**—ये धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता है किन्तु कुछ वैद्यक ग्रन्थो मे इनका नाम आता है। कुछ विद्वान इन्हे खरनाद सहिता के रचयिता मानते है।

**(६) शुभचन्द्र**—११ वी श के विद्वान थे। इन्होंने ध्यान एव योग के सबन्ध मे ज्ञानार्णव लिखा है। यह भी आयुर्वेद के ज्ञाता थे।

**(७) हेमचन्द्राचार्य**— योगशास्त्र के विद्वान् थे।

**(८) शोढ़ल**—ये १२वी श. ईसवी मे हुए है। इनका क्षेत्र गुजरात था। इन्होंने आयुर्वेद के "गद निग्रह" और "गुण सग्रह" ग्रन्थ लिखे है। वे उपलब्ध है और प्रायोगिक व्यवहार के लिये उत्तम ग्रन्थ है।

**(९) उग्रादित्य**—ये ९वी श ईसवी के कर्नाटक के जैन वैद्य थे, धर्मशास्त्र एव आयुर्वेद के विद्वान थे। जीवन का अधिक समय चिकित्सक के रूप मे व्यतीत किया था। ये राष्ट्रकूट नृप राजा तुग अमोघवर्ष के राजवैद्य थे। इन्होंने कल्याण-कारक नामक चिकित्सा ग्रन्थ लिखा है जो आज उपलब्ध है। इसमे २६ अध्याय है। इनमे रोग-लक्षण, चिकित्सा, शरीर, कल्प, अगदतत्र एव रसायन का वर्णन है। यह सोलापुर से प्रकाशित है। रोगो का दोषानुसार वर्गीकरण आचार्य की विशेषता है। इन्होंने जैन आचार-विचार की दृष्टि से चिकित्सा की व्यवस्था मे मद्य, मास और मधु का प्रयोग नही बताया है। इन्होंने अमोघवर्ष के दरबार मे मासाहार की निरर्थकता वैज्ञानिक प्रमाणो के द्वारा प्रस्तुत की थी और अन्त मे वे विजयी रहे।

मासाहार रोग दूर करने की अपेक्षा अनेक नये रोगो को जन्म देता है, यह इन्होंने लिखा है। यह बात आज के युग में उतनी ही सत्य है जितनी उस समय थी।

**(१०) वीर सिंह**—ये १३वी श. ईसवी मे हुये है। इन्होंने चिकित्सा की दृष्टि से ज्योतिष का महत्त्व लिखा है। वीरसिंहावलोक इनका ग्रन्थ है।

**(११) नागार्जुन**—इस नाम के कई आचार्य हुये थे जिनमे ३ प्रमुख है। जो नागार्जुन सिद्ध नागार्जुन थे ६०० ईसवी मे हुए है। वे पूज्यपाद के शिष्य थे। उन्हे रसशास्त्र का बहुत ज्ञान था। उन्होंने नेपाल, तिब्बत आदि स्थानो की यात्रा की और वहा रसशास्त्र को फैलाया था। इन्होंने पूज्यपाद से मोक्ष-प्राप्ति हेतु रसविद्या सीखी थी। इन्होंने (१) रसकाचपुटम् और (२) कक्षपुट तथा सिद्ध चामुण्डा ग्रन्थ लिखे थे। भदन्त नागार्जुन और भिक्षुनागार्जुन बौद्ध मतावलम्बी थे।

**(१२) पडित आशाधर**—ये न्याय, व्याकरण, धर्म आदि के साथ आयुर्वेद साहित्य के जैन मनीषी थे। इन्होंने अष्टाग हृदय नामक (वाग्भट्ट, जो आयुर्वेद के ऋषि थे, उनके ग्रन्थ की) उद्योतिनी टीका की है, जो अप्राप्य है। इनका काल वि. सं. १२७२ है। ये मालव नरेश अर्जुन-

वर्मा के समय धारा नगरी में थे। इनके वैद्यक ज्ञान का प्रभाव इनके "सागारधर्मामृत" ग्रन्थ मे मिलता है। अत. ये विद्वान् वैद्य थे। इनके लिए सूरि, नयविश्वचक्षु, कलिकालिदास, प्रज्ञापुज आदि विशेषणो का प्रयोग किया गया है। अत इनके वैद्य होने मे सदेह नही है। पडितजी ने समाज को पूर्ण अहिंसक जीवन बिताते हुए मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है। शरीर, मन, और आत्मा का कल्याणकारी उपदेश इनके सागारधर्मामृत मे है। उनके अनुसार यदि श्रावक आचरण करे तो रुग्ण होने का अवसर नही आ सकता है।

(१३) **भिषक् शिरोमणि हर्षकीर्ति सूरि**— इनका ठीक काल ज्ञात नही हो सका है। ये नागपुरीय तपागच्छीय चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और मानकीर्ति इनके गुरु थे। इन्होने योगचिन्तामणि और व्याधिनिग्रह ग्रन्थ लिखे है। दोनो उपलब्ध है और प्रकाशित है। दोनो चिकित्सा के लिए उपयोगी है। इनके साहित्य मे चरक, सुश्रुत एव वाग्भट्ट का सार है। कुछ नवीन योगो का मिश्रण है जो इनके स्वय के चिकित्सा ज्ञान की गरिमा है। ग्रन्थ जैन आचार्यो की रक्षा हेतु लिखा गया है।

(१४) **डा० प्राणजीवन माणिकचन्द्र मेहता**— इनका जन्म १८८६ में हुआ। ये एम. डी डिग्रीधारी जैन है। इन्होने चरकसंहिता के अंग्रेजी अनुवाद मे योग दान दिया है। ये जामनगर की आयुर्वेद सस्था मे सचालक रहे है।

इस प्रकार आयुर्वेद साहित्यके अनेक जैनमनीषी आचार्य हुए है। वर्तमान काल मे भी कई जैन साधु तथा श्रावक चिकित्सा शास्त्र के अच्छे जानकार है किन्तु उन्होंने कोई ग्रन्थ नही लिखे है। मैने कई जैन साधुओं को शल्य चिकित्सा का कार्य सफलता पूर्वक निष्पन्न करते हुए देखा है।

जैन आचार्यो ने आयुर्वेद साहित्य का लेखन तथा व्यवहार समाज हित के लिए किया है। भारतवर्ष में जैन धर्म की अपनी दृष्टि है और उसमे जीवन को सम्यक् प्रकार से जीते हुए मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त करना दृष्टव्य है। इसलिए आहार-विहार आदि के लिए उन्होंने अहिंसात्मक समाज निर्माण विचार का वर्णन किया है। चिकित्सा मे मद्य, मास और मधु के प्रयोग का धार्मिक दृष्टि से समावेश नही किया है। वैदिक परम्परा के आचार्यों ने जो आयुर्वेद साहित्य लिखा है उससे तो जैन परम्परा के द्वारा लिखित आयुर्वेद साहित्यमे उक्त दोनो परम्पराओ की अच्छी बातो के साथ साथ निजी विशेषतायें है। वे अहिंसात्मक विचार के है जिनका सबध शरीर, मन और आत्मा से है। इसका फल समाज मे अच्छा हुआ है। आज जैन आचार्यो ने जो आयुर्वेद साहित्य लिखा है उसके सैद्धान्तिक एव व्यवहार पक्ष का पूरा परीक्षण होना शेष है। जैन समाज तथा शासन को इस भारतीय ज्ञान के विकास हेतु आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए।

□□

## *शिव और जिन की पूजा विधि में एकरूपता*

जैन और शैव की पूजा सामग्री में एकरूपता है। जल, सुगध, अक्षत, दीपधूप, नैवेध और फल यही अष्ट द्रव्य दोनों की पूजा-विधियों की साधन सामग्री होती है

**पत्रैः पुष्पैः फलैर्वापि जलैर्वा विमलैः सदा।**
**करवीरैः पूज्यमानः शकरो वरदो भवेत्॥**

—स्कन्दपुराण १, ५, ८६। अग्नि पुराण ७४, ६३ आदि

# तीर्थंकर महावीर

□ श्री प्रेमचन्द जैन, एम० ए०, दर्शनाचार्य, जयपुर

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करते है तो हृदय मग्न रह जाता है। यह विश्वास ही नही हो पाता कि क्या भारतीय संस्कृति इतनी विकृत, इतनी गन्दली, इतनी तिरस्कृत बन सकती है? सत्ता, महत्ता, प्रभुता व अन्धविश्वास के नाम पर इतने अत्यधिक अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार पनप सकते है? संक्षेप मे कहा जा सकता है कि उस युग मे मानव मानव न रहकर दानव बन चुका था; धर्म के नाम पर, संस्कृति के नाम पर, सभ्यता के नाम पर वह मूक पशुओ के प्राणो के साथ खिलवाड कर रहा था। जाति-वाद, पथवाद और गुरुडमवाद का स्वर इतना तेजस्वी बन चुका था कि मानवता की आवाज सुनाई नहीं दे रही थी। स्त्री-जाति की दशा भी दयनीय थी। वह गृहलक्ष्मी के पद से हटकर गृहदासी बन गई थी। मानवीय आदर्शों के लिए वस्तुतः वह एक प्रलय की घड़ी थी।

ऐसी विकट घड़ी मे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्य रात्रि मे विदेह (बिहार) देशस्थ कुण्डपुर[1] मे भगवान महावीर का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम त्रिशला[2] (प्रियकारिणी), पिता का नाम सिद्धार्थ[3], बड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन[4], बहन का नाम सुदर्शना[5] तथा नाना का नाम चेटक[6] था।

तेजःपुंज भगवान के गर्भ मे आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनों की, धन धान्य की विशेष समृद्धि हुई, उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा, माता की प्रतिभा चमक उठी, वह सहज ही अनेक गूढ़ प्रश्नो का उत्तर देने लगी और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख-शान्ति का अधिक अनुभव करने लगे। इससे जन्म काल मे आपका सार्थक नाम 'वर्द्धमान' रखा गया[7], ऐसा प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक डाक्टर हर्मन जेकोबी और डाक्टर ए० एफ० आर० हार्नल आदि का मन्तव्य है।

ज्ञातृकुल मे उत्पन्न होने से दूसरा नाम 'नायपुत्र' (ज्ञातपुत्र या ज्ञातपुत्त) रखा गया। आचारांग[8], सूत्रकृतांग[9], भगवती[10], उत्तराध्ययन[11], दशवैकालिक[12] आदि मे प्रस्तुत नाम का स्पष्ट उल्लेख अनेक स्थलो पर

---

१. श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कुछ ग्रन्थो मे 'क्षत्रियकुण्ड' ऐसा नामोल्लेख भी मिलता है जो सम्भवत कुण्डपुर का एक मोहल्ला जान पड़ता है; अन्यथा, उसी सम्प्रदाय के दूसरे ग्रन्थों मे कुण्डग्रामादि रूप से कुण्ड-पुर का साफ उल्लेख पाया जाता है। यथा—
"हत्थुत्तराहि जाओ कुडग्गामे महावीरो।"
आ० नि० भा०
यह कुण्डपुर ही आजकल कुण्डलपुर कहा जाता है, जो कि वास्तव मे वैशाली का उपनगर था।

२. देखिये जैन हरिवश पुराण, सर्ग २।१८।

३. ,, ,, ,, सर्ग २।१४।

४. कल्प सूत्र १०५, पृ० ३६।

५. आचारांग दि० श्रु० भाग (ख) कल्पसूत्र सूत्र १०७, पृ० ३६।

६. आचारांग।

७. देखो, गुणभद्राचार्य कृत महापुराण का ७४वा पर्व।

८. आचारांग द्वि० श्रु० अ० १५, सू० १००३।
(ख) आ० चा० श्रु० १, अ० ८ उ० ८, ४४८।

९. (क) सूत्र उ० १, गा० २२।
(ख) सूत्र श्रु० १, अ० ६, गा० २।
(ग) सूत्र श्रु० १, अ० गाथा २४।
(घ) सूत्र श्रु० २, अ० ६, गाथा १६।

१०. भगवती श० १५, ७६।

११. उत्तरा० अ० ६, गाथा १७।

१२. दश० अ० ५, उ० २, गाथा ४६।
(ख) दश० अ० ६, गाथा २१।

हुआ है। विनयपिटक[१३], मज्झिमनिकाय[१४], दीघनिकाय[१५], सुत्तनिपात्त[१६] में भी यह नाम मिलता है। महावीर 'जात' वंश के क्षत्रिय थे। 'जात' यह प्राकृत भाषा का शब्द है और 'नात' ऐसा दन्त्य नकार से भी लिखा जाता है। संस्कृत में इसका पर्याय रूप होता है 'ज्ञात'। इसी से चारित्रभक्ति मे भी पूज्यपादाचार्य ने श्री अज्ञातकुलेन्दुना पद के द्वारा महावीर भगवान को ज्ञात वंश का चन्द्रमा लिखा है और इसी मे महावीर जातपुत अथवा ज्ञातपुत्र भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थों में भी उल्लेख पाया जाता है।[१७]

श्री जिनदास महत्ता और अगस्त्य सिंह स्थविर के कथनानुसार 'ज्ञान' क्षत्रियो का एक कुल या जाति है। वे ज्ञात शब्द से ज्ञातकुल समुत्पन्न सिद्धार्थ का अर्थ ग्रहण करते है और ज्ञातपुत्र से महावीर का[१८]। आचार्य हरिभद्र ने ज्ञात का अर्थ उदार क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है। प्रो० बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय के अनुमार, लिच्छवियों की एक शाखा या वंश का नाम 'नाय' (नात) था। 'नाय' शब्द का अर्थ सम्भवतः ज्ञाति है।[१९] 'नायधम्म कहा' कहा गया है।[२०] 'धनंजय-नाममाला' मे भी महावीर का वश 'नाथ' माना गया है और उन्हें नाथान्वय कहा गया है।[२१] सम्भवतः 'नाय' शब्द का ही 'नाथ' और नात अपभ्रश हो गया है।

भगवान् महावीर की वचपन की घटनाओ मे से खास तौर पर दो घटनायें उल्लेख योग्य है—संजय और विजय नाम के दो चारण मुनियों को तत्त्वार्थ-विषयक कोई भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था। जन्म के कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शन मात्र से उनका वह सब सन्देह तत्काल दूर हो गया और इस प्रकार उन्होंने बड़ी भक्ति से आपका नाम सन्मति रखा[२२]। दूसरी घटना—एक दिन आप बहुत से राजकुमारों के साथ वन मे वृक्ष क्रीडा कर रहे थे, इतने में वहा महा भयकर और बिशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्ष को ही मूल से लेकर स्कन्ध पर्यन्त बैठकर स्थित हो गया जिस पर आप चढ़े हुए थे। उसके विकराल रूप को देख कर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशा में वृक्षों पर से गिरकर अथवा कूद कर अपने-अपने घर को भाग गये, परन्तु आपके हृदय मे जरा भी भय का संचार नहीं हुआ। आप बिल्कुल निर्भयचित्त होकर उस काले नाग से ही क्रीडा करने लगे और आपने उस पर सवार होकर अपने वल तथा पराक्रम से उसे खूब ही घुमाया-फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्त से आप लोक मे महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए[२३]।

तीस वर्ष के कुसुमित यौवन मे भगवान् महावीर संसार-देहभोगो से पूर्णतया विरक्त हो गये। उन्हे अपने आत्मोत्कर्ष को साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करने

१३. महावग्ग पृ० २४२।
१४. (क) उपालि सुत्तन्त—पृ० २२२।
(ख) चूल दुक्ख करबन्ध सुत्तन्त पृ० ५६।
(ग) चूल सारोपम सुत्तन्त पृ० १२४।
(घ) महासच्चक सुत्तन्त पृ० १४७।
(ङ) अभयराज कुमार सुत्तन्त पृ० २३४।
(च) देवरह सुत्तन्त पृ० ४२८।
(छ) सामागाय मुत्तन्त पृ० ४४१।
१५. (क) सामांजफल सुत्त पृ० १८-२१।
(ख) सगीति परियाय सूत्त २८२।
(ग) महापरिनिर्वाण सूत्त पृ० १४५।
(घ) पासादिक सूत्त २५२।
१६. सुभिय सुत्त, पृ० १०८।
१७.
१८. (क) दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ० २२१,
(ख) अगस्त्य चूर्णि।
१९. जैन भारती, वर्ष २, अ० १४-१५, पृ० २५६।
२०. जयधवला—भाग १, पृ० १२५।
२१. धनंजय नाममाला, ११५।
२२. सजयस्यार्थसदेहे संजाते विजयस्य च।
जन्मान्तरमेवें न मन्येत्यालोकमात्रतः॥
तत्सन्देहगते ताभ्यां चारणाभ्या स्वभक्तितः।
अस्तेवषसन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः॥
—महापुराण, पर्व ७४वां।
२३. इसमे से पहली घटना का उल्लेख प्रायः दिगम्बर ग्रंथों में और दूसरी का दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रथों में बहुलता से पाया जाता है।

की ही नहीं, किन्तु संसार के जीवों को सन्मार्ग पर लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा करने की एक विशेष लगन लगी। दीन दुखियों की पुकार उनके हृदय मे घर कर गई और इसलिए उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवास को उचित न समझ कर, जबकि चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र पर ही विद्यमान था, तब मगसिर वदी दशमी के दिन जगल का रास्ता लिया[२४]।

तदनन्तर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानरूपी महानेत्रों को धारण करने वाले भगवान् ने बारह वर्ष तक अनशन आदिक बारह प्रकार का तप किया[२५]। तत्पश्चात् गुणसमूहरूपी परिग्रह को धारण करने वाले श्री वर्द्धमान स्वामी विहार करते हुए ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृम्भिक गाव के समीप पहुंचे। वहा बैशाख सुदी दशमी के दिन दो दिन के उपवास का नियम कर वे शाल वृक्ष के समीप स्थित शिलातल पर आतापन योग मे आरूढ़ हुए। उसी समय जब कि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी नक्षत्र मे स्थित था, तब शुक्ल ध्यान को धारण करने वाले वर्धमान जिनेन्द्र घातिया कर्मों के समूह को नष्टकर केवलज्ञान का प्राप्त हुए[२६]।

सर्वज्ञ होने के पश्चात् भगवान् महावीर छियासठ दिन तक मौन से विहार करते हुए जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये[२७]। वहा भगवान् के आने का वृत्तान्त जान कर चारो ओर से आने वाले सुरों और असुरो से जगत इस प्रकार भर गया जिस प्रकार मानो जिनेन्द्रदेव के गुणो से ही भर गया हो। इस प्रकार, जब बारह कोठो मे बारह गण जिनेन्द्र भगवान् के चारो ओर प्रदक्षिणा रूप से परिक्रमा, स्तुति और नमस्कार कर विद्यमान थे, तब समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने वाले एव राग, द्वेष और मोह इन तीनों दोषो का क्षय करने वाले पापनाशक श्री जिनेन्द्र देव से गौतम गणधर ने तीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए प्रश्न किया[२८]। तदनन्तर भगवान् महावीर प्रभु ने श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के प्रात. काल के समय अभिजित नक्षत्र मे समस्त संशयो को छेदने वाले, दुन्दुभि के शब्द के समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्य ध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलने के लिए उपदेश दिया, प्रथम ही भगवान् महावीर ने आचारांग का उपदेश दिया, पश्चात् सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्म कथांग, श्रावकाध्ययनांग, अन्तकृद्-शांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्न व्याकरणांग और विपाक सूत्रांग इन ग्यारह अंगों का उपदेश दिया।

विहार करते हुए आप जिस-जिस स्थान पर पहुचते थे और वहां आपके उपदेश के लिए जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैन साहित्य मे 'समवसरण' नाम से उल्लेखित किया गया है, उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिए खुला रहता था। पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहा पहुच जाते थे, जाति-पाति, छुआछूत और ऊंचनीच का उसमें कोई भेद नही था, सब मनुष्य एक ही मनुष्य जाति में परिगणित होते थे और उक्त प्रकार के भेदभाव को भूलकर आपस मे प्रेम के साथ रल-मिलकर बैठते और धर्म श्रवण करते थे—मानो सब एक ही पिता की सन्तान हो। इस आदर्श से समवसरण मे भगवान महावीर की समता और उदारता मूर्तिमान नजर आती थी और वे लोग तो उसमे प्रवेश पाकर बेहद सन्तुष्ट होते थे जो समाज के अत्याचारो से पीड़ित थे, जिन्हे कभी धर्मश्रवण का, शास्त्रो के अध्ययन का, अपने विकास का और उच्च संस्कृति को प्राप्त करने का अवसर ही नही मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नही समझे जाते थे। इसके सिवाय समवसरण की भूमि मे प्रवेश करते ही भगवान महावीर के सामीप्य से जीवों का बैर-भाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य भाव बन जाते थे और उनका जाति विरोध तक मिट जाता था। इसी मे सर्प को नकुल या मयूर के पास बैठने मे कोई भय नही होता था, चूहा बिना किसी सकोच के बिल्ली का आलिंगन करता था, गौ और सिंह मिलकर एक ही नाद मे जल पीते थे और मृग शावक खुशी से सिंह शावक के साथ खेलता था। यह सब महावीर के योगबल का माहात्म्य था। उनके आत्मा मे अहिंसा की

२४. हरिवंश पुराण, २।५१।
२५. जैन हरिवंश पुराण, २।५६।
२६. जैन हरिवंश पुराण, २।५७-५६।
२७. हरिवंश पुराण, २।६०।
२८. हरिवंश पुराण, २।८७-८६।

पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिए उनके सन्निकट अथवा उनकी उपस्थिति मे किसी का बैर स्थिर नहीं रह पाता था।

महावीर की धर्मदेशना और विजय के सम्बन्ध मे कवि सम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जो दो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार है :—

"Mahavira pro-claimed in India the message of the salvation that religion is a relating and not a mere social convention; that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community; that religion can not regard any barrier between man and man as an external variety. Wondrous to relate; this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power."

अर्थात्—महावीर ने डंके की चोट से भारत म मुक्ति का ऐसा सन्देश घोषित किया कि धर्म कोई महज सामाजिक रूढि नही बल्कि वास्तविक सत्य है, वस्तु स्वभाव है, और मुक्ति उस धर्म मे आश्रय लेने से ही मिल सकती है, न कि समाज के बाह्य आचारो का, विधि-विधानो अथवा क्रियाकाण्डो का पालन करने से, और धर्म की दृष्टि मे मनुष्य मनुष्य के बीच कोई भेद स्थायी नही रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षण ने बद्ध-मूल हुई जाति की हदबन्दियो को शीघ्र ही तोड़ डाला और सम्पूर्ण देश पर विजय प्राप्त की। उस वक्त क्षत्रिय गुरुओ के प्रभाव ने बहुत समय के लिए ब्राह्मणो की सत्ता को पूरी तौर से दबा दिया था।

श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर वे तीर्थंकर बने। भगवान के संघ मे चौदह हजार श्रमण और छत्तीस हजार श्रमणिया सम्मिलित हुई।[२९] नन्दीसूत्र के अनुसार चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे।[३०] इनसे ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साधुओं की सख्या इससे अधिक थी। कल्पसूत्र के अनुसार, एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएं थी।[३१] यह संख्या भी व्रती श्रावकों की दृष्टि से ही सम्भव है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालो की सख्या इससे भी अधिक होनी चाहिए।

महावीर के प्रभावोत्पादक प्रवचनों से प्रभावित होकर भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के सत भी उनकी ओर आकर्षित हुए। उत्तराध्ययन मे पार्श्वापत्य केशी और गौतम का मधुर सवाद है। संशय नष्ट होने पर उन्होंने भगवान के पाच महाव्रत वाले धर्म को ग्रहण किया।[३२] वाणिज्य ग्राम म भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी गांगेय अनगार और भगवान महावीर के बीच महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर हुए। अन्त मे सर्वज्ञ समझकर महावीर के सघ मे मिले।[३३] गौतम ने निर्ग्रन्थ उदक पेढाल पुत्र को समझाकर सघ मे सम्मिलित किया[३४] और स्थविरो को समझाकर कालस्यवेषि अनगार को भी।[३५] भगवती सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि भगवान की परिषद् मे अन्यतीर्थिक संन्यासी भी उपस्थित होते थे। आर्य स्कन्धक[३६], अम्बड[३७], पुद्गल[३८] और शिव[३९] आदि परिव्राजकों ने भगवान से प्रश्न किया और प्रश्नो के समाधान से सन्तुष्ट होकर अन्त मे शिष्य बने।

भगवान के त्यागमय उपदेश को सुनकर : (१) वीरागक, (२) वीरयश, (३) सजय, (४) एजेयक, (५) सेय, (६) शिव (७) उदयक, (८) शंख-काशी-वर्धन ने श्रमण धर्म अगीकार किया था।[४०] मगधाधीश

(शेष पृ० ५५ पर)

२९. औपपातिक वीर वर्णन, ११।
३०. नन्दी सूत्र।
३१. कल्पसूत्र, सू० १३५, पृ० ४३, सू० १३६, पृ० ४४।
३२ उत्तराध्ययन, अ० २३, गाथा ८७।
३३. भगवती श० ९, उ० ३२, सूत्र ३७८।
३४. सूत्रकृतांग श्रु० २, अ० ७, सूत्र ८१२।
३५. भगवती श० १, उ० ९, सूत्र ७४।
३६. भगवती श० १, उ० १।
३७. औपपातिक टी० सूत्र ४, पृ७ ८१२, १९५।
(ख) भगवती श० १४, उ० ८।
३८. भगवती श० २, उ० ५।
३९. भगवती श० उ० १०।
४०. ज्ञातधर्म कथा, अ० १।

# खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर का शिल्प वैभव

☐ श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, आजमगढ़

मध्यप्रदेश के सतना जिले के छतरपुर नामक स्थान पर स्थित खजुराहो मध्ययुगीन भारतीय स्थापत्य एव मूर्तिकला का एक विशिष्ट केन्द्र रहा है। अपने वास्तु एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य और साथ ही कामक्रिया से सम्बन्धित चित्रणो के कारण खजुराहो के मन्दिर आज भी विश्व प्रसिद्ध है। मध्ययुग मे खजुराहो चन्देल शासको की राजधानी रही है। चन्देल शासकों के काल म हिन्दू मन्दिरो के साथ ही खजुराहो मे जैन मन्दिरो का भी निर्माण किया गया था। खजुराहो मे सम्प्रति तीन प्राचीन और ३२ नवीन जैन मन्दिर अवस्थित है। वर्तमान मे खजुराहो ग्राम के समीप अवस्थित जैन मन्दिरो का समूह खजुराहो का पूर्वी देव-मन्दिर-समूह कहलाता है। जैन मन्दिरों मे सम्प्रति पार्श्वनाथ और आदिनाथ मन्दिर ही पूर्णतः सुरक्षित है। तीसरा मन्दिर घण्टई मन्दिर है, जिसका केवल अर्धमण्डप एव महामण्डप ही अवशिष्ट है। उपर्युक्त प्राचीन मन्दिरों के अतिरिक्त खजुराहो मे १५ अन्य जैन मन्दिर भी रहे है। इसकी पुष्टि उपर्युक्त सुरक्षित मन्दिरो के पाच उत्तरागो के अतिरिक्त १५ अन्य उत्तरांगो की प्राप्ति से होती है। जैन परम्परा मे मान्यता है कि ६५० ई० से १०५० ई० के मध्य खजुराहो म ८४ जैन मन्दिरो का निर्माण किया गया था (विविध तीर्थ कल्प)। खजुराहो की जैन मूर्तियो का समूचा समूह दसवी से बारहवी शती ई० ( ६५०—११५० ई० ) के मध्य तिथ्यकित किया गया है।

खजुराहो की समस्त जैन शिल्प सामग्री एव स्थापत्यगत अवशेष दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसका आधार जैन तीर्थकरो ( या जिनो ) की निर्वस्त्र मूर्तियो और प्रवेशद्वार पर १६ मागलिक स्वप्नो के चित्रण है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा की मूर्तियो मे तीर्थकरो का सर्वदा वस्त्र-युक्त दिखाया गया है। जैन परम्परा मे मान्यता है कि इस अवसर्पिणी युग मे अवतरित होने वाले सभी २४ तीर्थकरों की माताओं ने उनके जन्म के पूर्व शुभ स्वप्नों का दर्शन किया था। श्वेताम्बर परम्परा में शुभ स्वप्नों की संख्या १४ बताई गई है, जबकि दिगम्बर परम्परा १६ स्वप्नो के दर्शन का उल्लेख करती है।

जैन समूह के मन्दिरों मे पार्श्वनाथ मन्दिर प्राचीनतम है। पार्श्वनाथ मन्दिर अपनी स्थापत्यगत योजना एवं मूर्त अलकरणो की दृष्टि से खजुराहो के जैन मन्दिरों मे सर्वोत्कृष्ट एव विशालतम है। खजुराहो की कई विश्व-प्रसिद्ध अप्सरा मूर्तियां (दर्पण देखती, काजल लगाती, प्रेमी को पत्र लिखती और पैर मे चुभे काटे को बाहर निकालती) भी इसी मन्दिर पर उत्कीर्ण है। शिल्प, वास्तु एव अभिलेख के आधार पर पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माणकाल चन्देल शासक धग के शासन काल के प्रारम्भिक दिनो (६५०-६७० ई० ) मे स्वीकार किया गया है। मन्दिर मे सवत् १०११ ( ६५४ ई० ) का एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है।

पूर्वमुखी पार्श्वनाथ मन्दिर प्रदक्षिणापथ से युक्त गर्भगृह, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप से युक्त है। मन्दिर के पश्चिमी भाग मे एक अतिरिक्त देवकुलिका भी संयुक्त है, जिसमे ऋषभनाथ (प्रथम तीर्थंकर) की ग्यारहवी शती ई० की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। ज्ञातव्य है कि वर्तमान पार्श्वनाथ मन्दिर मूलतः प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ को समर्पित था। पर १८६० मे गर्भगृह मे स्थापित काले पत्थर की पार्श्वनाथ (२३वें तीर्थंकर) की मूर्ति के कारण ही उसे पार्श्वनाथ मन्दिर के नाम से जाना जाने लगा। मडप के ललाटबिंब पर ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी आमूर्तित है। साथ ही, गर्भगृह की मूल प्रतिमा के सिंहासन पर ऋषभ का वृषभ लाछन और छोरो पर ऋषभ से ही सम्बन्धित यक्ष-यक्षी युगल, गोमुख-चक्रेश्वरी निरूपित है।

मन्दिर की बाह्य भित्ति पर तीन पंक्तियों में देव मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से केवल निचली दो पंक्तियों की मूर्तिया ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि ऊपरी पक्ति मे केवल विद्याधर युगल, गन्धर्व एवं किन्नर की उड्डीयमान आकृतियां चित्रित है। मध्य की पक्ति में विभिन्न देव युगलों, लक्ष्मी एव तीर्थंकरों की लाँछन (या लक्षण) रहित स्थानक एव ध्यानस्थ मूर्तियां उत्कीर्णित है। उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा मे २४ तीर्थकरो की अलग२ पहचान के लिए स्वतन्त्र लाछनो की कल्पना की गई थी। सभी तीर्थंकरो के लक्षणो के निर्धारण का कार्य सातवीं-आठवीं शती ई० मे पूरा हो गया था। मूर्तियो मे तीर्थंकरों को या तो कायोत्सर्ग मे दोनो भुजाए नीचे लटकाए सीधे खडा प्रदर्शित किया जाता है, या फिर ध्यान मुद्रा मे पालथी मारकर पर्यकासन मे विराजमान। निचली पक्ति मे अष्ट दिक्पालों (इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान,) देवयुगलों (शक्ति के साथ आलिंगन मुद्रा मे) यक्षी अम्बिका (२२ वे तीर्थकर नेमिनाथ की यक्षी), तीर्थंकरो एवं चतुर्भुज शिव, विष्णु, ब्रह्मा और विश्वप्रसिद्ध अप्सराओ की मूर्तिया चित्रित है।

दोनो पक्तियों की त्रिभंग मे खड़ी स्वतत्र एव देवयुगल आकृतियो मे देवता जहा चतुर्भुज है, वही उनकी शक्ति सदैव द्विभुजा है। देवताओं की शक्तियो की एक भुजा आलिंगन की मुद्रा मे प्रदर्शित है और दूसरी मे दर्पण या पद्म स्थित है। स्पष्ट है कि विभिन्न देवताओं के साथ पारंपरिक शक्तियो, (यथा, विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ ब्रह्माणी), के स्थान पर सामान्य एव व्यक्तिगत विशिष्टताओ से रहित देवियो को आमूर्तित किया गया है। भित्ति के अतिरिक्त देवयुगलो की कुछ मूर्तियाँ अर्धमंडप की छत के समीप एव मन्दिर के कुछ अन्य भागो पर भी उत्कीर्ण है। देवयुगलो मे शिव (९ मूर्तियाँ), अग्नि (१ मूर्ति) एव कुबेर के अतिरिक्त राम-सीता (कपिमुख हनुमान के साथ) और बलराम-रेवती के चित्रण भी प्राप्त होते है। रामकथा से सम्बन्धित एक विशिष्ट दृश्य मन्दिर के दक्षिणी शिखर के समीप उत्कीर्ण है। दृश्य मे क्लाँतमुख सीता को अशोकवाटिका में बैठे और हनुमान से राम की मुद्रिका एवं सन्देश प्राप्त करते दर्शाया गया है। कुछ रथिकाओं में चतुर्भुज लक्ष्मी (३ मूर्तियाँ) एवं त्रिमुख ब्रह्माणी की भी मूर्तियां निरूपित हैं। सम्पूर्ण अध्ययन से स्पष्ट है कि जैन यक्षी अम्बिका (२ मूर्तियां) एव तीर्थंकर मूर्तियो के अतिरिक्त भित्ति एवं अन्य भागों की सभी मूर्तिया हिन्दू देवकुल के देवताओं से सम्बन्धित एव प्रभावित रही है। शिखर के समीप उत्तरी एवं दक्षिणी भागो पर कामक्रिया में रत दो युगलो का अकन प्राप्त होता है जो पूरी तरह जैन परम्परा की अवमानना है। ऐसे परम्परा विरुद्ध चित्रणो का कारण सम्भवतः उसी स्थल के हिन्दू मन्दिरों पर प्राप्त कामक्रिया मे सम्बन्धित (लक्ष्मण मन्दिर) चित्रणों का प्रभाव और जैन मन्दिरों के निर्माण मे हिन्दू शिल्पियो का कार्यरत रहा होना होगा। उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा मे किसी भी देवता को कभी अपनी शक्ति के साथ नही निरूपित किया गया है, फिर शक्ति के साथ और वह भी आलिंगन की मुद्रा में चित्रण का प्रश्न ही नहीं उठता।

गर्भगृह की भित्ति पर अष्ट दिक्पालों, तीर्थंकरो, बाहुबली एवं चतुर्भुज शिव (८ मूर्तियाँ) उत्कीर्ण है। वृषभ-वाहन से युक्त चतुर्भुज शिव की भुजाओ मे सामान्यतः नाग, त्रिशूल, कमडल एव फल प्रदर्शित है। बाह्य भित्ति की तीर्थकर मूर्तियो के विपरीत गर्भगृह की भित्ति की तीर्थंकर मूर्तियाँ लाछन, अष्टप्रातिहार्य एव यक्ष-यक्षी युगल से युक्त है। गर्भगृह की भित्ति पर कुल ९ तीर्थङ्कर मूर्तियाँ चित्रित है, जिनमे से केवल ४ मे ही लाँछन स्पष्ट है। अष्टप्रातिहार्य एव यक्ष-यक्षी युगल सभी उदाहरणो मे प्रदर्शित है। उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीर्थङ्कर मूर्तिया प्रतिमालाक्षणिक दृष्टि से पूर्ण विकसित तीर्थङ्कर मूर्तियाँ है। तीर्थंकर मूर्तियो के परिकर मे आकलित अष्टप्राति-हार्य निम्न है :—सिंहासन, दिव्यतरु, त्रिछत्र, प्रभामडल, देवदुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि एव चामरयुग्म। लगभग आठवीं-नवीं शती मे ही प्रत्येक तीर्थकर के शासन देवता होते है। उक्त मूर्तियो मे लांछनों के आधार पर केवल अभिनन्दन (चौथे तीर्थकर), सुमतिनाथ (५वें तीर्थंकर) या मुनिसुव्रत (२०वें तीर्थंकर), चन्द्रप्रभ (८वे तीर्थंकर) एवं महावीर (२४वें तीर्थंकर) की ही पहचान

सम्भव है। यक्ष-यक्षी युगल सभी उदाहरणों मे द्विभुज, सादे एवं समरूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि खजुराहो मे अभी तक (९४५ ई०) स्वतन्त्र यक्ष-यक्षी युगलो के लाक्षणिक स्वरूपो का निर्धारण नही हो पाया था।

तीर्थंकर मूर्तियों से कही अधिक महत्वपूर्ण गर्भगृह की दक्षिण भित्ति पर बाहुबली मूर्ति है। उत्तर भारत मे बाहुबली मूर्ति का यह सम्भवतः दूसरा प्राचीनतम उदाहरण है। बाहुबली निर्वस्त्र है और कायोत्सर्ग मुद्रा मे सिंहासन पर खड़े है। बाहुबली के साथ तीर्थंकर मूर्तियो के समान ही सिंहासन, चामरधरों एवं उड्डीयमान गन्धर्वों जैसे प्रातिहार्यों को भी प्रदर्शित किया गया है। बाहुबली के सम्पूर्ण शरीर से माधवी, वृश्चिक, छिपकली एवं सर्प लिपटे है। दोनों पार्श्वो मे दो विद्याधरिया आमूर्तित है जिनकी भुजाओं मे बाहुबली के शरीर से लिपटी लतावल्लरियों के छोर स्थित है। बाहुबली प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र है। इन्होंने राज्य का त्याग कर जगलो मे कठिन तपस्या की थी। तपस्या के परिणामस्वरूप ही इन्हे केवल-ज्ञान और निर्वाण-पद प्राप्त हुआ था। बाहुबली के शरीर पर माधवी, वृश्चिक, एव सर्प आदि का लिपटा होना बाहुबली के कठोर तपश्चर्या का ही सूचक है।

पार्श्वनाथ मन्दिर पर केवल दो ही जैन यक्षियों (अम्बिका एव चक्रेश्वरी) को आमूर्तित किया गया है। अम्बिका (नेमिनाथ की यक्षी) की दो मूर्तियां प्राप्त होती है, जो क्रमश बाह्य भित्ति और शिखर के समीप उत्कीर्ण है। सिंहवाहिनी अम्बिका के करों मे परम्परा के अनुरूप ही आम्रलुम्बि और बालक प्रदर्शित है। चक्रेश्वरी (ऋषभनाथ की यक्षी) की केवल एक ही मूर्ति प्राप्त होती है, जो मन्दिर के प्रवेशद्वार के ललाटबिम्ब पर उत्कीर्ण है। दशभुजा चक्रेश्वरी का वाहन गरुड़ है और उसकी अधिकतर भुजाओ मे वैष्णवी देवी (हिन्दू देवी) के आयुध चक्र, शख एव गदा प्रदर्शित है। वाग्देवी सरस्वती की ६ मूर्तियां प्राप्त होती है। सरस्वती की भुजाओं मे सामान्यतः वीणा, पुस्तक एवं पद्म प्रदर्शित है। मण्डप, गर्भगृह एव पश्चिम के संयुक्त जिनालय के उत्तरांगो पर द्विभुज नवग्रहो की स्थानक आकृतियां चित्रित है। द्वार शाखाओ पर हिन्दू मन्दिरो के सदृश ही मकरवाहिनी गगा और कूर्मवाहिनी यमुना की द्विभुज आकृतियां उत्कीर्णित है।

प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास,
श्री गांधी डिग्री कालेज, मालटारी
आजमगढ (उ० प्र०)

□□□

(पृ० ५२ का शेषांश)

सम्राट् श्रेणिक के पुत्रो ने भी भगवान के पास संयम ग्रहण किया था और श्रेणिक का सूकाली, महाकाली, कृष्णा आदि दश[41] महारानियो ने भी दीक्षा ली थी। धन्ना[42] और शीलभद्र[43] जैसे धन-कुबेरो ने भी सयम स्वीकार किया। आर्द्रकुमार[44] जैसे आर्येत्तर जाति के युवको ने और हरिकेशी[45] जैसे चाण्डाल-जातीय मुमुक्षुओ ने और अर्जुन मालाकार[46] जैसे क्रूर नर-हत्यारो ने भी दीक्षा स्वीकार की थी।

गणराज्य के प्रमुख चेटक[47] महावीर के प्रमुख श्रावक थे। उनके छः जामाता[48] उदयन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दीवर्धन, श्रेणिक और नौमल्लवी व नौ लिच्छवी ये अठारह गण-नरेश भी भगवान के परम भक्त थे।

इस प्रकार केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् तीस वर्ष तक काशी, कौशल, पांचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु, जागल, बाहुलीक, गांधार, सिन्धु, सौवीर आदि प्रान्तों परिभ्रमण करते हुए, भूले-भटके जीवन के राहियों को मार्ग दर्शन देते हुए उन्होंने अपना अन्तिम वर्षावास 'मध्यमपावा' मे सम्राट् हस्तिपाल की रज्जुकसभा मे किया।[49] कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि मे स्वाति नक्षत्र के समय बहत्तर वर्ष की आयु भोगकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए।

---

४१. अन्तकृत्त दशांग।
४२. त्रिषष्टिशलाका, पर्व १०, सर्ग १०, श्लो. २३६-२४८.
४३. त्रिषष्टिशलाका, पर्व १०, सर्ग १०, श्लो० ८४५ से १३३-१।
४४. सूत्रकृतांग टी० श्रु० २, अ० ६, प० १३६-१।
४५. उत्तराध्ययन, अ० १२। ४६. अन्तकृत दशा।
४७. आवश्यक चूर्णि उत्तरार्द्ध, प० १६४।
४८. त्रिषष्टि पर्व २०, सर्ग ६, श्लो० २८८, प० ७७-२।
४९. आवश्यक चूर्णि, भाग २, प० २६४।
(ख) त्रिषष्टि, पर्व १०, सर्ग ६, श्लो. १८७ प. ६६-२.
कल्पसूत्रसुबोधिका टीका, सूत्र १२८।
पावाए मज्झिमाए, हत्थि वालस्य रण्णो,
रंजुगसभाए अपच्छिमं अन्तरावासं
वासावासं उवागये।

# जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत में स्वतन्त्र ग्रंथों का प्रणयन

□ श्री मुनि सुशीलकुमार

जैन आचार्यों में संस्कृत में स्वतंत्र ग्रथों की रचना का श्रेय आचार्य उमास्वाती को है। ये सम्भवत. (वि० १-२ शती) पहले विद्वान थे जिन्होंने विविध आगम ग्रथों में बिखरे हुए जैन तत्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दर्शन-ग्रंथों के समान सूत्रबद्ध किया और उसे तत्त्वार्थाधिगम या अर्हत्प्रवचन के रूप में सामने रखा। इन्होंने प्रथम यह अनुभव किया कि विद्वत्समाज की भाषा संस्कृत बनी रही है, इसलिए जैन-दर्शन संस्कृत में लिखे जाने पर ही विद्वानों का ग्राह्य विषय बन सकेगा। चूंकि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, इसलिये संस्कृत का अभ्यास होने के कारण इस भाषा में ग्रन्थ निर्माण करना उनके लिये सहज था। वाचक उमास्वाती आगमिक विद्वान् थे, अतः उनकी सभी रचनाएँ आगम-परिपाटी को लिये हुये हैं। उमास्वाती का तत्त्वार्थसूत्र जहाँ जैन तत्त्वज्ञान का आदिम संस्कृत ग्रन्थ है, वहाँ जैन धर्म व आचार का निरूपण करने वाला उनका 'प्रशमरतिप्रकरण' ग्रन्थ भी अपनी श्रेणी का विशिष्ट ग्रन्थ है।

संस्कृत काव्य-निर्माण की दृष्टि से पहले जैन कवि आचार्य समन्तभद्र (वि० २-३री शती) हैं जिन्होंने 'स्वयंम्भूस्तोत्र' जैसे स्तुति-काव्य का सृजन कर जैनों के मध्य संस्कृत काव्य-परम्परा का श्रीगणेश किया। "यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि संस्कृत भाषा मे काव्य का प्रादुर्भाव स्तुति या भक्ति-साहित्य मे हुआ है यों जैन संस्कृत काव्यों की मूल आधार-शिला द्वादशांगवाणी है। 'जैनन्याय' का वास्तविक प्रारम्भ भी आ० समन्तभद्र के ग्रन्थों (आप्तमीमांसा आदि) से होता है। आचार्य समन्तभद्र ने इष्टदेव की स्तुति के ब्याज से एक ओर हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकांतवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की उन्होंने जैन परम्परा मे सर्वप्रथम न्याय शब्द का प्रयोग करके एक ओर न्याय शब्द दिया तो दूसरी ओर न्यायशास्त्र मे स्याद्वाद को गुम्फित किया।

**निम्नलिखित विषयों में निम्नलिखित जैन विद्वानों ने सर्वप्रथम संस्कृत रचना प्रस्तुत की :—**

| विषय | सर्वप्रथम रचना | समय | रचयिता |
|---|---|---|---|
| १. जैन दर्शन | तत्त्वार्थसूत्र | (वि० १-२ शती) | आचार्य उमास्वाती |
| २. जैन न्याय | आप्तमीमांसा | (वि० २-३ शती) | आ० समन्तभद्र |
| | स्वयम्भूस्तोत्र आदि ” | ” | ” |
| ३. काव्य— | | | |
| (क) भक्ति काव्य | स्वयम्भूस्तोत्र | ” | ” |
| (ख) पौराणिक | पद्मचरित | (ई० ६७६) | रविषेण |
| (ग) चरित काव्य | वरांगचरित | (८वीं शती) | जटासिंह नन्दी |
| (घ) सन्देश काव्य | नेमिदूत | (ई० १३वीं शती का अन्तिम चरण) | विक्रम |
| (ङ) सन्धान काव्य | द्विसन्धान | ८वीं शती | धनंजय |
| (च) सूक्ति काव्य | आत्मानुशासन | ९वीं शती | गुणभद्र |
| (छ) खण्ड काव्य | पार्श्वाभ्युदय | ८वीं शती | जिनसेन |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ४. | कथा-साहित्य | उपमितिभवप्रपंचकथा | ई० ९०५ | सिद्धर्षि |
| ५. | व्याकरण | जैनेन्द्रव्याकरण | ई० ४१३-४५५ | पूज्यपाद देवनन्दी |
| ६. | कोश | नाममाला, अनेकार्थनाममाला | ई० ७८०-८१६ | धनंजय |
| ७. | अलंकार (छन्द) | छन्दोनुशासन | १२वीं शती | वाग्भट |
| ८. | नाटक | ज्ञानसूर्योदय | स० १६४८ | वादिचन्द्र सूरी |
| ९. | गणित व ज्योतिष | गणितसारसंग्रह, ज्योतिषपटल | ८५० ई० | महावीराचार्य |

## जैन आचार्यों के समाज में संस्कृत का समादर

उपर्युक्त आचार्यों ने सस्कृत मे ग्रथ प्रणयन कर स्थायी परम्परा का सूत्रपात्र किया। परवर्ती आचार्यों ने विपुल साहित्य रच कर जैन संस्कृत साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। जब बौद्ध दर्शन मे नागार्जुन, बसुबन्धु, असगत तथा बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग का उदय हुआ और दार्शनिक जगत मे इन बौद्ध दार्शनिको के प्रबल तर्क प्रहारो स खलबली मच रह थी तो जैन दार्शनिको के सामने प्रतिवादियों के आक्षेपो का खण्डन कर स्वदर्शन की प्रभावना करने का महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा। इस स्थिति मे भाषा की संकीर्णता को स्थान देना अनुचित था। अन्य दार्शनिको का खण्डन उन्ही की भाषा मे करना उचित समझा गया और इस प्रकार संस्कृत को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कराने मे आगे का मार्ग प्रशस्त होता गया।

गुप्तकाल तक सस्कृत को पूरे भारत मे सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ। जैन साधु-साध्वी समाज संस्कृत भाषा मे भी परिनिष्ठित होने लगा। कहते है कि सिद्धसेन दिवाकर की मृत्यु के बाद, विशाला (उज्जयिनी) मे एक वैतालिक (चारण भाट) ने सिद्धसेन की बहिन के समक्ष, जो जैन साध्वी थी, अनुष्टुप् छन्द के दो चरण कहे :—

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे।

उक्त जैन साध्वी ने तुरन्त आगे के दो चरण कहकर उक्त छद को पूरा किया :—

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकर:॥[1]

जैन आगम की टीकाओ मे भी उसके उदाहरण मिलते है जिनसे संस्कृत के व्यवहार-भाषा होने का प्रमाण पुष्ट होता है।[2]

सिद्धर्षि (प्रथम सस्कृत कथाकार) के समय (ई० ९०५) तक सस्कृत ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी कि प्राकृत भाषा को भूलकर लोग सस्कृत रचनाओं मे अपेक्षाकृत अधिक आनन्द अनुभव करते थे। कथा-कहानियां जो अबतक प्राकृत जनभाषाओं मे रची जा रही थी, सस्कृत मे भी स्थान प्राप्त कर सकी। सिद्धर्षि स्पष्ट लिखता है —

सस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हत:।
तथापि सस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते॥
उपाये सति कर्तव्य सर्वेषा चित्तरंजनम्।
अतस्तदनुरोधेन सस्कृतेऽय करिष्यते॥
-- उपमितिभवप्रपचकथा १/५१ ५२

किन्तु निम्न कोटि के लोग तथा स्त्रियां उस समय संस्कृतभाषा न बोलकर प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करते थे, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने स्वय 'काव्यानुशासन-कारिका' की टीका मे कहा है. -

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणा नृणा चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै सिद्धान्त. प्राकृत: कृत.॥

---

१. वैतालिक का कहना था कि आजकल दक्षिणापथ में वादी रूप जुगनू इधर-उधर मण्डरा रहे है। जैन साध्वी ने कहा कि इससे यह निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर इस संसार में नही रहे (अन्यथा किसी वादी को स्वपाण्डित्य प्रदर्शित करने का साहस नही होता)।

२ हरिभद्रसूरि की आवश्यक टीका मे एक कथा है, जिसके अनुसार एक [illegible] दासियों के जरिये रानी के पास (एक पुडिया मे सामान रखने के बहाने) एक सस्कृत पद्य लिखकर भेजता है :
काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य मेघान्धकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु॥

संस्कृत रचना की होड़ ने १३वी शती तक कठिन से कठिन बन्धनों को भी तोड़ डाला। जैन मुनियो के लिए नाटक आदि विनोदों में भाग लेना वर्जित समझा गया है। फिर नाटक आदि की रचना का प्रश्न कैसे उठ सकता था? किन्तु एक समय आया कि जैन आचार्यों ने संस्कृत मे नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिये।

संस्कृत के प्रति प्रेम की भावना ने संस्कृत रचना की परम्परा को निरन्तर कायम रखा। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा मे जैनो के 'समस्त-सुत्तस्स अणन्तो अत्थो' (=समस्त आगमसूत्रो के अनन्त अर्थ है) वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह बात महामहोपाध्याय समयसुन्दर जी को बुरी लगी और उन्होंने राजा को 'राजानो ददते सौख्यम्' इस ८ अक्षरी वाक्य के १० लाख २२ हजार चार सौ सात अर्थ कर दिखाये। समयसुन्दर की यह कृति 'अष्टलक्षी' नाम से संस्कृत साहित्य की शोभावृद्धि कर रही है और अभी वह अप्रकाशित है।

## संस्कृत प्राकृत की स्वामिनी बनी!!

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो छान्दस भाषा और उसकी बोली (यदि कोई थी) के विकसित रूप का ही परिणाम 'प्राकृत' है। किन्तु संस्कृत के देशव्यापी प्रभाव की चकाचौंध मे प्राकृत व्याकरण के रचयिताओ और तत्कालीन विद्वानो ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि 'प्राकृत की जननी संस्कृत है'।

**प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते**
—मार्कण्डेय

**प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतम् योनिः।**
—वासुदेव (कर्पूरमञ्जरी टीका)

**प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।**
—प्राकृतचन्द्रिका

**प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।**
—धनिक (दशरूपकवृत्ति)

प्राकृतशब्दानुशासन के रचयिता महावैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अथ प्राकृतम्' (८।१।१) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भव ततः आगतं वा प्राकृतम्"

दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' मे इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये है—

**संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।**
**तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतः क्रमः॥(१।३६)**

वाग्भट ने वाग्भटालंकार (२।२) मे लिखा है—

**संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्द शास्त्रेषु निश्चिता।**
**प्राकृतं तज्जातत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा॥**

इसी तरह, षड्भाषाचन्द्रिका मे भी विचार प्रकट किया गया है:—

**प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृता मता।**
**तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा॥**

जब चण्ड अपना प्राकृतसर्वस्व और हेमचन्द्र अपना प्राकृतशब्दानुशासन लिख रहे थे, संस्कृत उस समय एक समृद्ध भाषा थी। पठन-पाठन की भाषा भी यही थी। पठन-पाठन की भाषा के अतिरिक्त शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा के रूप में संस्कृत देश मे छा गई थी। प्राकृत वैयाकरण संस्कृत के गहन अध्ययन के पश्चात ही देशी भाषाओं की ओर उन्मुख हुए होंगे और संस्कृत के सिद्ध शब्दों के साथ ही देशी भाषा मे प्राप्त शब्दो की संगति बैठाने मे अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते होंगे। प्राकृत व्याकरण की शैली भी संस्कृत व्याकरणो के अनुरूप है। संस्कृत व्याकरण की तरह से लोप, आगम, आदेश आदि का विधान प्राकृत व्याकरण मे किया गया है। यही कारण है कि प्राकृत व्याकरण के निर्माताओं मे संस्कृत को मूल भाषा मान कर प्राकृत को उससे पैदा होने वाली कह देने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ।

---

इभ्यपुत्र का सन्देश था—'कामेमि ते' (अर्थात् तुझे मैं चाहता हूँ)।
रानी ने भी उत्तर में एक पद्य लिखा, जो निम्न प्रकार है:—

नेह लोके सुखं किंचिच्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं च जीवितं नृणा तेन धर्मे मतिं कुरु॥

रानी के सन्देश का रूप था—"नेच्छामि ते" (अर्थात् मैं तुझे नहीं चाहती)।

## जैन आचार्यों की उल्लेखनीय संस्कृत रचनाएँ

### संस्कृत रचनाओं की सुदीर्घ परम्परा

जैन दर्शन, जैन न्याय व सामान्य दर्शन विषय में **आचार्य उमास्वाति** (वि० २री शती) कृत तत्त्वार्थसूत्र, **आचार्य समन्तभद्र** (वि० २-३री शती) कृत आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र; **मल्लवादी** (ई० ३५०-४३०) कृत (द्वादशार) नयचक्र; **पूज्यपाद देवनन्दी** (वि० ५-६ शती) कृत सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर टीका), **सिद्धसेन**[1] (वि० ६-६ शती) कृत सन्मतितर्क, न्यायावतार और कुछ बत्तीसियाँ, आचार्य **हरिभद्रसूरि** (७०५-७७५ ई०) कृत षड्दर्शनसमुच्चय तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय तथा सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर वृत्ति; **अकलंक** (७२०-७८० ई०) द्वारा रचित न्यायविनिश्चय लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, (तत्त्वार्थसूत्र पर) तत्त्वार्थराजवार्तिक, (समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर) अष्टशती; **आचार्य विद्यानन्द** (ई० ७७५-८४०) कृत प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, आप्तपरीक्षा (सर्वार्थसिद्धि के प्रथम श्लोक के भाष्य के रूप मे), (तत्त्वार्थ सूत्र पर) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन पर टीका, आप्तपरीक्षा पर स्वोपज्ञटीका, **सिद्धसेन गणि** (८वी शती) कृत तत्त्वार्थसूत्र पर टीका, **सिद्धर्षि गणि** (ई० ६०५ लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार पर) टीका, **माणिक्यनन्दी** (१०-११ शती ई०) कृत परीक्षामुख, **प्रभाचन्द्र** (६८०-१०६५ई०) कृत (माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर) प्रमेयकमलमार्तण्ड, (अकलंक के लघीयस्त्रय पर) न्यायकुमुदचन्द्र, **अनन्तवीर्य**[2] (वि० ११वी शती) कृत (माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर) प्रमेयरत्नमाला, (अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर) विशाल टीका, अकलंक के ही प्रमाणसंग्रह पर भाष्य, **शान्तिसूरि** (११वीं शती) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार की प्रथम कारिका पर) सटीक पद्यबन्धवार्तिक; **जिनेश्वर सूरि** (१०५२ ई० लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार की पहली कारिका पर) पद्यबन्ध प्रमालक्षण, प्रद्युम्नसूरि के शिष्य **अभयदेवसूरि** (१०६३ ई० लगभग) कृत (सन्मतितर्क पर) बृहत्काय टीका; मुनि **चन्द्रसूरि** के शिष्य **वादिदेवसूरि** (१२वी शती) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और इसी ग्रन्थ पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या; **आचार्य हेमचन्द्र** (ई० १०८६-११७२) कृत प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वीरचन्द्रसूरि के शिष्य **देवभद्रसूरि** (११४० ई० लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार पर) टिप्पण, **वादिराजसूरि** (वि० १२वी शती का उत्तरार्द्ध) कृत प्रमाणनिर्णय, (अकलंक के न्यायविनिश्चय पर) विवरण, **रत्नप्रभसूरि** (११८१ ई० लगभग) कृत स्याद्वादरत्नाकरावतारिका; वायडगच्छीय जीवदेवसूरि के शिष्य **जिनदत्तसूरि** (वि० १२६५) कृत विवेकविलास; **आचार्य मल्लिषेण** (१२८२ ई० लगभग) कृत (हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका, पर) स्याद्वादमञ्जरी, **मेरुतुंग** (१३६२ ई० लगभग) कृत षड्दर्शननिर्णय (अप्रकाशित); **जयसिंह सूरि** (१५ वीं शती) कृत न्यायसारदीपिका, **आचार्य गुणरत्न** (ई० १३४३-१४१८) कृत (षड्दर्शनसमुच्चय पर) टीका; **सोमतिलकसूरि** (वि० १३५५-१४२४) कृत (षड्दर्शन समुच्चय पर) विवृति; **शुभविजय** (१७वी शती) कृत स्याद्वादमाला; **विनयविजय** (१६५२ ई०) कृत नयकणिका; **यशोविजय** (१८वी शती) कृत जैन तर्कभाषा, अनेकान्तव्यवस्था, नयप्रदीप, ज्ञानबिन्दु, न्यायखण्डखाद्य, न्यायालोक आदि मौलिक व व्याख्यात्मक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय रचनाएँ है।

जैन धर्म आचार व नैतिक उपदेशपूर्ण साहित्य की

---

१. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के मत मे वि० ६ठी शती के मध्य ३ सिद्धसेन हुए है। प्रथम सिद्धसेन (वि० ६-७ शती) ने सन्मतितर्क, दूसरे (वि० ७-८ शती) ने न्यायावतार और अन्तिम सिद्धसेन ने कुछ बत्तीसियाँ लिखी। प० सुखलाल के मत मे सिद्धसेन दिवाकर का समय वि० ५वी शती है; बाद मे उनका मत ६ या ७वी के सम्बन्ध मे दृढ हुआ है।

२. प्रो० उदयचन्द्र जैन के मत में २ अनन्तवीर्य हुए। प्रथम ने सिद्धिविनिश्चय लिखा, दूसरे (लघु अनन्तवीर्य) ने प्रमेयरत्नमाला की रचना की।

परम्परा मे आचार्य **उमास्वाति** का प्रशमरतिप्रकरण संस्कृत का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें जैन तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त और साधुओं व गृहस्थो के आचार का सरल व सुन्दर शैली में वर्णन है। **हरिभद्रसूरि** ने इस पर टीका लिखी है; **अमृतचन्द्रसूरि** (ई० ९९८ के आसपास) कृत पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, **वीरनन्दी** (ई० ११११ के लगभग) कृत आचारसार, **सोमप्रभसूरि** (१२-१३ शती) कृत सिन्दूर-प्रकर, शृंगारवैराग्यतरंगिणी का विशिष्ट स्थान है।

इसी तरह रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र या योगीन्द्र कृत), **अमितगति** (ई० १००० के लगभग) कृत श्रावकाचार, **आशाधर** कृत सागारधर्मामृत एवं अध्यात्मरहस्य (ई० १२३९); **गुण भूषण** (१४-१५ शती) कृत श्रावकाचार, १७वी शती मे अकबर के राज्य-काल में **राजमल्ल** द्वारा रचित लाटीसंहिता का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नही कहा ज सकता।

**हेमचन्द्र** (१२वी शती) कृत योगशास्त्र मे भी मुनि व श्रावक के धर्मों का तथा योग सम्बन्धी विषयों का निरूपण है।

संस्कृत में आचार सम्बन्धी और प्रसगवश योग का भी वर्णन करने वाला ग्रन्थ ज्ञानार्णव भी एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसके रचयिता श्री **शुभचन्द्र** (१२वी शती) हैं।

ध्यान व योग सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों की रचना भी जैन आचार्यो ने की। **पूज्यपाद** कृत योगविषयक दो संस्कृत रचनाएँ है—इष्टोपदेश, समाधिशतक। **आचार्य हरिभद्र** ने योगबिन्दुसमुच्चय मे जैन योग का विस्तार से वर्णन किया है। हरिभद्र ने जैन परम्परा के योगसम्बन्धी विचारो को कुछ नये रूप मे प्रस्तुत तो किया ही है, साथ ही वैदिक व बौद्ध परम्परासम्मत योगधाराओं से उसका मेल बैठाया है। योगदृष्टिसमुच्चय पर स्वय **हरिभद्र** कृत तथा **यशोविजयगणि** कृत टीका प्राप्त है। यशोविजय जी ने योगसम्बन्धी चार द्वात्रिंशिकाएं भी लिखी है। **गुणभद्र** कृत आत्मानुशासन (९वीशती), **अमितगति** कृत सुभाषित-रत्नसदोह (१०-११वी शती) तथा इन्ही की दूसरी रचना योगसार है जिनमे नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश भी है।

**आ० हेमचन्द्र** (१२वी शती) कृत योगशास्त्र मे भी योगसम्बन्धी निरूपण है।

प्राकृत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर **भट्टारक शुभचन्द्र** ने संस्कृत टीका (ई० १५५६) की रचना की है।

**जैन आचार्यो** व विद्वानो द्वारा भक्तिकाव्य की परम्परा मे अनेक रचनाएँ रची गई, जिनमे आचार्य समन्तभद्र का स्वयम्भूस्तोत्र, आचार्य सिद्धसेन कृत बत्तीसियाँ, विद्यानन्दी पात्रकेशरी (ई० ५-६) कृत बृहत्पचनमस्कार स्तोत्र, मानतुंगाचार्य (वि० ७वी) कृत भक्तामरस्तोत्र, भट्ट **अकलंक** कृत अकलंकस्तोत्र; बप्पिभट्टि (ई० ७४३-८३८) कृत चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र, धनंजय (वि०८-९वीशती) कृत **विषापहारस्तोत्र; गुणभद्र** (९वी शती) कृत आत्मानुशासन; हेमचन्द्र (१२वी शती) कृत वीतरागस्तोत्र; शुभचन्द्र प्रथम (१२वी शती) कृत ज्ञानार्णव; अमितगति (वि० १०५०) कृत सुभाषितरत्नसन्दोह; अर्हद्दास (१३वी शती) कृत भव्यजनकण्ठाभरण; सोमप्रभ रचित सूक्तिमुक्तावलि; पद्मानन्द कृत वैराग्यशतकम्, विमलकवि रचित प्रश्नोत्तररत्नमाला और दिवाकर मुनि (१५वी शती) रचित शृगार-वैराग्यतरगिणी विशिष्ट स्थान रखते है।

**पौराणिक काव्यों में रविषेण** (ई० ६७६) कृत पद्म-पुराण, **जिनसेन** (ई० ७८३) कृत हरिवंशपुराण, **सकलकीर्ति** (वि० १४५०-१५१०) का हरिवंशपुराण, **शुभचन्द्र** (१५५१ ई०) कृत पाण्डवपुराण, मलधारी देवप्रभ सूरिकृत पाण्डव चरित्र, **जिनसेन** तथा उनके शिष्य **गुणभद्र** (८-९वी शती) कृत महापुराण (आदि पुराण उत्तर पूराण), **हेमचन्द्र** कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, **पडित आशाधर** (१३४६-१४१४ ई०) कृत महापुराणचरित विशेष उल्लेखनीय है।

चरितकाव्यो की परम्परा मे **जटासिंह नन्दी** (७-८ ई०) ने वराङ्गचरित, **वीरनन्दी** (ई० १०वी शती) ने चन्द्रप्रभचरितम्, **असग** (१०वी शती) ने शान्तिनाथ-चरित, **वादिराज** (१०वी शती) ने पार्श्वनाथचरित, **महासेन** (११वी शती) ने प्रद्युम्नचरित, **हेमचन्द्र** (१२वी शती) ने कुमारपालचरित, **गुणभद्र द्वितीय** (१२वीं शती) ने धन्यकुमारचरित, **धर्मकुमार** (१३वी शती) ने शालिभद्रचरित, **जिनपाल उपाध्याय** ने सनत्कुमारचरित, (अप्रकाशित), **मलधारी देवप्रभ** ने पाण्डवचरित व मृगा-

वती चरित, **माणिक्यनन्दी सूरि** ने पार्श्वनाथचरित्, **सर्वानन्द प्रथम ने** चन्द्रप्रभचरित व पार्श्वनाथचरित, **विनयचन्द्र** ने मल्लिनाथचरित, पार्श्वनाथचरित व मुनिसुव्रतचरित, **मलधारी हेमचन्द्र** ने नेमिनाथचरित, **चन्द्रतिलक** (वि० १३१२) ने अभयकुमारचरित, **भावदेव सूरि** ने पार्श्वनाथचरित, **जिनप्रभसूरि** (वि० १३५६) ने श्रेणिकचरित जैसे उत्तम ग्रन्थो की रचना कर सस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि की।

इसके अतरिक्त, **हरिचन्द्र** का धर्मशर्माभ्युदय, **वाग्भट** (१२वीं शती) का नेमिनिर्वाण महाकाव्य तथा **अर्हद्दास** (१३वी शती) के मुनिसुव्रतमहाकाव्य का प्रणयन इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है।

सन्देश काव्यों मे **विक्रम** (ई० १३वी शती का अन्तिम चरण) का नेमिदूत, **मेरुतुंग** (१४-१५वी शती ई०) का जैन-मेघदूत, **चरित्रसुन्दर गणि** (१५वी शती) का शीलदूत, **वादिचन्द्र सूरि** (१७वी शती) का पवनदूत, **विनयविजय गणि** (१८वी शती) का इन्दुदूत, **मेघविजय** (१८वी शती) का मेघदूतसमस्यालेख, **विमलकीर्ति गणि** का चन्द्रदूत उल्लेखनीय रचनाएँ हे। इन सन्देश काव्यो मे शान्तरस की अमृतधारा प्रवाहित होती है और पाठको को शाश्वत आनन्द प्रदान करने की क्षमता निहित हैं।

जैन काव्य जगत् मे **अनेकार्थक (सन्धान)** काव्यो का प्रवेश ई० ५-६ठी शती से हुआ। **वसुदेव हिण्डी** की चत्तारि अट्ठगाथा के १४ अर्थ तक किये गये है। ८वी शती मे महाकवि **धनंजय** का द्विसन्धान-महाकाव्य सर्वप्रथम सन्धान महाकाव्य है। ११वी शती के **शान्तिराज कवि** द्वारा पचसन्धान महाकाव्य रचा गया, जो अभी अमुद्रित है।

**मेघविजय उपाध्याय** (१८वीं शती) का सप्तसन्धान महाकाव्य तथा **हरिदत्तसूरि** (१८वी शती) का राघवनैषधीय भी उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। कई अनेकार्थक स्तोत्र भी रचे गये। **कवि जगन्नाथ** (वि० १६९९) कृत चतुर्विंशतिसन्धान काव्य भी उल्लेखनीय है।

पार्श्वाभ्युदय नामक खण्ड काव्य भी सस्कृत साहित्य मे अद्वितीय है। इसकी रचना **जिनसेन** स्वामी ने की थी। इसकी विशेषता यह है कि महाकवि कालिदास के मेघदूत के जितने भी पद्य है उन सभी के चरणों को एक-एक करके इस काव्य के प्रत्येक पद्य मे समाविष्ट कर लिया गया है। मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर समस्यापूर्ति की जाने के तो उदाहरण प्राप्त होते है किन्तु सारे मेघदूत को वेष्टित करने वाला यह एक प्रथम व अद्वितीय काव्य है।

कथासाहित्य के अन्तर्गत **सिद्धर्षि** कृत उपमितिभवप्रपचकथा, **धनपाल** कृत तिलकमजरी, **हेमचन्द्र** कृत त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित, **हरिषेण** कृत बृहत्कथाकोष को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

जैन आचार्यो द्वारा लिखे गये सस्कृत **नाटकों** की परम्परा मे १३वी शती के **रामचन्द्रसूरि** कृत निर्भय भीमव्यायोग, नलविलास, कौमुदीमित्रानन्द, **हस्तिमल्ल** कृत विक्रान्तकौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण, अजनापवनंजय, रामभद्र कृत प्रबुद्धरौहिणेय, यशपाल कृत मोहराजपराजय, जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमर्दन, यशश्चन्द्र कृत मुद्रितकुमुदचन्द्र, रत्नशेखरसूरि कृत प्रबोधचन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय, नागदेव (१६वी शती) कृत मदनपराजय, **वादिचन्द्र सूरि** (१७वी शती) कृत ज्ञान सूर्योदय कृतियों का नाम उल्लेखनीय है।

सस्कृत अलकार व छन्दःशास्त्रसम्बन्धी कृतियों मे वाग्भट (१२वी शती) कृत वाग्भटालंकार, हेमचन्द्र (११वी शती) कृत काव्यानुशासन, अरिसिंह (१३वी शती) कृत काव्यकल्पलता, नरेन्द्रप्रभसूरि (वि० १२८२) कृत अलंकारमहोदधि, हेमचन्द्र के शिष्यद्वय रामचन्द्र व गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण, अजितसेन (१४वी शती) कृत अलकार-चिन्तामणि, तथा अभिनव वाग्भट (१४वी शती) कृत काव्यानुशासन का स्थान सर्वोपरि है। आ० भावदेव सूरि (वि० १५वी शती) का काव्यालकारसार नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त सरल व सरस है।

काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेता नामक टीका और काव्यालकार पर नेमि साधु कृत टीका तथा काव्यकल्पलता पर श्री अमर मुनि की टीका भी विशिष्ट कृतियों मे मानी जाती है।

महाकवि **धनंजय** (ई० ८१३ से पूर्व) कृत नाममाला, अनेकार्थनाममाला व अनेकार्थनिघण्टु, **हेमचन्द्र कृत** अभिधानचिन्तामणि व अनेकार्थसंग्रह नामकोश व निघण्टु-

कोश श्रीधरसेन (१३-१४ ई०) कृत विश्वलोचनकोश (मुक्तावलिकोश), जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत एकाक्षरनाममाला नामक ग्रन्थ कोश-साहित्य की रचना परम्परा मे विशिष्ट स्थान रखते है।

व्याकरण साहित्य की रचना करने वाल जैन आचार्यों व विद्वानो में जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता आ० देवनन्दी पूज्यपाद (ई० ४१३-४५५), जैनेन्द्र व्याकरण के परिवर्धित सस्करण के रूप मे रचित शब्दार्णव के रचयिता गुणनन्दी (१०वी शती), शब्दार्णवचन्द्रिका के रचयिता सोमदेव (शक स० ११२७) जैनेन्द्रव्याकरण की महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दी (ई० ७५०), शाकटायनव्याकरण तथा अमोघवृत्ति के रचयिता आचार्य पल्यकीर्ति (शक सं ७३६-७८९), क्रियारत्नसमुच्चय के कर्ता श्रीगुणरत्न (ई० १३४३-१४१८), हेमशब्दानुशासन के रचयिता श्री हेमचन्द्र (१२वी शती), तथा कातत्ररूपमाला के रचयिता श्री भावचन्द्र त्रैवेद्य (१४वीं शती) के नाम उल्लेखनीय है।

गणित व ज्योतिष शास्त्र पर अनेक जैन आचार्यों व विद्वानो ने अपनी लेखनी उठाई और सस्कृत साहित्य को अनुपम देन दी।

महावीराचार्य (ई० ८५०) कृत गणितसार सग्रह व ज्योतिषपटल, श्रीधर[1] (दसवी शती का अन्तिम भाग) कृत गणितसार व ज्योतिर्ज्ञानविधि, अज्ञातकर्तृक चन्द्रोन्मीलन, जिनसेनसूरि के पुत्र मल्लिषेण (ई० १०४३) कृत आयसद्भाव, उदयप्रभदेव (ई० १२२०) कृत आरम्भसिद्धि (या व्यवहारचर्या), पद्मप्रभसूरि (वि० १२९४) कृत भुवनदीपक, महेन्द्रसूरि (शक स० १२९२) कृत यन्त्रराज, हेमप्रभ (१४वी शती का प्रथम चरण) कृत त्रैलोक्य प्रकाश नामक ग्रन्थ अनुपम महत्व के है

भद्रबाहु के वचनों के आधार पर निर्मित भद्रबाहुसंहिता (६-९ शती के मध्य) भी जैन ज्योतिषसाहित्य की विशिष्ट कृति है।

देश व विदेशों के विभिन्न ग्रन्थागारो और विशिष्ट व्यक्तियो के स्वामित्व मे विद्यमान समस्त ग्रन्थो और प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियो की गणना की जाय तो जैन आचार्यो व विद्वानो द्वारा रचित सस्कृत कृतियो की संख्या एक लाख के आस-पास पहुच जाती है। भारत सरकार को चाहिए कि वह ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन मे सहयोग दे और साथ ही उन समस्त ग्रन्थों की सूचिया (Catalogues) प्रकाशित करावे ताकि अभी तक प्रकाश मे न आई कृतियो का परिचय विश्व के अनुसधित्सुओ एवं विद्वानो को प्राप्त हो सके।

□□□

## वेदों में अरिष्टनेमि

भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में भी भगवान् अरिष्टनेमि की चर्चा मिलती है। वे भी वैदिक युग के महापुरुष थे। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि—इन तीनो तीर्थङ्करों के नाम मिलते हैं।

**यथा स्वास्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा।**
**स्वस्ति न स्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥**

—ऋग्वेद १/६/८९/६, सामवेद ९/३

ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर अरिष्टनेमि को धर्मधरीण कहा है—

**तं वां रथ वयमद्या हुवेम स्तौ मैर द्विना सुविताय नव्यम्।**
**अरिष्टनेमि परधामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥**

—ऋग्वेद, द्वि अष्टक, २/४/१८१।१०

१. डा० दत्त तथा सिंह के मत से श्रीधर का समय ७५० ई० के लगभग है। दीक्षित का कहना है कि श्रीधर महावीराचार्य के पहले हुए है। महावीराचार्य का समय दीक्षित जी ८५० ई० मानते है। कुछ विद्वान् ऐसे भी है जो महावीराचार्य के बाद श्रीधर का होना मानते है। (द्रष्टव्य भारतीय ज्योतिष का इतिहास—डा० गोरखप्रसाद, पृ० १८२-१८३)

# जैन संस्कृति की समृद्ध परम्परा

☐ श्री जयन्ती प्रसाद जैन, मुजफ्फर नगर

ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व का समय अनेक वैचारिक क्रान्तियों से भरा था। सामाजिक एवं धार्मिक समस्यायें प्रबुद्ध वर्ग को अनेक प्रकार से विचार करने के लिए प्रवृत्त कर रही थीं। यूरोप मे इस क्रान्ति के सूत्रधार थे पाइथेगोरस, एशिया मे कन्फ्यूशिस एव लाओस जैसे महापुरुष। तब भारत में इसका नेतृत्व किया भगवान् महावीर स्वामी ने।

**अनेक विचारधाराएं :**

भारत मे उस समय तीन प्रबल विचार धारायें कार्य कर रही थी। देवतावाद, भौतिक समृद्धिवाद एव आध्यात्मिक वीतरागतावाद। पहली धारा वैदिक ऋषियो की उस आश्चर्यभरी दृष्टि की उपज थी जो उन्हे बादल, वर्षा, बिजली आदि मे दिव्य शक्ति का अनुभव करा रही थी। दूसरी धारा व्यावहारिक लोगो की थी जो चक्रवर्तित्व के सुख स्वप्न सजोती थी एव तीसरी आत्मज्ञानियों की थी जो ससार को दुःखपूर्ण समझ कर मोक्ष के लिए इच्छुक थी।

काल दोष के कारण इन तीनो ही धाराओं मे पथ भ्रष्टता आ गई थी। मास, मदिरा, मैथुन आदि फलने-फूलने लगे थे। स्त्री तथा निम्न वर्ग अन्याय के विशेष शिकार थे। पहली केवल भोग की वस्तु थी, दूसरा पशु से नीचा समझा जाकर स्पर्श के योग्य भी नही रहा था। जबकि एक वर्ग पृथ्वी का देवता माना जाने लगा था।

रूढ़िवादी और सुधारक दोनों ही अपनी-अपनी जीत के लिए संघर्ष रत थे। साधारण मनुष्य की चिंता कम लोगों को ही थी।

उस समय एक तरफ वैदिक धर्म की रक्षा के लिए भास्कराचार्य, शौनक एवं आश्वलायन जैसे विद्वान थे तो दूसरी ओर नास्तिकतावाद या 'जड़वाद' के प्रबल समर्थक बृहस्पति एवं अजितकेश कम्बली आदि आचार्य सामने आ रहे थे। न्याय-दर्शन के जन्मदाता गौतम ऋषि तथा सांख्य दर्शन के प्रवर्तक मशकरी आदि भी जीवन व जगत् गुत्थियों को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील थे।

तभी भगवान् महावीर आये जिन्होने प्रचलित सभी विचारों का मंथन करके समन्वय एवं संशोधन का मार्ग पकड़ा, परन्तु आत्म-सुधार के साथ। यह विचारधारा तब भी आर्हत, जिन, यति, वातरशना, व्रात्य तथा श्रमण संस्कृति के नाम से जानी जा रही थी। मगध तथा विदेह की जनता ने इस समन्वयी विचार धारा को आर्य धर्म या जैन धर्म के रूप मे स्वीकार किया तथा इसका प्रसार किया।

**स्वदेश में जैन धर्म का विस्तार :**

भगवान् महावीर के समय मे वैशाली के राजा चेटक, अङ्ग (उड़ीसा) के कुणिक, कलिंग (दक्षिण उड़ीसा) के जितशत्रु, वत्स (बुन्देलखण्ड) के शतानीक, सिंधु सौवीर के उदयन, मगध (बिहार) के बिम्बसार तथा हेमागद (मैसूर) के नाम राजा जीवन्धर के उल्लेखनीय है।

प्रसिद्ध इतिहासकार एव पुरातत्वज्ञ स्वर्गीय गौरी शकर हीराचन्द्र ओझा के अनुसार, ऐतिहासिक युग मे सबसे पहले भगवान् महावीर की स्मृति मे सम्वत् प्रचलित हुआ [प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ २-३]। विदेह के लिच्छिवि और मल्ल क्षत्रिय, मगध के शिशुनाग, नन्द और मौर्य राजवश, मध्य भारत के काशी, कौशल वत्स, अवन्ती तथा मथुरा के शासक, कलिंग के खारवन्शी सम्राट्, राजपूताने के राजपूत, उत्तर मे गान्धार, तक्षशिला आदि, दक्षिण मे पाड्य, चेर, चोल, पल्लव, होयसल आदि तमिल लोग जैन धर्म के परम भक्त थे। भारत के सिंधु, पंजाब, मालवा के निवासी, इण्डोशोथियन, (शक) आदि जैन धर्म से काफी प्रभावित थे। [डा०बी०सी० ला : हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स, पृष्ठ ७८] भारत के प्रसिद्ध राजा मनेन्द्र (Menendra) अपने अन्तिम जीवन मे जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे ['वीर' वर्ष २, पृष्ठ ४-६)।

मथुरा के पुरातत्व से विदित होता है कि कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव नामक शक राजाओं के राज्यकाल के जैन धर्म की मान्यता बहुत फैली हुई थी।

मध्यकाल के राजपूताने के राठौर, परमार, चौहान, गुजरात एवं दक्षिण के गग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, कलचुरि और होयसल राज वंशों का यह राजधर्म रहा। गुप्त, आंध्र और विजयनगर साम्राज्य काल मे भी इस पर शासकों की कृपा-दृष्टि रही। यही कारण है कि जैन धर्म मध्यकाल में श्रवणबेलगोल (मैसूर) और कारकल

की विशालकाय गोम्मटेश्वर की मूर्तियो, आबू के मन्दिरों चित्तौड़गढ़ के कीर्तिस्तम्भ तथा आचार्य समन्तभद्र, सिद्ध सेन, पूज्यपाद, अकलंक देव, विद्यानन्द, वीरसेन, जिनसेन, सोमदेव, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, हरिभद्र सूरि एवं आचार्य नेमिचन्द्र रचित साहित्य एवं दर्शन के अमूल्य ग्रन्थ रत्नों को जन्म दे सका ।

**विदेशों में जैन धर्म का प्रसार :**

'महावंश' नामक बौद्ध ग्रन्थ [प्रो० ब्हूलर, इण्डियन सैक्ट आफ दी जैन्स, पृष्ठ ३७] से प्रकट है कि ४३७ ई० पूर्व में सिंहलद्वीप के राजा ने अपनी राजधानी अनिरुद्धपुर में जैन मन्दिर और जैन मठ बनवाये थे। वे चार सौ वर्ष के लगभग रहे।

भगवान् महावीर के समय से ईसा की पहली सदी तक मध्य एशिया अफगानिस्तान, ईरान, इराक, फिलिस्तीन, सीरिया आदि के साथ भूमध्य सागर के निकटवर्ती यूनान मिश्र, इथोपिया और एबीसीनिया आदि देशो मे जैन साधु सदैव सम्पर्क कायम रखते रहे।

यूनानी लेखको के कथनानुसार, पाइथेगोरस, पैरेहो, डायजिनेस जैसे यूनानी तत्ववेत्ताओ ने भारत आकर जैन साधुओं से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी। मौर्य सम्राट् अशोक के पोते सम्राट् सम्प्रति ने अनेक जैन साधुओं को अनार्य देशों में जैन धर्म के प्रचारार्थ भेजा था। जैसे सिकन्दर के साथ कल्याण साधु गये थे। देखिये :—

(i) हिस्टोरिकल ग्लोनिग्स', डा० विमलाचरण ला।
(ii) 'विश्व वाणी', अप्रैल सन् १९४२, पृष्ठ ४६४।
(iii) 'एशियाटिक रिसर्चेज', वाल्यूम ३-६, सर विलियम जोन्स।
(iv) 'एन्सीयन्ट इण्डिया' मैगेस्थनीज।
(v) 'दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि', स्व० डा० कामताप्रसाद जैन।

**जैन धर्म और ईसाई धर्म :**

ईसाई धर्म श्रमण संस्कृति का ही यहूदी संस्करण माना जाता है। इतिहास वेताओं के अनुसार, महात्मा ईसा कुमार काल मे भारत आये थे। बहुत दिनो तक यहाँ रहकर जैन श्रमण और बौद्ध भिक्षुओं की संगति का लाभ लेकर नेपाल व हिमालय के मार्ग से ईरान चले गये थे। वहाँ से स्वदेश पहुंच कर उन्होने "आत्मा परमात्मा की एकता" और "अमर दिव्य जीवन" का उपदेश दिया। यह उपदेश यहूदी संस्कृति से सम्बन्धित न होकर भारत की श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित है। [देखिए पण्डित सुन्दरलाल जी लिखित "हजरत ईसा और ईसा धर्म]।

**जैन धर्म और बौद्ध धर्म :**

जैन ग्रन्थों के अनुसार, भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा मे एक साधु 'पिहितास्रव' ने जैन दीक्षा छोड़कर बौद्ध धर्म चलाया था। बौद्ध एवं अन्य साहित्य से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने साधु जीवन के प्रथम वर्षो में अन्य सम्प्र- दायोक्त आचरण किया था। बौद्ध साहित्य के अनेक शब्द जैनसाहित्य से लिए गये है। उपदेश भी जैन उपदेश के समान ही हैं। (देखिये 'जैनबौद्ध तत्वज्ञान'-ब्रह्म० शीतल प्रसाद)।

**जैन धर्म और हिन्दू धर्म :**

वैदिक धर्म का परिवर्तित रूप ही आजकल हिन्दू धर्म कहलाता है। यह बहुत सी बातों मे जैन धर्म का ऋणी है। लोकमान्य तिलक के सन् १९०४ मे बड़ौदा मे दिये गये एक भाषण के अनुसार, वेदोक्त यज्ञादि की हिंसा जैन धर्म के कारण बन्द हुई है। पुरातत्वज्ञ श्री ओझाजी की 'मध्य कालीन भारतीय संस्कृत, पृष्ठ ३५' के अनुसार, भगवान् महावीर उत्तरकाल मे हिन्दू स्मृतिकारो तथा पुराणकारो ने जितना आचार सम्बन्धी साहित्य लिखा उसमे नरमेध, अश्वमेध' पशुबलि तथा मास-आहार को लोक विरुद्ध होने से त्याज्य बताया है। देखिए – याज्ञवल्क्य स्मृति, १ – १५६, 'वृहन्नारदीय पुराण', २२, १२, १६। 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' के अनुसार, २४ तीर्थंकरो के समान २४ अवतारो की कल्पना हुई। क्रिया-काण्डो साहित्य के स्थान पर आध्यात्मिक एवं भक्तिपरक ग्रन्थो, गीता, रामायण योगवाशिष्ठ, ब्रह्मसूत्र आदि को प्राधान्य मिला। इन्द्र वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओ के स्थान पर राम एवं कृष्ण जैसे ऐतिहासिक कर्मठ राज नेताओं को महिमा प्राप्त हुई। जैन समाज पर भी हिन्दू समाज के अनेक रीति रिवाजों का प्रभाव है।

**भाषा, कला और साहित्य :**

जैन धर्म जब जब जिस-जिस देश में प्रचलित रहा, वह उन्ही की बोलियों में उपदेश देता रहा। भगवान् महावीर ने अपना उपदेश लोकभाषा में दिया, संस्कृत में नही। जैन धर्म के अनुसार, ईश्वर की कोई एक भाषा नही है। हिन्दी की उत्पत्ति तथा विकास का ज्ञान जैन अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से भली-भांति प्राप्त किया जा सकता है। जैन साहित्य मे धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, वनस्पति, वास्तु, मूर्ति, चित्र, शिल्प एवं संगीत कला के ग्रंथों से जैन साहित्य भरपूर है। □□

# साहित्य समीक्षा

**भगवान महावीर स्मृति-ग्रन्थ**—प्रधान संपादक—डा० ज्योति प्रसाद जैन, अन्य संपादक—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जवाहर लोढ़ा, शरद कुमार, डा० मोहनलाल मेहता। प्रकाशक : श्री महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ। आकार क्राउन १/८, सजिल्द पृष्ठ लगभग ४५०, मूल्य पचास रुपये, १९७५।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड मे 'भगवान महावीर की सूक्तियो' का सानुवाद संकलन है। द्वितीय खण्ड में 'भगवान महावीर की स्तुति, उनसे सम्बन्धित स्तोत्र-स्तवन' इत्यादि कालक्रमानुसार दिए गए हैं। तृतीय खण्ड के अन्तर्गत 'भगवान महावीर का युग, जीवन और देन' है। इस खण्ड मे उद्भट मनीषियों के शोधपूर्ण लेख है, जिनमें से उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंद जी, आचार्य श्री तुलसी, सन्त विनोबा भावे, आचार्य श्री रजनीश, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री दलसुख मालवणिया आदि के लेख विशेष उल्लेखनीय है। चतुर्थ खण्ड मे 'जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति' विषयक विवेचन है जिसमें सर्वश्री पं० कैलाश चन्द शास्त्री, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, डॉ० दरबारी लाल कोठिया, मुनि श्री नथमल, डॉ० प्रभाकर माचवे आदि १९ विद्वानो के लेख है।

पंचम खण्ड 'शाकाहार' के विषय में है। छठे खण्ड मे 'उत्तर प्रदेश मे जैन धर्म' सम्बन्धी सामग्री विद्यमान है, जिसमें वहाँ के तीर्थों, मन्दिरों, प्राचीन शिलालेखों, चित्रकलाकृतियो, साहित्य एवं वर्तमान संस्थाओं का वर्णन किया गया है। सातवें खण्ड (अन्तिम खण्ड) मे 'महावीर निर्वाण समिति, उत्तर प्रदेश' के गठन, कार्यकलाप एवं उपलब्धियों विषयक विवरण है। इसी क्रम में मूर्तियों, आयागपटों, शिलालेखों आदि के अनेकानेक चित्र मुद्रित है। मूर्तियों, आयागपटो तथा शिलालेखों के काल आदि अनिर्दिष्ट है, इन्हे दिया जाना चहिए था। इस बहुविध सामग्री से ग्रन्थ की महत्ता तो बढ़ी ही है वह अधिक उपादेय, संकलनीय और अवलोकनीय भी बन गया है। कुल मिलाकर यह स्मृति ग्रंथ सर्वथा सुरुचिपूर्ण एवं सुसंगत सामग्री स सम्पन्न है।

सम्पादक एवं प्रकाशक इस सर्वांगपूर्ण प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र है। —गोकुल प्रसाद जैन (सम्पादक)

# वीर निर्वाण संवत् तथा कलियुग संवत्, महाभारत संवत या युधिष्ठिर संवत

वीर निर्वाण संवत् से अधिक प्राचीन केवल एक और संवत् का उल्लेख मिलता है जो महाभारत काल अथवा युधिष्ठिर काल अथवा कलियुग संवत के नाम से ज्ञात हुआ है। इसका उल्लेख बीजापुर जिले म स्थित ऐहोले नामक ग्राम के एक प्राचीन जैन मन्दिर के शिलालेख मे पाया जाता है (डा० रा० ब पांडेय : हिस्टॉ० एण्ड लिट० इंस्क्रिप्सन न० ५ ·)। उक्त शिलालेख के अनुसार, उस जैन मन्दिर का निर्माण रविकीर्ति ने उस समय कराया जब महाभारत युद्ध स लेकर कलिकाल के ३७·५ वर्ष तथा शक राजाओ के काल, अर्थात् शक संवत् के ५५६ वर्ष व्यतीत हो गये थे; अर्थात् महाभारत युद्ध ईसा पूर्व ३१०१ मे हुआ था। बृहत्संहिता (१३, ३) और राजतरंगिणी में युधिष्ठिर का राज्यकाल २३४८ ईसा पूर्व माना गया है।

आधुनिक विद्वानो के लिए महाभारत काल की उपर्युक्त दोनो अवधिया विचारणीय हैं। पर्जीटर पुराणों मे उल्लिखित राजवंशावलियो से गणना कर इस काल को ई० पू० ९५० वर्ष सिद्ध करते है। डा० पुमलकर ने इसे ई० पू० १४०० स्थिर किया है। किन्तु राजवंशावलियो के साथ गणना करते हुए विद्वानों ने अनुमानों का पर्याप्त सहारा लिया है।

**पौराणिक वंशावलियों का साक्ष्य**—विष्णु पुराण मे तीन वंशावलियां ऐसी है जिनमे महाभारत काल से वर्धमान तीर्थंकर तक अविच्छिन्न रूप से नरेशों के पिता-पुत्र क्रम से नाम मिलते है। ये वंश है कुरु, इक्ष्वाकु और मागध। इन वंशावलियों का विशद विवेचन करने पर महाभारत का काल १००० वर्ष ई० पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है। तब ऐहोले जैन मन्दिर के शिलालेख के काल मे २१०१ वर्ष की अतिशयोक्ति प्रश्न चिह्न उपस्थित करती है। यह शिलालेख अपुष्ट तो है, किन्तु प्राचीन काल की महत्वपूर्ण युगस्थापक घटना का संकेतचिह्न भी है।

—जैनिज्म थ्रू एजेज : डा० हीरालाल जैन

R. N. 10591 62

# वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

**पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

**आप्तपरीक्षा :** श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

**स्वयम्भू स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २-००

**स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

**अध्यात्मकमलमार्तण्ड :** पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०

**युक्त्यनुशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

**समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४-००

**समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

**श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।** ... ... १-२५

**अध्यात्मरहस्य :** पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

**न्याय-दीपिका :** आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

**जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द। ५-००

**कसायपाहुडसुत्त :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०-००

**Reality :** आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

**जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

**ध्यानशतक ध्यानस्तव सहित :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

**श्रावक धर्म संहिता :** श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

**जैन लक्षणावली (तीन भागों में) :** (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Under print)

---

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

# अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण २

अप्रेल-जून १९७६

परामर्श-मण्डल
श्री यशपाल जैन
डा० प्रेमसागर जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए, एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली

# विषय-सूची


| क० | विषय | पृ० |
|---|---|---|
| १. | श्री पुरुदेव स्तुति | ६५ |
| २. | जैन धर्म मे शक्ति पूजा—डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर | ६६ |
| ३. | गोम्मटेश्वर बाहुबली—पं० परमानद शास्त्री, दिल्ली | ६६ |
| ४. | भगवान महावीर की सर्वज्ञता—डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच | ७७ |
| ५. | प्राचीन जैन तीर्थ श्री राता महावीर जी—श्री भूरचन्द जैन, बाड़मेर | ८३ |
| ६. | अनेकान्त—डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर | ८५ |
| ७. | मानवीय समुन्नति का प्रशस्त मार्ग विनय—पं० विमलकुमार जैन सोरया, मड़ावरा | ८७ |
| ८. | मालवा की नवीन अप्रकाशित जैन प्रतिमाओं के अभिलेख—डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन | ८६ |
| ९. | पूजा : मूर्ति की नहीं, मूर्तिमान की—उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द | ६१ |
| १०. | कविवर जगतराम : व्यक्तित्व और कृतित्व—श्री गोकुलप्रसाद जैन, नई दिल्ली | ६४ |



**'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण**

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय

पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-६

सम्पादक—श्री गोकुल प्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय ३, रामनगर, नई दिल्ली-५५

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

ओमप्रकाश जैन

प्रकाशक

**अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया**

**एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा**


स्थापित : १६२६

# वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागज, दिल्ली

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्व एव दर्शन शोध संस्थान है जो १६२६ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति मे सलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार है :—

- ☐ जैन-जैनेत्तर पुरातत्व सामग्री का सग्रह, सकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थागार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सास्कृतिक गतिविधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४६ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एव उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकारसे आपका महत्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मागलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट मे देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोधपत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के शोधानुसन्धान में योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यो की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुलप्रसाद जैन (सचिव)


**अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —सम्पादक**



**प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणा** [illegible]

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २९ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर-निर्वाण संवत् २५०२, वि० सं० २०३२ | अप्रैल-जून १९७६

## श्री पुरुदेव स्तुति

अभंक्त्वा यं नैव व्रजति कृतपुण्योऽपि कुशम्,
कठोरः पाशोऽस्य भवति बलवान् कर्मजनितः ।
इतिवार्धं वर्षं क्षुधित इव बभ्राम भुवन,
श्रियं जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ।।५।।

भावार्थ—कर्मपाश बहुत दृढ़ होता है । पुण्यवान् भी तत्कर्म फल निबेरे विना कुशल को प्राप्त नहीं कर पाता; मानो, यही सूचित करते हुए जो आधे वर्ष प्रमाण समयावधि क्षुधित रहकर भुवन में विहार करते रहे, वह प्रथम जिनेश्वर श्री पुरुदेव श्री वृद्धिकर हों ।

प्रभो ! स्वामिन् ! नाथ ! त्रिभुवनपते ! मुक्तिकमला-
परिष्वंगश्लाघ्य ! स्वसमय ! निजात्मैकरसिक ।।
सहस्राच्छच्छन्दः स्तुतिशिखरिणी यस्य विमला
श्रियं जायेतासौ प्रथमजिनदेवः पुरुपतिः ।।८।।

भावार्थ—हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! हे नाथ ! हे त्रिभुवनपते ! हे मुक्तिलक्ष्मी समालिंगन से श्लाघनीय ! स्वसमय ! हे अपने आत्मा में एकमात्र ध्यानरथ ! इत्यादि सहस्त्रों अच्छे छन्दोवाक्यों से जिनकी स्तुतिशिखरिणी का विमलज्ञान किया जाता है वह प्रथम जिनेन्द्र भगवान् श्री पुरुदेव श्री वृद्धिकारक हों ।

———

# जैन धर्म में शक्ति पूजा

□ डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

भारत मे शक्ति पूजा सिन्धु घाटी की सभ्यता (लग भग २५००-१७०० ई० पू०) के समय ही प्रारम्भ हो चुकी थी ।[1] लेकिन उसका पूर्ण विकास पौराणिक युग में हुआ। वैदिक साहित्य मे भी सविता आदि देवियों का उल्लेख आया है।[2] जैन धर्मावलम्बियों की मान्यता है कि भारत मे जैन धर्म का उदय सैन्धव युग मे ही प्रारम्भ हो चुका था, लेकिन उसे जनता मे फैलाने का कार्य भगवान महावीर ने छठी शती ई० पू० मे किया ।[3] प्रारम्भ मे जैन और शाक्त धर्म में कर्मकाण्ड का अभाव था और ये दोनों धर्म अत्यन्त सरल थे लेकिन परवर्ती काल मे शाक्तधर्म मे तन्त्रवाद का उदय हुआ जिसने लगभग सभी भारतीय धर्मों को प्रभावित किया। जैनधर्म भी तन्त्र-वाद के प्रभाव से अछूता नही रह सका । जिस प्रकार शाक्त-धर्म का तंत्र सम्बन्धी विस्तृत साहित्य मिलता है उसी प्रकार जैन धर्म मे भी तन्त्रो और मन्त्रों की कमी नहीं हैं।

पिछले वर्षों में मुझे कुछ जैन मन्दिरों के दर्शन का लाभ मिला। अपनी यात्रा के दौरान जब में रणकपुर जैन मन्दिर देखने पहुंचा तो गर्भ गृह के द्वार के निकट एक देवी प्रतिमा देखने को मिली जिसे सरस्वती की प्रतिमा मानकर पूजा की जाती है। उस समय मेरे मन मे यह विचार उठा कि जैन मन्दिर में सरस्वती प्रतिमा कैसे ? इसलिये मैंने इसी आशय से जैनग्रन्थों एवं पत्र पत्रिकाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। इनमें कुछ सामग्री मिली और ऐसा लगा कि जैन धर्म भी शाक्त विचारधारा से प्रभावित है । क्योकि यदि जैन शासन मे तीर्थङ्कर विषयक ध्यान-योग का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि जैन आचार्यों ने हिन्दुओं की मंत्र-शास्त्र प्रणाली को ज्यो का त्यों स्वीकार कर लिया है।[4] आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने ध्यान के चार स्वरूप बतलाये है पिण्डस्थ पिदस्थ, रूपस्थ और रूप वर्जित । जिस ध्यान का आलम्बन दण्ड मे हो, उसे पिण्डस्थ ध्यान, जिसमें शब्द ब्रह्म के वर्णपद वाक्य के ऊपर रचित भावना करनी हो उसे पदस्थ ध्यान, जिसमे आकार की भावना करनी हो उसे रूपस्थ ध्यान और निराकार आत्म चिन्तन को रूप वर्जित ध्यान कहते है। पिण्डस्थ ध्यान मे स्वय को कल्याणगुण युक्त मानने वाले मन्त्र मण्डल की निम्न शक्तिया; शाकिनी और योगिनिया प्रभावित नहीं कर सकती। पदस्थ ध्यान विधि में हिन्दुओं की मन्त्र शास्त्र पद्धति को स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है। जिसका वर्णन इस प्रकार है;—नाभि स्थान में सोलह दलों में षोडस स्वर मात्राएँ, हृदय स्थान में चौबीस दलों में मध्य कर्णिका के साथ में पच्चीस अक्षर और मूल पंङ्कज में अ, क, च, ट, त,ह, य, श, आदि वर्णाष्टक बनाकर मातृका का ध्यान किया जाय । जो व्यक्ति मातृका ध्यान को सिद्ध कर लेता है उसे नष्ट पदार्थों का स्वत: भान हो जाता है। इसके पश्चात् नाभि-स्कन्द के नीचे अष्ट दल पद्म की भावना करके उसमें वर्णाष्टक बनाकर प्रत्येक दल की सन्धि में माया प्रणव के साथ 'अर्हत्' पद बनाकर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत उच्चार से नाभि, हृदय, कंठ आदि स्थानो को सुषुम्ना मार्ग से अपने जीव को उर्ध्वगामी करना चाहिये जिससे अन्तरात्मा का शोधन होता है ऐसा विचार करें। तत्पश्चात् षोडशदल ब्रह्म में सुधाप्लावित अपनी अन्तरात्मा को सोलह विद्या देवियो के साथ सोलह दलों में बिठाकर स्वयं को अमृत-भाव मिल रहा है ऐसा सोचे । अन्त मे ध्यान के आवेश में 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' शब्द से अपने को अर्हत् रूप में

---

१. मजूमदार तथा पुसालकर, वैदिक एज, पृ० १८६-७

२. वही।

३. माडर्न रिव्यू, जुन १९३२.

४. हेमचन्द्र, योगशास्त्र, सप्तम प्रकाश, २ लोक २७-२८ तथा अष्टम प्रकाश में श्लोक ५।

अनुभव करने के लिये मूर्धा में प्रयत्न करें। इसके पश्चात् अपनी आत्मा को, उस परमात्मा को जो रागद्वेष से मुक्त हैं, जो सर्वदर्शी है, जिसे देवता भी नमस्कार करते है ऐसे धर्म देश को करने वाले अर्हत् देव के साथ एक भाव से देखे। जो इस कार्य को सफलता पूर्वक कर लेते है वे पिण्ड स्वभाव को सिद्ध हुए समझे जा सकते है।[१] यह विवरण हिन्दुओं की षट्चक्रवेध पद्धति पर आधारित है। हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ मे ध्यान योग की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "ध्यान से योगी वीतराग हो जाता है।" उन्होंने अनेक मन्त्रों में तो हिंदुओं के बीजाक्षरो को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[२]

शाक्त सम्प्रदाय मे सरस्वती के रूप में दुर्गा की उपासना की जाती है। दुर्गा सप्तशती मे कहा गया है कि स्वहस्त कमल में घंटा, त्रिशूल, शख, मूसल, चक्र, धनुष, और बाण को धारण करने वाली, गौरी देह से उत्पन्न, त्रिनेत्रा, मेधास्थित चन्द्रमा के समान कान्ति वाली संसार की आधार भूता, शुम्भादि दैत्य मर्दिनी, महासरस्वता को हम नमस्कार करते है। सरस्वती को 'सरस' की अधिष्ठात्री देवी माना गया है। वह गति प्रदान करने वाली, मस्तिष्क के अन्धकार को दूर करके ज्ञान से प्रकाशित करने वाली देवी है। समस्त देवों और मनुष्यो को बुद्धि प्रदान करने वाली सरस्वती को ही माना गया है। जैन धर्मावलम्बियो ने सरस्वती की उपासना को प्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म का अंग मान लिया है। बाल चन्द्र सूरी के वसन्तविलास महाकाव्य मे कहा गया है कि चित्त रूपी चचलता त्यागकर तथा प्राणादि पंच वायु के व्यापार को स्तम्भित करके मूर्धा प्रदेश मे जो स्थिर शोभावाली सरस्वती का तेजो मण्डल देखते हैं उस ज्योतिमण्डल की हम उपासना करते है। सुषुम्ना नाडी रूपी बादली सरस्वती के तेजोमय जब बिजली के दण्ड से भेदित होकर मूर्धा में आकर निवास करती हैं उस समय विद्या रहित मनुष्यों की जिह्वा रूपी नाली पर कवित्व का अमृत बहने लगता है।[३]

जैन धर्म में सरस्वती का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रमाण कुषाण कालीन जैन शिल्प की सरस्वती प्रतिमा है। अभिधान चिन्तामणि नामक ग्रन्थ मे सरस्वती के अनेक रूपों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वाग्, ब्राह्मी, भारती, गौ, गीर्वाणी, भाषा, सरस्वती श्रुत देवी, वचन, व्यवहार, भाषित और वचस् इन सभी को एक दूसरे से अभिन्न समझना चाहिये।[४] इसी प्रकार हरिवंश पुराण मे भी सरस्वती का उल्लेख मिलता है।[५] इस ग्रंथ में सरस्वती को लक्ष्मी के समान मांगलिक देवी माना गया है। 'तिलोय पण्णत्ती' मे सरस्वती को श्रुतदेवी कहकर पुकारा गया है।

जैन धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में 'सरस्वती' देवी को श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मूर्ति शिल्प में ही इसका उल्लेख मिलता है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे तो हमे तीर्थङ्करो, सर्वतो भद्रिका प्रतिमाओं, सहस्रकूट जिनालयों, नन्दीश्वर जिनालयो, समवसरण जिनालयो, आदि की परम्परा के अलावा विद्या देवियो, अष्ट मातृकाओं, क्षेत्रपाल, सरस्वती और नव गृह की भी मान्यता है। जैन धर्म मे १६ विद्या देवियो के समूह की भी कल्पना की गई है, जिनके नाम है. रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृखला वज्रांकुशा, जाम्बूनदा,[६] पुरूषदत्ता, काली, महाकाली,[७] (या वैरोट्या,) गौरी गान्धारी, ज्वाला, मालिनी,[८] मानवी, वैरोटी[९] अच्युता[१०] मानसी, और महामानसी। कही कहीं इन विद्या देवियों के कुछ भिन्न नाम भी मिलते है, जैसे रोहिणी, प्रज्ञप्ति, बज्रशृखला, कुलिशाकुशा, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी,

१. हेमचन्द्र, पूर्वो० अष्टम प्रकाश।
२. वही।
३. बसन्त विलास, १, ७०-७३।
४. वाग् ब्राह्मी भारती गौर्गीर्वाणी भाषा सरस्वती, श्रुत देवी वचनं तु व्याहारो भाषितं वचः॥
५. हरिवंश पुराण, ५६, २७।
६. अभिधान चिन्तामणि, (देवकाण्ड द्वितीय)—चक्रेश्वरी
७. वही, महापरा; आचार दिनकर (उदय ३३) मे भी यही नाम मिलता है।
८. निर्वाण कलिका—ज्वाला
९. निर्वाण कलिका—वैरोट्या
१०. निर्वाण कलिका—अच्छुप्ता

गान्धारी, सर्वस्त्रा, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या अच्छुप्ता ज्वालामालिनी, महाकाली, मानवी, गौरी, गान्धारिका, त्रिराटा, तारिका, (अच्युता,) मानसी और महामानसी। यदि उपर्युक्त तालिकाओं का ध्यान पूर्वक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि जैन धर्मावलम्बियों ने विद्या देवियों के नाम से शाक्त सम्प्रदाय की देवियों को अपने धर्म ग्रन्थों मे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

जैनधर्म के प्रतिष्ठा शास्त्रों में यक्ष और यक्षियों को शासन रक्षक देवता अथवा शासन देवता स्वीकार किया गया है। प्रारम्भिक जैन शास्त्रों में शासन देवताओं को तीर्थङ्करों का सेवक-मानकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। आचार्य सोमदेव,[6] आचार्य नेमीचन्द्र[7] और प० आशाधर[8] ने यक्ष-यक्षियों की शासन देवता स्वीकार किया है: यद्यपि उपर्युक्त विद्वान इस मत से सहमत नही थे कि लौकिक कामना की पूर्ति हेतु शासन देवता की उपासना की जाय। फिर भी दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ भट्टारकों और श्वेताम्बर परम्परा के कुछ आचार्यो की रुचि मन्त्र और तन्त्र में विशेष रूप से थी। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी शासन देवताओं को तीर्थङ्कर की श्रेणी कभी भी प्राप्त नही हुई।

जैन ग्रन्थो मे शासनदेव के रूप मे बहुत सी यक्षणियों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि जैन ग्रथ उनके नामो के सबन्ध में एक मत नही हैं। 'तिलोय पण्णन्ती' के अनुसार शासन की रक्षा करने वाली यक्षियो के नाम इस प्रकार है—चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुशा अप्रति, चक्रेश्वरी, पुरूषदत्ता, मनोवेगा,काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, गौरी, गान्धारी, वैरोटी, अनन्तमती, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरुपिणी, कूष्माण्डी, पद्मा और सिद्धदायिनी। अपराजितपृच्छा' के अनुसार उनके नाम है,—चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञा, वज्रश्रृंखला, नरदत्ता, मनोवेगा, कालिका, कारिका, अनन्तागति, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपा, आम्बिका, पद्मावती, सिद्धदायिका। 'आचार्य दिनकर,' 'प्रतिष्ठा सारोद्धार,' और प्रतिष्ठा तिलक' आदि ग्रन्थों में इनके नाम कुछ परिवर्तन सहित दिये गये है। यद्यपि जैन ग्रन्थों में यक्षियों को शासन देव समूह के अन्तर्गत रखते हुए उन्हें भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है। लेकिन हमारी धारणा है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में उद्धृत लगभग सभी नाम शाक्त सम्प्रदाय की देवियों के है और बचे हुए नाम काल्पनिक है। जैन ग्रन्थों मे 'शासनदेवों' के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार नही किया गया है लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि गुप्तकाल के पश्चात् जैन धर्मावलम्बियो की साधना विधि और पूजा पद्धति पर शाक्त सम्प्रदाय का चाहे वह अत्यल्प ही क्यो न हो कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। इसलिये जैन आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे सरस्वती तथा देवियो के नामो और व्यक्तित्व को महत्व प्रदान किया है।

इस सबन्ध मे एक अन्य प्रमाण की भी चर्चा की जा सकती है। साधारणतया जैन मन्दिरो के द्वार के निकट 'भैरव' की प्रतिमा स्थापित करने की परम्परा है। कई बार भैरव की प्रतिमा के स्थान पर उनकी पूजा का स्थान भी निर्धारित होना पाया जाता है। हम जानते है कि शाक्त सम्प्रदाय में भैरव का दुर्गा मे निकट का सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि भैरव को किसी तरह जैन धर्म से सम्बन्धित कर भी दिया गया है तो भी उनका मूल व्यक्तित्व बदलना कठिन है। इस प्रकार संक्षेप मे कहा जा सकता है कि जैन धर्म शाक्त मत से कुछ अशो मे प्रभावित अवश्य हुआ है।

खाडा कलसा, छोटे गणेश जी
के मन्दिर के पास जोधपुर
(राजस्थान)

---

६. उपसकाध्ययन, ३६, ६६८
७ प्रतिष्ठा तिलक।
८. सागारधर्मामृत, ३, ७

# गोम्मटेश्वर बाहुबली

☐ पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली

बाहुबली ऋषभदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुनन्दा था। यह चौबीस कामदेवों मे से प्रथम कामदेव थे। इनकी शरीर की ऊंचाई सवा पांच सै धनुष थी। शरीर बलिष्ठ और भुजाएं लम्बी थी। इससे इनका दूसरा नाम भुजवली और दोर्बली भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत का शरीर भी वलिष्ठ और सुन्दर था, उनके शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष थी। विद्या, कला, कान्ति और दीप्ति मे बाहुवली भरत के ही समान थे। कामदेव होने के कारण स्त्रियां उन्हे मन्मथ, मदन, अनज, मनोज और मनोभव नामो से पुकारती थी। उनका वक्षस्थल विशाल और स्कंध उन्नत थे। मस्तक विशाल और तेज से सम्पन्न था। शिर के केश काले और घुघराले थे। इसमे सन्देह नही कि भरत वीर और राजनीतिज्ञ थे, किन्तु बाहुबली विवेकी, पराक्रमी और राजनीतिज्ञ होते हुए भी अत्यन्त चतुर थे और स्वभावत उग्र प्रकृति के धारक थे।

भगवान् ऋषभदेव नर्तकी नीलाजना का असमय मे शरीर पात देख कर देह भोगो से विरक्त हो गये, तब वे भरत और बाहुबली आदि को राज्य देकर निराकुल हो गये और प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सभी भाई अपना-अपना राज्य सचालन करते हुए जीवन यापन करने लगे। बाहुबली का राज्य शासन बड़ा ही सुन्दर और जन प्रिय था। वे न्याय नीति से प्रजा का पालन करते थे। उनकी राजधानी पोदनपुर थी।

भरत ने छह खंड पृथ्वी को विजित किया और चक्रवर्ती सम्राट् बने जब वे दिग्विजय से लौट कर वैभव के साथ अयोध्या आये। तब चक्ररत्न नगर के द्वार पर ही स्थित हो गया, वह नगर के भीतर प्रविष्ट नही हुआ। भरत ने तत्काल पुरोहित और मन्त्रियो को बुलवाया और पूछा कि जो चक्ररत्न समस्त दिशाओं को जीतने मे कहीं नहीं रुका, वह मेरे घर के द्वार पर आकर क्यों रुक गया? क्या मेरे साम्राज्य में अभी शत्रु मौजूद हैं जो मेरे वश में ही नहीं हुआ। ऐसा कोई व्यक्ति है जो मेरे उत्कर्ष को नही सह रहा है। चक्ररत्न विना किसी कारण के नहीं रुक सकता। तब पुरोहित ने कहा, नगर के द्वार पर चक्ररत्न रुकने से ज्ञात पड़ता है कि कुछ का विजय करना शेष है। यद्यपि आपने बाहर के सभी शत्रुओं को जीत लिया है किन्तु आपके भाइयो ने आकर आपको नमस्कार नही किया है। वे आपके विरुद्ध है। उन्होने निश्चय किया है कि हम भगवान् ऋषभदेव के सिवाय अन्य किसी को नमस्कार नही करेगे। आपके सभी भाई बलवान है किन्तु उन सब मे बाहुबली सबसे अधिक बलिष्ठ है। आपको इसका प्रतीकार करना चाहिए।

पुरोहित के वचनो से भरत अत्यन्त क्षुभित हुए, और लाल लाल आंखें निकालकर बोले—किसी शत्रु के प्रणाम न करने पर मुझे वैसा खेद नही होता जैसा घर के भीतर रहने वाले मिथ्याभिमानी भाइयो के नमस्कार न करने से हो रहा है। ये भाई अलात् चक्र की तरह मुझसे जल रहे है। अन्य भाई मेरे विरुद्ध आचरण करने वाले भले ही रहे, किन्तु तरुण बुद्धिमान परिपाटी को जानने वाला चतुर और सज्जन बाहुबली मेरे से कैसे विरुद्ध हो गया? मालूम होता है वह भुजाओं के बल से उद्धत हो गया। वे यह सोच रहे है कि एक ही कुल मे उत्पन्न होने से हम सौ भाई अवध्य है—हमे कोई नही मार सकता। पूज्य पिता जी द्वारा प्रदत्त भूमि का वे उपभोग करना चाहते हैं, पर ऐसा हो नही सकता। अब या तो उन्हे यह घोषणा करनी पडेगी कि इस पृथ्वी का स्वामी भरत है और हम सब उसके अधीन है। अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करना होगा। मुझे सबसे अधिक खेद बाहुबली पर है मैं उसे भ्रातृ प्रेमी समझा था, किन्तु अब मैं उसे

नहीं छोड़ सकता। बाहुबली को छोड़कर अन्य भाइयों ने नमस्कार भी किया तो उससे क्या? पोदनपुर के बिना यह समस्त साम्राज्य मुझे विष के समान है।

चक्रवर्ती को क्रोधान्ध देखकर पुरोहित ने उपदेश पूर्ण वचनों से शान्त करते हुए कहा देव! आपके भाई तो बालक हैं अतः वे बाल स्वभाव के कारण कुमार्ग में इच्छानुसार क्रीड़ा कर रमते है किन्तु काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य इन छः अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले आपको क्रोध करना उचित नही है। क्रोध रूप गाढ अन्धकार में डूब जाने से आत्मा का उपकार नही हो सकता। जो राग अपने अन्तरंग से उत्पन्न होने वाले शत्रुओं को जीतने में समर्थ नही है वह अपने आत्मा को नही जानने वाला कार्य और अकार्य को कैसे जान सकता है? क्रोध से कार्य की सिद्धि मे सन्देह बना रहता है। अत. आप अपकार करने वाले इस क्रोध को दूर कीजिए। जितेन्द्रिय मनुष्य केवल क्षमा से ही पृथ्वी को जीतते है। परलोक को जीतने वाले पुरुषों के लिए सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है। चतुर दूतो को भेजकर अपने भाइयो को वश मे करना उचित है। इससे आपको यश होगा। यदि वे शान्ति से वश न हो तब आगे का विचार करना चाहिए। पुरोहित के हितकारी वचनों से चक्रवर्ती का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने बाहुबली के सिवाय शेष भाइयों के पास दूत भेजना उचित समझा। दूतो ने जाकर उन्हे चक्रवर्ती का सन्देश सुनाया। सन्देश सुनकर सब भाइयो ने परस्पर मे विचार कर दूत से कहा, भरत का कहना उचित है क्योकि पिता के अभाव मे बड़ा भाई पूज्य होता है परन्तु समस्त ससार के जानने-देखने वाले हमारे पिता विद्यमान है वही हमे प्रमाण है, यह राज्य भी उन्ही का दिया हुआ है। अतः हम उन्ही की आज्ञा के अधीन है। भरत से न हमें कुछ लेना है और न देना है। इतना कह कर उन भाइयो ने दूतो को विदा किया और वे सब भाई कैलाश पर्वत पर विराजमान ऋषभदेव की सेवा में उपस्थित हुए और निवेदन किया—

देव! हमे आपने जन्म दिया है और आपने ही यह विभूति प्रदान की है। अतः हम आपके सिवाय अन्य किसी की सेवा नही करना चाहते। फिर भी भरत ने कहलाया है कि आकर मुझे नमस्कार करो. किन्तु हम इस जन्म में तो क्या परजन्म मे भी आपके सिवाय अन्य किसी देव या मनुष्य को प्रणाम करने मे सर्वथा असमर्थ हैं। हम आपके समीप जिन दीक्षा धारण करने आये हैं, जिनमें दूसरों को प्रणाम करने से मानभग का भय नही रहता। जो मार्ग सुखद और हितकर हो, वह आप हम लोगों को बतलाइये। इतना कह कर वे सब कुमार चुप हो गए। और सब जिज्ञासापूर्वक भगवान के मुख की ओर देखने लगे।

भगवान ने कहा, हे पुत्रो! तुम मनस्वी और गुणी होकर दूसरों के भार वहन करने वाले कैसे हो सकते हो! यह राज्य और जीवन चंचल है—विनाशी है। यौवन का उन्माद एक नशा है, सैन्य शक्ति बलवानों से पराजित हो जाती है। धन-सम्पत्ति को चोर चुरा ले जाते है। वह तृष्णारूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए ईंधन के समान है। इन्द्रिय-विषयों का आस्वादन अनेक बार कर चुके हो। चिरकाल तक भोग-भोगकर भी उनसे तृप्ति नही होती, उल्टा खेद ही होता है। अतएव ये विषय विष मिश्रित भोजन के समान है। फिर ऐसे कौन से विषय है जिन्हे तुमने भोगा नही। राज्य भी विनश्वर है, जिस राज्य मे पुत्र-मित्र और भाई-बन्धु शत्रु हो जाते है उस राज्य के लिए धिक्कार है। यह विनश्वर राज्य भरत के द्वारा जब कभी भी छोड़ा जायगा उस अस्थिर राज्य के लिए तुम व्यर्थ क्यो लड रहे हो। जब तक पुण्य का उदय है, पृथ्वी का उपभोग कर लो, किन्तु अन्त मे उसे छोड़ना ही पडेगा। ऐसे अस्थायी राज्य के लिए परस्पर मे झगड़ना बुद्धिमत्ता नही। अत ईर्ष्या करना व्यर्थ है। तुम लोग धर्मरूपी महावृक्ष के उस दयारूप फल को धारण करो, जो कभी म्लान नही होता और जिस पर मुक्तिरूपी महाफल लगता है, वह दूसरों की दीनता से रहित है, दूसरे भी जिसका आचरण करते है। वह तपश्चरण ही महाअभिमान के धारक तुम लोगों के मान की रक्षा कर सकता है। आत्मा के शत्रु उन कर्मों से लड़ना चाहिए, जिन्होंने चिरकाल से तुम्हे अपना दास बना रक्खा है।

भगवान के उपदेश को सुनकर सभी राजकुमार गद्-गद् हो गए और उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर ली।

भरत के छोटे भाइयों ने राज्य का परित्याग कर दिया; किन्तु फिर भी भरत का मन निराकुल न रह सका, क्योंकि बलवान बाहुबली अभी राज्यासीन था, और उसे अनुकूल करना सरल नहीं था।

**भरत-बाहुबली युद्ध**

भरत जानते थे कि बाहुबली बलशाली है, सामान्य सदेशों से वह वश में नहीं हो सकता। अन्य क्षत्रिय राजकुमारों और बाहुबली में उतना ही अन्तर था, जितना हिरणों और सिंह मे अन्तर होता है। बाहुबली वीर और पराक्रमी होने के साथ-साथ बडा नीतिज्ञ और उग्र प्रकृति का है। इसलिए युद्ध मे उसे वश से नही किया जा सकता। भाईपने के कपट से जिसके अन्तरंग मे विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतीकार नही। ऐसा यह बाहुबली घर के भीतर उठी हुई अग्नि के समान कुल को भस्म कर देगा। जिस तरह वृक्षों की शाखाओं के अग्र भाग की रगड़ से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वत का विघात कर देती है, उसी तरह भाई आदि अन्तरग प्रकृति से उत्पन्न हुआ प्रकोप राज्य का विघातक होता है।[1] अत: शान्ति से समस्या का हल होना सम्भव नही है, इसलिए चक्रवर्ती का चिंतित होना स्वाभाविक ही है। वे उसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहते थे। अतः उन्होने बहुत सोच विचार के बाद एक चतुर दूत बाहुबली के पास भेजा। अपने स्वामी की कार्य सिद्धि के लिए अनेक उपाय सोचता हुआ राजदूत पोदनपुर पहुंचा।

नगर के बाहर धान के पके हुए खेत लहलहा रहे थे, और किसान कटाई मे लगे हुए थे। ईख के खेतों मे गायें चर रही थी, उनके थनो से दूध भरा पड़ता था। किसानों की स्त्रियां खेतों मे बैठकर पक्षियों को भगा रही थीं। यह सब मनोरम दृश्य देखते हुए दूत ने नगर मे प्रवेश किया। और राजभवन के आंगन मे पहुंचकर द्वारपाल द्वारा अपने आगमन का समाचार कहलाया।

जब दूत राजदरबार में उपस्थित हुआ, तब तेजपुंज बाहुबली पर दृष्टि पडते ही कुछ घबरा-सा गया। विनम्र मस्तक से दूत ने बाहुबली को नमस्कार किया और बाहुबली ने सत्कारपूर्वक उसे अपने पास बिठाया। जब दूत अपना स्थान ग्रहण कर चुका, तब बाहुबली ने मुस्कराते हुए कहा—भद्र ! समस्त पृथ्वी के स्वामी आपके चक्रवर्ती कुशल से तो है। आज बहुत दिनो बाद उन्होने हम लोगों को स्मरण किया है। सुना है उन्होने सब राजाओं को जीत लिया है, और सब दिशाओं को अपने अधीन कर लिया है। उनका यह कार्य समाप्त हो चुका है या कुछ शेष है।

दूत विनयपूर्वक बोला—देव ! हम लोग दूत है, गुण और दोषों का विचार करने में असमर्थ है। अत: अपने स्वामी की आज्ञानुसार चलना हमारा धर्म है। चक्रवर्ती ने जो उचित आज्ञा दी है उसे स्वीकार करने में ही आपका गौरव है। भरत प्रथम चक्रवर्ती है और आपके बडे भाई है। उन्होने पृथ्वी को वश मे कर लिया है, देवता उन्हे नमस्कार करते है। उनके एक ही बाण ने महासमुद्र के अधिपति व्यन्तरदेव को उसका शिकार बना दिया। विजयार्ध के पर्वत की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों ने भी उसका जयघोष किया है। उत्तर भारत ने वृषभाचल पर उन्होने अपनी प्रशस्ति अंकित की। म्लेच्छ राजाओं पर भी विजय प्राप्त की है। देव उनके सेवक है और लक्ष्मी दासी है। उन्ही भरत ने अपने आशीर्वाद से आपका सन्मान कर आज्ञा दी है कि समुद्र पर्यन्त फैला हुआ यह राज्य भाई बाहुबली के बिना शोभा नही देता। अत: आप भरत के समीप जाकर उन्हे प्रणाम करें। भरत की आज्ञा कभी व्यर्थ नही जाती। जो उनकी आज्ञा का उल्लंघन करते है उन पर चक्र रत्न अव्यर्थ प्रहार करता है।[2] अत. आप शीघ्र ही चलकर उनका मनोरथ पूर्ण करें। आप दोनों भाइयों के मिलाप से यह संसार भी परस्पर मे मिलकर रहना सीखेगा।

दूत के वचन सुनकर मन्द-मन्द हसते हुए धीर-वीर

---

१. ज्ञाति व्याजनिगूढान्तर्विक्रियो निष्प्राप्तिक्रियः।
सोऽन्तर्गृहोत्थितोवह्निरिवाशेषं दहेत् कुलम् ॥
अन्तः प्रकृतिगः कोपोविघाताय प्रभोर्मतः।
तरु शाखाप्रसंघहजन्मा वह्निर्यथागिरेः ॥
—आदिपुराण ३५, १७-१८

२. अवन्ध्य शासनस्यास्य शासनं ये विमन्वते।
शासनं द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम् ॥ ३५—८६.

बाहुबली कहने लगे—दूत ! जिन्हें शान्ति से वश में नहीं किया जा सकता उनके साथ अहकार का प्रयोग करना मूर्खता है। भरतेश्वर उम्र मे बड़े हैं किन्तु बूढा हाथी सिंह के बच्चे की बराबरी नहीं कर सकता।[३] यह ठीक है कि बड़ा भाई पूज्य होता है किन्तु जिसने सिर पर तलवार रख छोड़ी है उसे प्रणाम करना कहा की रीति है ? भगवान ने हम दोनों को राज्य पद दिया था। यदि भरत लोभ में पड़कर राजा बनना चाहता है तो भले ही बनें, परन्तु हम तो अपने सुराज्य मे रहकर राजा ही बना रहना पसन्द करते हैं। वह हमे बच्चो के समान फुसलाकर और हम से प्रणाम करवाकर भूमि का टुकड़ा देना चाहता है किन्तु भरत का दिया हुआ वह भूमि खण्ड हमारे लिए खली के टुकड़े के समान है।[४] मनस्वी पुरुष अपनी भुजाओ के परिश्रम से प्राप्त अल्प फल मे ही सन्तुष्ट रहते है।[५] जो पुरुष राजा होकर भी अपमान से मलिन विभूति को स्वीकार करता है, वह नर पशु है और उनकी विभूति एक भार है। मानभग कराकर प्राप्त हुई भोग सम्पदा में अनुरक्त मनुष्य, मनुष्य नही किन्तु पशु है। मुनि भी जब स्वाभिमान का परित्याग नही करते तब राजपुरुष कैसे अपना अभिमान छोड़ सकता है।[६] बन में जाकर रहना अच्छा है और प्राणो का परित्याग करना भी अच्छा है किन्तु स्वाभिमानी पुरुष के लिए किसी का दास होना अच्छा नही है[७]। पिता जी के द्वारा दी हुई हमारे कुल की यह पृथ्वी भरत के लिए भाई की स्त्री के समान है। जब वह उसे लेना ही चाहता है तो क्या उसे लज्जा नही आती[८]। जो मनुष्य स्वतंत्र है और शत्रुओं को अपनी इच्छानुसार जीतने की इच्छा करते हैं, वे अपने कुल की स्त्रियों और भुजाओं से कमाई हुई पृथ्वी को छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते है[९]। धीर वीर पुरुष प्राण देकर भी मान की रक्षा करते हैं क्योंकि मानपूर्वक कमाया हुआ यश ही संसार की शोभा है। अतः अपने चक्रवर्ती से जाकर कह देना कि या तो पृथ्वी का उपभोग भरत करेगा या मैं ही उपभोग करूगा[१०]। हम दोनों का जो कुछ होगा वह युद्ध भूमि मे ही होगा। इतना कहकर स्वाभिमानी बाहुबली ने दूत को विदा कर दिया और युद्ध की तैयारी करने का आदेश दिया। उधर जब दूत के मुख से बाहुबली का निर्णय ज्ञात हुआ तो भरत ने भी अपनी सेना के साथ पोदनपुर के लिए प्रस्थान किया। दोनों ओर की सेनाएं रणभूमि मे आ डटी। और दोनों ही पक्ष के योद्धा अपनी अपनी सेना की व्यूह रचना करने में जुट गये।

इधर मंत्रीगण विचार विमर्श में लगे हुए थे। उनका कहना था कि क्रूर ग्रहो के समान दोनों का युद्ध शान्ति के लिए नहीं है। दोनों ही चरम शरीरी है। अतः युद्ध से इन दोनो की कोई क्षति नही हो सकती। किन्तु दोनों ही पक्ष के योद्धा व्यर्थ मे मारे जायेंगे। भीषण नर सहार होगा, ऐसा विचार कर दोनों ही पक्ष के मन्त्रियों ने अपने स्वामी की अनुमति लेकर उनके सामने यह विचार रक्खा कि निष्कारण नर सहार करने से बडा अधर्म होगा और लोक मे अपयश फैलेगा। बलाबल की परीक्षा तो अन्य प्रकार से भी हो सकती है। अतः आप दोनों भाई तीन प्रकार का युद्ध करें। और जिसकी पराजय हो वह भृकुटि

---

३. ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्कामयस्त्वन्यदा सदा।
मूर्धन्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति कः क्रमः ॥३५-१०७

४. बालानिवच्छलादस्मान् आहूय प्रणम्य च।
पिण्डीखण्ड युवा भाति महीखण्डस्तदर्पितः॥ ३५-१११

५. स्वेदार्द्रमफलं श्लाघ्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम्।
न चातुरन्तमप्यैश्यं परभ्रूलतिकाफलम् ॥ ३५-११२

६. आदिपुराण ५—११७.

७. वरं बनाधिवासोऽपि वरं प्राण विसर्जनम्।
कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञा विधेयता ॥
आ. पु. ३५-१८

८. दूत तातवितीर्णां नो महीमेना कुलोचिताम्।
भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सोः नास्यलज्जा भवत्पतेः॥
आ. पु. ३५-३४

९. देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगीषुणा।
मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्ष्मातलं च भुजार्जितम् ॥
आ. पु. ३५—३५

१०. भूयस्तदलमालप्य स वा भुङ्क्ता महीतलम्।
चिरमेकातपत्राङ्कम् अहं वा भुजविक्रमी॥
आ. पु. ३५—३६

टेढ़ी किये बिना सहन करे। भाई भाई का यही धर्म है। सब राजाओं और मंत्रियों के आग्रह से दोनों भाइयों ने इस विचार को स्वीकार किया। तुरन्त ही सेना में यह घोषणा कर दी गई कि दृष्टि युद्ध, जल युद्ध और बाहु युद्ध (मल्लयुद्ध) मे दोनो मे से जो विजयी होगा वही जयलक्ष्मी का स्वामी माना जावेगा।

इस घोषणा के बाद दोनों ओर के प्रमुख-प्रमुख पुरुष अपने अपने स्वामी के साथ दोनो ओर बैठ गये। सबसे पहले दृष्टि युद्ध हुआ, उसमे बाहुबली विजयी हुए। अपने स्वामी की विजय से हर्षित हो बाहुबली को सेना जयघोष करने लगी, तब प्रमुख पुरुषों ने रोककर मर्यादा की रक्षा की।

इसके बाद दोनों भाई जलयुद्ध करने के लिए सरोवर मे उतरे और अपनी लम्बी भुजाओं से एक दूसरे पर पानी फेंकने लगे। भरत से बाहुबली लम्बे थे। अतः भरत के द्वारा फेंका गया पानी बाहुबली के विशाल वक्षस्थल से टकरा कर ऐसे लौटता था जैसे पर्वत से टकराकर समुद्र की लहर लौट आती है, और बाहुबली के द्वारा उछाला गया पानी भरत के मुख, आख, नाक और कानों मे भर जाता था। अतः जलयुद्ध मे भी भरत पराजित हुए। बाहुबली के सेना ने पुनः जयघोष किया।

पश्चात् दोनों नर शार्दूल बाहुयुद्ध के लिए रंगभूमि में उतरे। दोनों ने हाथ मिलाये, ताल ठोंकी, पैंतरे बदले और फिर आपस में भिड़ गये। सहसा बाहुबली ने चक्रवर्ती भरत को दबोच लिया और उन्हें एक हाथ से उठाकर अलातचक्र के समान घुमा डाला। बाहुबली चाहते तो चक्रवर्ती को जमीन पटक सकते थे। किन्तु उन्होंने आखिर बड़े भाई हैं उनकी पद मर्यादा का विचार कर वैसा नहीं किया, और चक्रवर्ती को अपने कन्धे पर बैठा लिया। उस समय बाहुबली के पक्ष में तुमुल जयघोष हुआ। और भरत के पक्ष के राजाओं ने लज्जा से अपने सिर झुका दिये।

दोनों पक्षों के सामने हुए अपमान से भरत क्रोध से अन्धा हो गया। निधियों के स्वामी उस भरत ने बाहुबली की पराजय करने के लिए शत्रु समूह का विनाश करने वाले सुदर्शन चक्र रत्न का स्मरण किया, और विवेकहीन होकर नीति अनीति का विचार न कर बाहुबली पर चक्र चला दिया। किन्तु देवोपुनीत अस्त्र वश घात नही करते। अतः चक्र ने बाहुबली के पास जाकर उसकी प्रदक्षिणा की और तेजहीन होकर वही ठहर गया। उस समय दोनों पक्ष के प्रमुख प्रमुख राजाओ ने बाहुबलि की प्रशसा करते हुए उनका खूब आदर सत्कार किया। आपने खूब पराक्रम दिखलाया ऐसा उच्चस्वर से कहते हुए बाहुबली ने भरत को कन्धे से धीरे से उतारा।

उस समय बाहुबली ने अपने को बड़ा अनुभव किया, किन्तु घटनाचक्र ने उन्हें विचार सागर में निमग्न कर दिया। वे सोचने लगे, देखो, हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह राज्य क्षणभंगुर है और उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है, जो एक स्वामी को छोड़कर अन्य के पास चली जाती है। यह राज्य प्राणियों को छोड देता है। परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नही छोड़ते। भाई को परिग्रह की चाह ने अन्धा कर दिया है और अहंकार ने उनके विवेक को भी दूर भगा दिया है। पर देखो, दुनिया मे किसका अभिमान स्थिर रहा है? अहकार की चेष्टा का दंड ही तो अपमान है। तुम्हे राज्य की इच्छा है तो लो इसे सम्हालो और जो उस गद्दी पर बैठे उसे अपने कदमों मे झुका लो। उस राज्य सत्ता को धिक्कार है, जो न्याय अन्याय का विवेक भुला देती है। और इन्सान को हैवान बना देती है। अब मैं इस राज्य त्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान करना चाहता हूं। भरत की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है वह इस नश्वर राज्य को अविनश्वर मानता है।

बाहुबली ज्यों ज्यो अपने बड़े भाई की नीचता का विचार करते त्यों त्यों उन्हे घोर कष्ट होता था। अन्त में वह भरत से बोले—राजश्रेष्ठ! क्षण भर के लिए अपनी को छोड़कर मेरी बात सुनो—तुमने आज बड़ा दुस्साहस किया है जो मेरे इस अभेद्य शरीर पर चक्र का प्रहार किया है। जैसे वज्र के बने पर्वत को वज्र की कुछ हानि नहीं पहुंचती वैसे ही तेरा यह चक्र मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता। दूसरे तुमने जो अपने भाइयो का घर उजाड़ कर राज्य प्राप्त करना चाहा है उससे तुमने खूब धर्म और यश कमाया है। आने वाली पीढ़िया कहेंगी,

कि आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत ने अपने कुल का अच्छा उद्धार किया था। पाप से सनी हुई जिस राज्य लक्ष्मी को तू अविनाशी समझता है, वह तुझे ही मुबारिक हो। अब वह मेरे योग्य नही है। अब मैं तप रूपी लक्ष्मी को स्वीकार करना चाहता हूं। मुझसे जो अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करो। मैं अपनी चचलता के कारण विनय को भूल बैठा, इसका मुझे खेद है।

बाहुबली की इस उदार वाणी को सुनकर चक्रवर्ती सन्तप्त हृदय कुछ शीतल हुआ, और वह अपने दुष्कृत्य के लिए पश्चाताप करने लगा। उसने बाहुबली की बहुत अनुनय विनय की, परन्तु बाहुबली अपने संकल्प से रच-मात्र भी विचलित नही हुए। और अपने पुत्र महाबली को राज्य देकर विरक्त हो वन मे जाकर तपस्या करने लगे। उन्होने सर्व परिग्रह का परित्याग कर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया। बाहुबली ने एक वर्ष तक एक ही स्थान मे स्थित होकर घोर तपश्चरण किया उनका तपस्वी जीवन बड़ा ही कठोर रहा है। वे एक वर्ष में भूख, प्यास, शीत-उष्ण, दंश मशक आदि विविध परीषहों को सहन करते हुए अपने शुद्ध चैतन्य भाव में तन्मय रहे। वर्षा सर्दी गर्मी आदि ऋतुओं में होने वाले विविध कष्टो की परवाह न करते हुए शम भाव में रहे हैं। उनकी दृष्टि में मान अपमान, सुख-दुःख जीवन-मरण, धन-धान्य, कचन और काच आदि सभी पदार्थों में समता रही है। उनके इस तपस्वी जीवन मे माधवी लताए बाहुओ से लिपट गई थी, और सर्पों ने चरणो के नीचे वामियां बना ली थीं और वे सर्प उनके शरीर पर चढ़ जाते थे, जिससे वे भयंकर प्रतीत होने लगे थे। विद्याधरियों ने माधवी लता के पत्तों को तोड़ दिया था जिससे वे सूख कर उनके चरणों मे गिर पड़े थे। उनकी समता और अहिंसा की प्रतिष्ठा से जाति विरोधी जीव सिंह हिरणादिक अपना वैर भाव छोड़कर उस पर्वत पर निर्भय होकर विचरण करते थे। इन्द्रियजय और परीषहजय से उनके विपुल कर्मों की निर्जरा हो रही थी। उन्होने क्षमा से क्रोध को जीता था अहकार के त्याग से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ पर विजय प्राप्त की थी''। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार सज्ञाओ पर विजय प्राप्त की थी। सतत जागरुक और स्वरूप में सावधान रहने से कषायरूपी चोर उनकी रत्नत्रय निधि (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) को नही चुरा सके थे''। तपश्चरण से उन्हे अणिमा-महिमादि अनेक ऋद्धियां प्राप्त हो गई थी। क्रीडार्थ आई हुई विद्याधरियां कभी कभी उनके शरीर पर लगी हुई माधवीलता को हटा देती थी''। तपश्चरण से उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था किन्तु आत्मतेज चमक रहा था। तपश्चरण और ध्यान केवल उनकी तप-शक्ति बढ़ गई थी और लेश्या भी शुक्ल हो गई थी। एक वर्ष का उपवास समाप्त होते ही भरतेश ने आकर उनके चरणों की पूजा की। पूजा करते ही उन्हे बोधिलाभ—केवल ज्ञान—की प्राप्ति हो गई''। बाहुबली के चित्त में शल्य का जो कोई सूक्ष्म अश अवशिष्ट था उसके दूर होते ही वे पूर्ण ज्ञानी हो गये। भरत ने उनके केवलज्ञान की पूजा की और देवादिकों ने भी पूजा की। उन्होंने अनेक देशों में विहार किया और जनता को सन्मार्ग का उपदेश दिया। और कैलाश पर्वत पर जाकर स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त किया—सिद्ध परमात्मा बन गए।

**बाहुबली की मूर्ति**

बाहुबली की पावन स्मृति में चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने पोदनपुर मे बाहुबली की समुन्नत सुवर्णांकित प्रशान्त

११. परीषहजयादस्य विपुला निर्जराभवत्।
कर्मणां निर्जरोपायः परीषहजयः परः॥ ३६-१२८
क्रोधं तितिक्षया मानम् उत्सेकपरिवर्जनैः।
मायामृजुतया लोभं सन्तोषेण जिगीषसः॥ १२६

१२. कषाय तस्करैर्नास्य हृतं रत्नत्रयं धनम्।
सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमाद्यतः॥ ३६।१३६

१३. विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः।
वल्लीरुद्वेष्टयामासुः मुनेः सर्वाङ्गसङ्गिनी॥
आ. पु. ३६-१८३

१४. इत्युपारूढं सद्ध्यानबलोद्भूततपोबलः।
स लेश्याशुद्धिमास्कन्दन शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत्॥
वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः।
स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षयम्॥
आदिपुराण ३६, १८४–१८५

भव्य मूर्ति का निर्माण कराया था, परन्तु वह कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो जाने के कारण दुर्गम हो गई थी। इस कारण उसका दर्शन पूजन करना जनता को दुर्लभ हो गया था। जब यह समाचार चामुण्डराय को ज्ञात हुआ तो उसने भी बाहुबली की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। जो दक्षिण भारत का निवासी था, और जिसका घरू नाम गोम्मट था, और राजमल्ल द्वारा प्रदत्त 'राय' उनकी उपाधि थी। इस कारण चामुण्डराय गोम्मटराय कहे जाते थे[१५]। जैसा कि गोम्मटसार जीवकाण्ड के—'सो राम्रो गोम्मटो जयउ' वाक्य से स्पष्ट है। चामुण्डराय ब्रह्म-क्षत्रिय वंश के भूषण थे, वीर प्रतापी और धर्मनिष्ठ थे। वह गंगवंशी राजा राजमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे। वह पराक्रमी, शत्रुजयी, दृढ़ निश्चयी, साहसी और वीर योद्धा था। उसने अनेक युद्धों मे विजय श्री प्राप्त की थी। इसी से समर धुरंधर, वीर मार्तण्ड, रणरंग सिंह, भुज विक्रम और वैरी कुल कालदण्ड आदि अनेक उपाधियो से समलंकृत था। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार मे चामुण्डराय को 'गुणरत्नभूषण' और सम्यक्त्व रत्न निलय बतलाया है और गोम्मटराय नाम से भी उल्लेखित किया है। इससे चामुण्डराय के व्यक्तित्व की महत्ता का सहज ही आभास हो जाता है। जहां वह राजनीतिज्ञ था वहां वह विद्वान धर्मनिष्ठ और ग्रन्थ रचयिता भी था।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ९६८वी गाथा मे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उनकी तीन उपलब्धियों का उल्लेख किया है :—

**गोम्मट संगह सुत्तं गोम्मट सिहरुवरि गोम्मट जिणो य।**
**गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिण कुक्कुट जिणो जयउ॥**

उक्त गाथा मे गोम्मट संग्रह सूत्र, गोम्मट जिन और दक्खिण कुक्कुट जिन, इन तीन कार्यों में उल्लेख किया गया है।

**गोम्मट संगह सुत्त**—गोम्मट संग्रह सूत्र गोम्मटसार नाम का ग्रन्थ है, जिसका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है, और जिसे चामुण्डराय के अनुरोध से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का सार लेकर रचा था।

गोम्मट जिनसेन तात्पर्य नेमिनाथ भगवान् की एक हस्त प्रमाण इन्द्र नीलमणि की उस मूर्ति से है, जिसे चामुण्डराय ने बनवा कर अपनी वसति मे चन्द्रगिरि पर्वत पर विराजमान किया था, किन्तु वह अब वहां पर नहीं है। और दक्षिण कुक्कुट जिनसे अभिप्राय बाहुबली की उस विशाल मूर्ति से है जो विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठित की गई है, और जो उत्तर प्रदेश पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित बाहुबली की उस शरीराकृति मूर्ति से भिन्न है, तथा कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो गई थी। उससे भिन्नता द्योतन करने के लिए ही दक्षिण कुक्कुट विशेषण लगाया गया है।

चामुण्डराय द्वारा निर्मित यह दिव्य मूर्ति ५७ फुट ऊंची है। प्रशान्त कलात्मक और चित्ताकर्षक है। इतनी विशाल और सुन्दर कृति मूर्ति अन्यत्र नहीं मिलती। श्रवणबेलगोल में प्रतिष्ठापित जगद्विख्यात यह मूर्ति अद्वितीय है। जो धूप, वर्षा, सर्दी, गर्मी और आंधी आदि की बाधाओं को सहते हुए भी अविचल स्थित है। मूर्ति शिल्पी की कल्पना का साकार रूप है। मूर्ति के नख-शिख वैसे अंकित हैं जैसे उनका आज ही निर्माण हुआ हो। मूर्ति को देखकर दर्शक की आंखें प्रसन्नता से भर जाती है। बाहुबली की यह मूर्ति ध्यान अवस्था की है। बाहुबली के केवल ज्ञानी होने से पूर्व वह जिस रूप में स्थित थे, माधवी लताओ ने उनके बाहुओं को लपेट लिया था और सर्पों ने बामियां बना ली थी। कलाकार ने उसी रूप को अंकित किया है। दर्शक की आखें उस मूर्ति को देखकर तृप्त नहीं होती। उसकी भावना उसे बार-बार देखने की होती है। मूर्ति के दर्शन से जो आत्मलाभ और शान्ति मिलती है वह शब्दों द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। मैं तो उस मूर्ति के दर्शन से अपना जीवन सफल हुआ मानता हूं। और चाहता हूं कि अन्तिम समय मे इस मूर्ति का दर्शन मिले। मूर्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह निरावरण होते हुए भी उस पर पक्षी बीट नही करते। हजारों विदेशी जन इस मूर्ति का दर्शन करना अपना सौभाग्य

१५. अनेकान्त वर्ष ४ कि० ३-४ पृ. २२९, २६३।

समझते हैं। इस मूर्ति का निर्माण चामुण्डराय के सातिशय पुण्य का प्रतीक है। उसकी धवल कीर्ति अमर और चिर-स्थायी है।

**मूर्ति के प्रतिष्ठा समय पर विचार**

बाहुबली की इस मूर्ति की प्रतिष्ठा कब हुई, इस पर विचार किया जाता है।

चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण (त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित) शक संवत् ६०० ई० सन् ६७८ मे बना कर समाप्त किया है। उस समय तक बाहुबली की मूर्ति का निर्माण नही हुआ था, अन्यथा उसका उल्लेख उक्त ग्रन्थ में अवश्य हुआ होता। किन्तु उसमें कोई उल्लेख नही है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। बाहुबलि चरित मे गोम्मेटेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख निम्न प्रकार पाया जाता है :—

**कल्क्यब्दे षट् शताख्ये विनुतविभव संवत्सरे मासि चैत्रे,**
**पञ्चम्यां शुक्ल पक्षे दिनमणि दिवसे कुम्भ लग्ने सुयोगे।**
**सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित भगणे सुप्तशस्तां चकार।**
**श्री चामुण्डराजो बेलगुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम्।।**

इस पद्य से स्पष्ट है कि कल्कि सं० ६०० विभव सवत्सर में चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार को कुम्भ लग्न सौभाग्ययोग, मृगशिरा नक्षत्र में चामुण्डराय ने बेलगुल नगर मे गोम्मटेश की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। किन्तु इस तिथि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। मि० घोषाल ने वृहद्द्रव्य सग्रह की अपनी अग्रेजी प्रस्तावना मे उक्त तिथि को २ अप्रेल सन् ६८० मे माना है। और श्री गोविन्द पै ने १३ मार्च सन् ६८१ मे स्वीकृत किया है। डा० हीरालाल जी ने २३ मार्च सन् १०२८ मे उक्त तिथि को ठीक घटित होना बतलाया है। और श्याम शास्त्री ने ३ मार्च सन् १०२८ को उक्त तिथि के घटित होने का निर्देश किया है।

डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य ने भारतीय ज्योतिष की गणना के अनुसार विभव संवत्सर चैत्र शुक्ला पचमी रविवार को मृगशिरा नक्षत्र का योग १३ मार्च सन् ६८१ मे घटित होना प्रगट किया है। तथा अन्य ग्रहो की स्थिति भी इसी दिन सम्यक् घटित होती बतलाई है। अतएव उक्त मूर्ति का प्रतिष्ठा काल सन् ६८१ मानना समुचित जान पड़ता है[१६]।

महाकवि रत्न ने अपना अजितपुराण शक सं० ६१५ सन् ६६३ ई० में समाप्त किया है। उसमें बाहुबली की मूर्ति को कुक्कुटेश्वर लिखा है। गोम्मटेश्वर नही। और इसी पुराण के अनुसार अति मब्बे ने उक्त मूर्ति के दर्शन किये थे। इससे स्पष्ट है कि बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा सन् ६६३ से पूर्व हो चुकी थी। उस समय तक उसकी प्रसिद्धि कुक्कुटेश्वर थी। गोम्मटेश्वर और गोम्मट स्वामी के नाम से नही थी।

गोम्मटसार की रचना बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा के बाद हुई है, क्योंकि उसमे मूर्ति को गोम्मटेश्वर, गोम्मट देव जैसे नामों से उल्लेखित किया है और चामुण्डराय की प्रशंसा करते हुए उन्हे गोम्मटराय, गोम्मट बतलाया है और उनके जयवंत होने की कामना की है। इससे चामु-ण्डराय के गोम्मट नाम की प्रसिद्धि हुई है, जो उनका घरू नाम था। उन्ही के नाम के कारण मूर्ति गोम्मटेश्वर गोम्मट देव नाम से ख्यात हुई।

आचार्य जिनसेन ने भगवान् बाहुबली की स्तुति करते हुए लिखा है कि जो शीतकाल मे बर्फ से ढके हुए ऊचे शरीर को धारण करते हुए पर्वत के समान प्रकट होते थे। वर्षा ऋतु मे नवीन मेघो के जल समूह से प्रक्षालित होते थे—भीगते रहते थे, और ग्रीष्म काल मे सूर्य की किरणो के ताप को सहन करते थे, वे बाहुबली सदा जयवत हों।

**स जयति हिमकाले यो हिमानी परीतं,**
**वपुरचल इवोच्चैर्विभ्रवाविर्बभूव।**
**नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले,**
**खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले विषेहे।। ३६–२११**

जिन बाहुबली ने अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते है और जो पूज्य पुरुषों के द्वारा भी पूजनीय है ऐसे इन योगिराज बाहुबली को जो पुरुष अपने हृदय मे स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता और वह शीघ्र ही जिनेन्द्र भगवान् की अजय्य विजय लक्ष्मी को प्राप्त होता है। जो बाहुबली के गुणो का शान्त भाव

[शेष पृष्ठ ८८ पर]

१६. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ५ किरण ४ पृ.

# भगवान महावीर की सर्वज्ञता

☐ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

ऐतिहासिक महापुरुष वर्द्धमान का जन्म विदेह के कुण्डपुर में ई. पू. ५९९ मे हुआ था। उनके जीवन का भली भांति अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि दार्शनिक जगत मे भगवान महावीर की मान्यता का प्रमुख कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि थी। केवल ऐतिहासिक पुरुष होने के कारण तथा धर्मप्रचारक, प्रसारक व नेता होने से ही कोई शत-सहस्राब्दियों तक पूज्य नहीं हो सकता। विभिन्न मतो की स्थापना करने वाले भी अनेक आचार्य तथा विद्वान हुए। किन्तु उन मे से कितने नाम आज हम जानते है? भारतीय संस्कृति मे त्याग और तपस्या के परम आदर्श परमात्मा का ही प्रतिदिन नाम-स्मरण किया जाता है। भगवान महावीर ऐसे ही परमात्मा हुए, जो सभी प्रकार के दोषो तथा बन्धनों से रहित एव परम गुणों से सहित थे।[1] परमात्मा के ही अन्य नाम है—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, ब्रह्मा, बुद्ध, कर्मयुक्त आत्मा।[2] किन्तु विभिन्न दर्शनो मे इन शब्दो की निरुक्ति एव व्याख्या अलग-अलग रूपो मे की गई है। इसलिए प्राय. एक दर्शन का ज्ञाता दूसरे दर्शन को समझते समय अपनी मान्यताओ एव पूर्वग्रह के अनुसार अपनी-अपनी कसौटियो पर दूसरो को कसने का प्रयत्न करते है जिससे उनके साथ न्याय नही हो पाता।

प्रश्न यह है कि महावीर सर्वज्ञ थे या नही? जैन आगम ग्रन्थों मे पूर्णज्ञान से विशिष्ट भगवान महावीर का स्तवन किया गया है। भगवान महावीर सब पदार्थों के ज्ञाता, द्रष्टा थे। काम क्रोधादि के अन्तरंग शत्रुओं को जीत कर वे केवलज्ञानी बने थे। निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले वे अटल पुरुष आत्मस्वरूप में स्थिर थे। सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मविद्या के पारगामी, समस्त परिग्रहों के त्यागी, निर्भय मृत्युंजय एव अजर-अमर थे।[3] जिनके केवलज्ञानी रूपी उज्ज्वल दर्पण मे लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होते है तथा जो विकसित कमल के समान समुज्जवल है वे महावीर भगवान जयवन्त हों।[4] आचार्य हेमचन्द्र सूरि श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहते है—अनन्तज्ञान के धारक, दोषो से रहित, अबाध्य सिद्धांत से युक्त, देवों से भी पूज्य, वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशियो मे मुख्य और स्वयम्भू श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र की स्तुति हेतु में प्रयत्न करूगा।[5]

## सर्वज्ञ का अर्थ

जो सब को जानता है, वह सर्वज्ञ है। 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग प्राय: दो अर्थो मे किया जाता है। पदार्थ के मूल तत्त्व को जानना, समान चेतना सम्पन्न प्राणियो मे वही जीव तत्त्व है जो हम में है, इसलिये अपने आप का जान लेने का अर्थ उन सभी जीवों को जान लेना है। इस अर्थ के अनुसार सभी पदार्थों को जानना देखना अभीष्ट नही है, किन्तु तत्त्व को जानना, देख लेना ही सब को जानना देख लेना है। कहा भी जाता है कि 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' में व्याप्त है। वैसे इस सारे संसार का विशद ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है, इसलिये पिण्ड में व्याप्त तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने से सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। जैनागम के वचन हैं—

---

१. "ववगयअसेस दोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।"
—नियमसार, १, ५

२. णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हूं विण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुड॥
—भावपाहुड, १५१

३. सूत्रकृतांग, १, १, १।

४. सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोय।
पुढ पडिबिम्बं दीसइ वियसियसयवत्तगब्भगउरो वीरो॥
—जयधवला

५. अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्।
श्रीवर्द्धमान जिनमाप्तमुख्य स्वयम्भुव स्तोतुमहं यतिष्ये।
—स्याद्वादमजरी, १

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ"
(आचारांगसूत्र १, ३, ४, १२२)

आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों का भी यही सार है जो आत्मा को जानता है, वह सब को जानता है[६] और जो सब को नहीं जानता, वह एक आत्मा को भी नहीं जानता जो जानता है, वह ज्ञान है और जो ज्ञायक है, वही ज्ञान है। जीव ज्ञान है और त्रिकालस्पर्शी द्रव्य ज्ञेय है।[७] यदि आत्मा और ज्ञान को सर्वथा भिन्न माना जाए, तो हमें अपने ही ज्ञान से अपनी ही आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकेगा। आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोकालोक है, इसलिये ज्ञान सर्व व्यापक है।[८] यदि आत्मा ज्ञान से हीन हो, तो वह ज्ञान अचेतन होने से नहीं जानेगा। इसलिये जैनदर्शन मे आत्मा को ज्ञानस्वभाव कहा गया है। ज्ञान की भांति आत्मा सर्वगत है। जिनवर सर्वगत है और जगत के सब पदार्थ जिनवर-गत है। क्योंकि जिनवर ज्ञानमय है (पूर्णज्ञानी है) और सभी पदार्थ ज्ञान के विषय है इसलिये जिनवर के विषय तथा सर्व पदार्थ जिनवरगत है।[९] सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा न होने मे वह केवलज्ञान-क्रम की अपेक्षा नहीं रखता। सर्वज्ञ के ज्ञान मे सभी ज्ञेय पदार्थ युगपत् प्रतिबिम्बित होते है। केवली भगवान के ज्ञानवरण और दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। इस लिये इस ज्ञान में किसी प्रकार का अंतराल नहीं पड़ता।[१०] इस प्रकार जैनदर्शन ने सदा ही त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यो की समस्त पर्यायों के प्रत्यक्ष दर्शन के अर्थ मे सर्वज्ञता मानी है।[११] इन्द्रियजन्य ज्ञान तो जगत के सभी सज्ञी जीवों में पाया जाता है। किन्तु यदि सर्वज्ञ को न माना जाय तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान किसे होता है।[१२] अतएव सभी तीर्थंकरों तथा जिन केवलियों को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी माना गया है।[१३] जिन को पूर्ण ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर इन्द्रिय, क्रम और व्यवधान रहित तीनो लोकों के सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट हो जाता है, वे केवली कहे जाते हैं। पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान है, वह परोक्ष है और केवल जीव के द्वारा ज्ञात ज्ञान प्रत्यक्ष है।[१४] मन, इन्द्रिय, परोपदेश उपलब्धि, सस्कार तथा प्रकाश आदि पर है। इसलिए इनकी सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। केवल आत्मस्वभाव को ही कारण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान का साधक कहा गया है।

डा० रमाकान्त त्रिपाठी के शब्दों मे 'सर्वज्ञता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया जा सकता है- (१) प्रत्येक वस्तु के सार (मूल तत्त्व) को जान लेना सर्वज्ञता है, जैसे ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का सार है, ऐसा जान लेना प्रत्येक वस्तु को जान लेना है और यही सर्वज्ञता है। (२) प्रत्येक वस्तु के विषय मे विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना सर्वज्ञता है। मीमासक दूसरे प्रकार की सर्वज्ञता का निषेध करते है। उनके अनुसार पुरुष अपनी सीमित शक्तियों के कारण

---

६. दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणादि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥
—प्रवचनसार, ४९

तथा—एको भावः सर्वथा येन दृष्ट.
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥
—प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, ४,११

७. प्रवचनसार, गाथा ३५, ३६।
८. वही, २३।
९. वही, २६।
१०. अष्टसहस्री, प्रथम परिच्छेद, कारिक। ३
११. जो जाणदि पच्चक्खं तियाल—गुण—पज्जएहिं सजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३०२
१२. वही, ३०३।
१३. से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सव्वलोए सव्वजीवाणं जाणमाणो पासमाणे एवं च णं विहरइ।"
—आचारांगसूत्र, २, ३
तथा—'तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलिति पदार्थमालिका यत्र ।
—पुरुषार्थ०, १
१४. प्रवचनसार, गा० ५८।

सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यहां यह विचारणीय है कि कुछ व्यक्तियों के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध किया जा सकता है, किन्तु सब के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध नही किया जा सकता। क्योकि सब के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध सर्वज्ञ ही कर सकता है।[१५] किसी पुरुष द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने मे मीमांसकों को कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु धर्म का ज्ञान वेदों से ही हो सकता है। अतः पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है; धर्मज्ञ नही।[१६] किन्तु जैनदर्शन मे धर्मज्ञता और सर्वज्ञता मे कोई अतर नही माना गया है। सर्वज्ञ होने पर धर्मज्ञता स्वयमेव प्रतिफलित हो जाती है। धर्मज्ञता सर्वज्ञता मे अन्तर्भूत है।

## सर्वज्ञ-सिद्ध

शबर, कुमारिल आदि मीमासकों का कथन है कि धर्म अतीन्द्रियार्थ है। उसे हम प्रत्यक्ष से नही जान सकते। क्योंकि पुरुष मे राग, द्वेष आदि दोप पाए जाते है। धर्म के विषय मे केवल वेद ही प्रमाण है।[१७] मीमांसकों का यह भी कथन है कि सर्वज्ञ की प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्धि नही होती, इसलिये उसका अभाव मानना चाहिए। मीमांसक पहले नही जाने हुए पदार्थों को जानने को प्रमाण मानते है। प्रभाकर मत वाले प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति तथा कुमारिल भट्ट इनके साथ अभाव को भी प्रमाण मानते है। वैशेषिक भी ईश्वर को सब पदार्थों का ज्ञाता नहीं मानते। उनका मत है कि ईश्वर सब पदार्थों को जाने या न जाने, किन्तु वह इष्ट पदार्थों को जानता है, इतना ही पर्याप्त है। यदि ईश्वर कीड़े-मकोड़ो की सख्या गिनने बैठे, तो वह हमारे किस काम का?[१८] अतः ईश्वर के उपयोगी ज्ञान की ही प्रधानता है। क्योंकि यदि दूर तक देखने वाले को प्रमाण माना जाए, तो फिर गीध पक्षियों की पूजा करनी चाहिए?

जैनदर्शन का प्रतिपादन स्पष्ट है कि किसी एक पदार्थ का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त किये बिना सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यह कहना ठीक नही है कि मनुष्य के राग, द्वेष कभी विनष्ट नही होते। जो पदार्थ एक देश में नष्ट होते हैं, वे सर्वथा विनष्ट भी हो जाते है। जिस प्रकार मेघों के पटलों का आंशिक नाश से उनका सर्वथा विनाश भी होता है, उसी प्रकार राग आदि का आशिक नाश होने से उनका भी सर्वथा विनाश हो जाता है।[१९] प्रत्येक प्राणी के राग, द्वेष आदि से दोषों की हीनाधिकता देखी जाती है। कैवल्योपलब्धि पर पुरुष के सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते है। अतएव वीतराग भगवान सर्वज्ञ है। राग, द्वेप व मोह के कारण मनुष्य असत्य बोलते है। जिसके राग, द्वेष और मोह का अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट होता है। जिस तरह सूक्ष्म पदार्थ (इन्द्रियों से अज्ञेय) जन साधारण के प्रत्यक्ष नही होते किन्तु अनुमेय अवश्य होते हैं। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य परमाणु आदि अनुमेय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते है। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य के ग्रहण को बताने वाले ज्योतिषशास्त्र की सत्यता आदि से भी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। केवल सूक्ष्म ही नहीं, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को भी हम अनुमान से जानते है। अतः इन पदार्थों को साक्षात जानने वाला पुरुष सर्वज्ञ है।[२०] आचार्य विद्यानन्दि ने विस्तार में सर्वज्ञ की मीमासा करते हुए सर्वज्ञ-सिद्धि की है। उनका कथन है कि किसी जीव मे दोष और आवरण की हानि परि-पूर्ण से हो सकती है, क्योकि सभी मे हानि की अतिशयत (तरतमता) देखी जाती है। जिस प्रकार से अपने हेतुओं

---

१५. आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका का 'फोरवर्ड', पृ० २१।

१६. धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥ —तत्त्वसंग्रह, कारिका ३१२८ (कुमारिल भट्ट) द्रष्टव्य है: आप्त-मीमांसा-तत्त्वदीपिका, पृ० ७२

१७. शाबरभाष्य १, १, २।

१८. सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसख्यापरिज्ञान तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
—स्याद्वादमंजरी से उद्धृत

१९. देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ॥
—स्याद्वादमंजरी, पृ० २६३

२०. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥
—आप्तमीमांसा, १, ५

के द्वारा स्वर्णपाषाण आदि मे बाह्य एवं अन्तरंग मल का पूर्ण अभाव पाया जाता है।[२१] 'दोषावरण' से यहा अभिप्राय कर्म रूप आवरण से भिन्न अज्ञान राग द्वेषादि है, जो स्व-पर परिणाम हेतु से होते है। धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को जानने वाला धर्म-ज्ञान से कैसे बच सकता है? अतः सर्वज्ञ को धर्म जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नही है।[२२] संक्षेप में, सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध है। नैयायिकों के अनुसार योग विशेष से उत्पन्न हुए अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियां परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों को जान लेती है। फिर, जो परम योगीश्वर है वे सम्पूर्ण सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान क्यों नही प्राप्त कर सकते है। परन्तु सर्वज्ञ का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है, इसलिये परमार्थ प्रत्यक्ष है। वह आत्मा का स्वभाव तथा पूर्ण ज्ञान कहा गया है। उसे ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते है।

### क्या आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है?

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जो अर्हन्त को द्रव्य, गुण और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है।[२३] अरहत भगवान और अपनी विशुद्ध आत्मा दोनों समान है। इसलिये अपनी शुद्ध आत्मा को जानने वाला सर्वज्ञ है। वास्तव मे इन मे कोई भेद नही है। किन्तु हम अज्ञानी लोग इन मे भेद करते है।[२४] वस्तुतः आत्मा ही केवलज्ञानमूर्ति है। केवलज्ञानी आत्मा सारे संसार को और लोक मे रहने वाले छहों द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों को समस्त रूप से जानता, देखता है। जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की समन्वित पूर्णता के साथ कैवल्योपलब्धि होती है। व्यवहार नय के अनुसार सात तत्त्वों तथा उन पदार्थों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तथा आकार विकल्प सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। अशुभ क्रियाओं से निवृत होना और शुभ क्रियाओं मे प्रवृत्ति करना व्यवहार है।[२५] परन्तु निश्चयनय से रत्नत्रय आत्मा को छोड़ कर अन्य द्रव्य मे नही पाया जाता। इसलिए आत्मा में रुचि होना, आत्मा का अनुभव और ज्ञान होना तथा आत्मा मे लीन होना पारमार्थिक रत्नत्रय है। इसलिये चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर पूर्ण ज्ञानमय कैवल्योपलब्धि होते ही विशुद्ध आत्मा अपने आप मे लीन हो जाती है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से यही कहा जा सकता है।[२६] 'नियमसार' में भी कहा गया है—केवली भगवान व्यवहार दृष्टि से सभी द्रव्यों को उनकी गुण, पर्यायों सहित देखते जानते है; किन्तु निश्चयनय से आत्मा को जानते, देखते है।[२७] वस्तुतः इन दोनो कथनों मे कोई विरोध नही है। आचार्य सिद्धसेन सूरि कहते है कि मात्र अपने-अपने पक्ष में संलग्न सभी नय मिथ्यादृष्टि है, परन्तु ये ही नय यदि परस्पर सापेक्ष हो तो सम्यक् कहे जाते है।[२८] केवलज्ञानी सहज रूप मे अपने आप का निरीक्षण करते रहते हैं। क्षायिक उपयोगी होने के कारण केवलज्ञानी का सतत आत्मा मे उपयोग रहता है, उसी

---

२१. दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥
—अष्टसहस्री, कारिका ४

२२. धर्मादन्यत्परिज्ञातं विप्रकृष्टमशेषतः।
येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वं निषेधनम्॥
—श्लोकवार्तिकालंकार

२३. जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलुजादि तस्सलयं॥
—प्रवचनसार, गा० ८०

२४. सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम्॥
—नियमसारकलश, २५३ (अमृतचन्द्रसूरि)

२५. द्रव्यसंग्रह, ४१-४२, ४३।

२६. बन्धच्छेदात्कलयदतुल मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीर
पूर्ण ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनमहिम्नि॥
—नियमसारकलश, २७१

२७. जाणादि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणादि पस्सदि णियमेण अप्पाण॥
—नियमसार, १५९

२८. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा॥
—सन्मतिसूत्र, १२१

समय पर रूप से अन्य समस्त पदार्थों का ज्ञान भी होता है। किन्तु छद्मस्थ का उपयोग एकांगी होता है, इसलिये जिस समय वह आत्मोन्मुखी हो कर समाधिनिरत होता है, उसी समय आत्मनिरीक्षण करता है। निर्विकल्प समाधिस्थित पुरुष ही विशुद्ध स्वात्मा का अनुभव करते है।[२९] आत्मा का निश्चयनय से एक चेतना भाव स्वभाव है। आत्मा को देखना, जानना, श्रद्धान करना एव परद्रव्य से निवृत्त होना रूपान्तर मात्र है। आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नही है। इसलिये परद्रव्य का ज्ञाता द्रष्टा, श्रद्धान-त्याग करने वाला आदि व्यवहार से कहा जाता है। यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत-भविष्य और वर्तमान की अनेक पर्यायों का हो सकता है, किन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्याय का ही होता है। जो पदार्थ किसी ज्ञान के ज्ञेय है, वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है।

यहां सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सर्वज्ञ के ज्ञान मे असद्भूत पर्याय भी प्रतिबिम्बित होती है? जो पर्यायें भविष्य में होने वाली है, जिनका सद्भाव नही है, वे कैसे ज्ञान का विषय बन सकती है? इसी के साथ यह प्रश्न भी सम्बद्ध है कि मन एक साथ सब पदार्थों को ग्रहण नही कर सकता है और क्रम से सब पदार्थों का ज्ञान बनता नही है, क्योंकि पदार्थ अनन्त है, इसलिये जब तक युगपत् पदार्थो को न जाने तब तक सर्वज्ञ कैसे हो सकता है?

जैन आगम ग्रंथो में "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" (तत्त्वार्थसूत्र १, २९) के अनुसार प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्याय तथा छहो द्रव्यों की समस्त अवस्थाओं को केवलज्ञान युगपत् (एक साथ) जानता है। केवलज्ञान व्यापक रूप से सभी ज्ञेयपदार्थो को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है।[३०] इसलिये यह कहना ठीक नही है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में केवल वर्तमान पर्यायें ही प्रत्यक्ष होती है यदि ऐसा माना जाए कि सर्वज्ञ के ज्ञान में भूत, भविष्य की पर्यायें प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होती, तो फिर उनमे और अल्पज्ञ में क्या अन्तर रह जाएगा? फिर, भूतकाल की बातों का ज्ञान कई उपायो मे कई रूपो मे जाना जाता है। अत: भविष्य की पर्यायों का ज्ञान होने मे क्यों आपत्ति होनी चाहिए? निश्चित ही सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय होता है तथा अनन्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करता है। वह अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्त, अनुत्पन्न एव नष्ट पर्यायो को भी जानता है।[३१] ज्ञान के सर्वज्ञत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञेय सब कुछ है। ज्ञेय तो समस्त लोकालोक है। इसलिये सभी आवरणों का क्षय होते ही पूर्णज्ञान सब को जानता है और फिर कभी सबके जानने से च्युत नही होता, इसीलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।[३२] जैनदर्शन मे आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकाल के सर्वद्रव्यो को एवं उनकी पर्यायो को जानने वाला होने से सर्वगत है।[३३] केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और पर्याय है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनो को जानने लगता है।[३४] एक द्रव्य को या एक पर्याय को जानने की अवस्था केवलज्ञान के पूर्व की है। सातवें गुणस्थान (आध्यात्मिक भूमिका) तक धर्म

---

२९. 'सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।'
—समयसार, १४४

टीका-'समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः
—पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च-'

३०. ततःसमन्ततश्चक्षुरिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
निःशेषद्रव्यपर्यायविषयं केवलं स्थितम्॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ३५३

३१. अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणादि तं णाणमदिदियं भणियं॥
—प्रवचनसार, ४१

३२. 'ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविमुक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैव—प्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम्।'
—प्रवचनसार, गा ६ २३ की टीका।

३३. सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया॥
—प्रवचनसार, २६

३४. दशवैकालिकसूत्र, ४, २२

ध्यान होता है। आठवें से शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है। आठवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्क बीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान से आत्मा मे अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान मे एकत्ववितर्क अविचार नामक का द्वितीय शुक्लध्यान होता है। सयोग-केवली के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यान होता है और अयोगकेवली के व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात कारण है। द्वितीय शुक्लध्यान मे योगी बिना किसी खेद के एक योग से एक द्रव्य को या एक अणु को अथवा एक पर्याय का चिन्तन करता है।[३५] केवलज्ञानी सयोगी जिस सूक्ष्म काययोग मे स्थित होकर सूक्ष्म मन, वचन और श्वासोच्छ्वास का निरोध कर जो ध्यान करते है, वह सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान है।[३६] इससे ही पूर्ण-ज्ञान की उपलब्धि होती है, जिससे युगपत तीन लोक व तीन काल के द्रव्य, गुण, पर्यायो का एक साथ ज्ञान होता है।

## भगवान् महावीर की सर्वज्ञता के प्रमाण

भगवान् महावीर अपने समय में ही सर्वज्ञ के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे। पालित्रिपिटकों मे कई स्थानों पर दीर्घ-तपस्वी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी विशेषणों के साथ निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र भगवान महावीर का उल्लेख किया गया है। 'मज्झिम-निकाय' में उल्लेख है-[३७] आवुस। निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। वे अपरिशेष ज्ञान-दर्शन सम्पन्न है। चलते खड़े रहते, सोते जागते सभी दिशाओं मे उन्हें ज्ञान, दर्शन बना रहता है। उन्होने हमे प्रेरित किया है कि निर्ग्रन्थों! पूर्वकृत कटुक कर्मों को दुर्धर तप से नष्ट कर डालो। मन, वचन काय को रोकने से पाप नही बंधते और तप करने से पुराने पाप सब दूर हो जाते है। इस प्रकार नए पापो का बन्ध न होने से पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है और कर्मो का क्षय होने से दु.खो का क्षय हो जाता है। दु.खो के क्षय से वेदना नष्ट होती है और वेदना के विनाश से सभी दु:खो का नाश होता है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी तीर्थंकर ऋषभ तथा वर्द्धमान की सर्वज्ञता का उल्लेख किया है।[३८] वैदिक साहित्य में भी भगवान महावीर की सर्वज्ञता के सकेत मिलते हैं। 'स्कन्दमहापुराण मे भ० वर्द्धमान तथा केवलज्ञान का उल्लेख है।[३९] तीर्थंकर ऋषभदेव का तो स्पष्ट रूप से सर्वज्ञ के रूप मे उल्लेख किया गया है।[४०] 'महाभारत' मे तो यहा तक कहा गया है कि सर्वज्ञ ही आत्मदर्शी हो सकता है।[४१] इन उल्लेखो से भगवान महावीर की सर्वज्ञता का निश्चय हो जाता है। भगवान महावीर की वाणी से प्रसूत आगम ग्रन्थो मे उपलब्ध तथ्यो की वैज्ञानिकता से भी उनके सर्वज्ञ होने का प्रमाण मिल जाता है।

इस प्रकार आगमप्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ उत्कृष्ट ज्ञान के धारक अचिन्त्य केवलज्ञान ऐश्वर्य से विभूषित होते है। केवलज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों का एक साथ प्रतिबिम्ब झलकता है। व्यवहार अनुमान से भी ऐसे सर्वज्ञ होने मे कोई बाधक प्रमाण नही है।

गवर्नमेन्ट कालेज,
नीमच (मध्य प्रदेश)

---

३५. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ० ३८८

३६. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४८६

३७. मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खन्धसत्तान्त

३८. 'य: सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् तद्यथाऋषभवर्द्धमानादिरिति ।
—न्यायबिन्दु, अ० ३ पृ. ६८

३९ यस्माल्लीनं जगत्सर्वं तस्मिल्लिङ्गे महात्मन: ।
लयनाल्लिगमित्येव प्रवदन्ति मनीषिण: ॥
तथाभूतं वर्द्धमानं दृष्टवा तेऽपि सुरर्षय: ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुवायुवाग्निलोकपाला: सपन्नगा ॥
—स्कन्दमहापुराण, ६, २६-३१

४०. कैलाशे विपुले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वर:। चकार स्वावतारं सर्वज्ञ. सर्वग: शिव: ॥ प्रभाष० ५६

४१. श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति एवं स्वमात्मानमात्मना । सर्वज्ञ: सर्वदर्शी च क्षेमज्ञस्तानि पश्यति ॥ महा० —१६६५

# प्राचीन जैन तीर्थ श्री राता महावीर जी

□ श्री भूरचन्द जैन, बाड़मेर

राजस्थान का पाली जिला न केवल ऐतिहासिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से विख्यात है अपितु धार्मिक दृष्टि से भी इस जिले की अद्भुत महत्ता बनी हुई है। जिले में सभी धर्म, सम्प्रदायों के विख्यात दर्शनीय, एवं पूजनीय धार्मिक स्थल विद्यमान हे। पाली जिला जैन धर्मावलम्बियों का मुख्य केन्द्र रहा है। जहा पर जैन धर्म के बड़े-बड़े आचार्यों, विद्वानो साधु सन्तो, यति-मुनियो ने सत्य और अहिंसा की अनूठी मशाल जलाई। इन्ही महान् त्यागमय विभूतियो के सद् उपदेशो से पाली जिला अपनी कोख मे ऐसे जैन दर्शनीय स्थानों का निर्माण करवा सका है जो न केवल भारत विख्यात ही है अपितु विदेशी पर्यटक भी इन्हें देखने के लिए बराबर लालायित रहते है। जहां पाली जिले की गोड़वाड जैन पंचतीर्थी जैनों के लिए धार्मिक श्रद्धा से पूजनीय बनी हुई है वहा दूसरी ओर पर्यटकों, इतिहासकारों, पुरातत्त्व विशेषज्ञों के लिए भी इनका बड़ा महत्व बना हुआ है। राणकपुर, नाडोल, नारलाई, वरकाना एवं घाणेराव के पास स्थित मूछाला महावीर गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी के मुख्य स्थान है जिनकी बेजोड़ एव सूक्ष्म शिल्पकला अत्यन्त ही सुन्दर है। राणकपुर के जैन मन्दिर शिल्पकला और स्तम्भों की बनावट के लिए जगत विख्यात है। इसी जैन पचतीर्थी मे धार्मिक कड़ी जोडने में जिले में स्थित श्री राता महावीर तीर्थ स्थान भी अपनी प्राचीनता, ऐतिहासिक महत्ता, धार्मिक मान्यता, शिल्पकलाकृतियों के साथ निर्जन जगल मे प्राकृतिक नयनाभिराम दृश्यों के लिए विख्यात है।

श्री राता महावीर जैन तीर्थ स्थान पाली जिले मे अरावली पहाड़ियों की तलहटी में निर्जन वन में बीजापुर ग्राम से २ मील दूर स्थित है। राणकपुर से १३ मील दूर यह स्थान दक्षिण और पूर्व दिशा के मध्य स्थित है। ऐरिनपुरा रोड रेलवे स्टेशन से ८ मील दूर यह तीर्थ सड़क यातायात से भी जुडा हुआ है जिसका प्राचीन इतिहास हथुडी, हस्तीकुडी, राष्ट्रकूट के नाम से उल्लेख मिलता है। यहां पर छठी शताब्दी का बना मन्दिर श्री राता महावीर स्वामी के नाम से पुकारा जाता है। इस स्थान को कन्नोज के अतिरिक्त राठौड़ की उत्पत्ति और ओसवाल राठौड़ गोत्र का सूत्रपात केन्द्र होना भी बताया जाता है। राठौड़ राजाओ की हथुडी राजधानी रही है जो जैनाचार्यों की धार्मिक गतिविधियो का प्रमुख केन्द्र स्थान भी रहा है।

हथुडी मे बने श्री महावीर स्वामी के मन्दिर का निर्माण वि० स० ६२१ मे आचार्य महाराज श्री सिद्धिसूरि जी के उपदेश से श्रेष्ठि गोत्र के वीर देव ने करवाया। जहां पर वि० सं० ९८८ तक सर्वश्री आचार्य महाराज सिद्धिसूरि जी, कक्कसूरि जी, देवगुप्तसूरि और सर्वदेवसूरि जी ने जैन मन्दिर के निर्माण के अतिरिक्त दुष्काल में जनमानस एवं पशुओं की सेवा के साथ साथ जैनधर्म के व्यापक प्रचार का कार्य भी किया। इस भव्य मन्दिर के मूल द्वार के बाईं ओर ताक पर वि० स० ९९६ एवं १०५३ के लेख भी थे जो आजकल अजमेर म्यूजियम में होने बताये जाते है। वि० स १०११ ज्येष्ठ बदी पचमी वि० स० १०४८ वैशाख वदी ४ और वि० स० मार्गशीर्ष शुक्ल १२ के प्राचीन शिलालेख मन्दिर मे विद्यमान है। इन लेखो के अतिरिक्त अन्य कई छोटे बड़े प्राचीन लेख प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित भी मन्दिर में दृष्टिगोचर होते है।

श्री महावीर स्वामी के इस विशाल तीर्थ स्थान का निर्माण वि० सं० ६२१ मे हुआ था और प्रथम जीर्णोद्वार वि० सं० ९९६ मे आचार्य श्री कक्कसूरिजी ने करवाया। इसके पश्चात् वि सं. ९९६ में आचार्यश्री यशोभद्रसूरि जी ने मंदिर का जीर्णोद्धार राजा विदग्ध के समय करवाया था उस समय राजा विदग्ध ने अपने शरीर के बराबर सुवर्ण तोल कर इस जीर्णोद्धार में लगाया। वि० सं० १०५३ माघ

सुदी १३ को मन्दिर की प्रतिष्ठा भी हुई। वि० सं० २००६ में आचार्य श्री विजयवल्लभसूरि जी ने मूल मन्दिर के जीर्णोद्धार के साथ-साथ अजनशाला की प्रतिष्ठा भी करवाई। इस प्रकार अनेकों आचार्यों, साधु साध्वियों, धनाढ्य जैन बन्धुओं ने तीर्थ के जीर्णोद्धार करवाकर इसे और अधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया।

श्री राता महावीर वह स्थान है जहां पर पशुओं की हिंसा पर वि० सं० ९८८ मे राजा राव जगमान ने आचार्य देवसूरि जी के उपदेश से प्रेरित होकर राजपत्र जारी कर रोक लगा दी और जैन धर्म के सत्य और अहिसा उपदेशों से प्रभावित होकर जैनधर्म अगीकार किया था। इसी प्रकार जैनधर्म के आचार्य सर्वश्री बलिभद्राचार्य, वासुदेवाचार्य, सूर्याचार्य, शान्तिभद्राचार्य, यशोभद्राचार्य एव केशरसूरि संतति के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेकों भूपतियों ने जैन धर्म को अंगीकार किया। जिसमें सर्वश्री विदग्ध राजा, दुल्लभ राजा, सामंत सिंह, महेन्द्र राजा, धरणीवाह राजा हरीवर्म राजा, ममट राजा, धवल राजा, मुल राजा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वि० सं० १२०८ मे आचार्य महाराज जयसिहसूरि जी ने राठौड़ क्षत्रीय वशी अनन्तसिह राजा को रोग मुक्त किया और धर्म उपदेशों से जैनधर्म की महत्ता बताई। राजा अनन्तसिंह ने आचार्य जी के उपदेशों से प्रभावित होकर पत्नी सहित जैन धर्म को अगीकार किया और इनसे उत्पन्न होने वाली संतान आज भी ओसवाल राठौड़ गोत्र से देश के कई भागो मे विद्यमान है।

जैन धर्म प्रभावित होकर वि० सं० ९९६, १०५३, १२९९, १३३५, १३३९ एवं १३४६ मे राज्य करने वाले राज्य शासको ने राज्य मे जैनधर्म के प्रचार करने एवं आचार्यों की रक्षा हेतु शासन पत्र जारी किये, शासन पत्रों मे लिखा गया कि जहा तक पर्वत, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, गंगा, सरस्वती है वहा तक यह शासन पत्र कायम रहेगा। आज भी श्री राता महावीर जी क्षेत्र मे उक्त शासन पत्रों का बराबर पालन हो रहा है।

हथुडी स्थित श्री राता महावीर का जैन मन्दिर शिल्पकलाकृतियों का भंडार है। जिसके अन्दर मूल भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा के अतिरिक्त अनेको छोटी बड़ी जैन प्रतिमाए विद्यमान है। अरावली पहाड़ की गोद मे जगल मे आबादी रहित क्षेत्र में बसा राता महावीर जी का जैन मन्दिर आज भी तीर्थ स्थान के साथ-साथ पर्यटको का मुख्य केन्द्र बना हुआ है। जहां प्रतिवर्ष हजारों लोग यात्रा पर आते है। राजस्थान के पाली जिले मे स्थित गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी राणकपुर, नाडोल, नारलाई, वरकाना, मूंछाला महावीर के साथ-साथ श्री राता महावीर की यात्रा भी करते है। यह राजस्थान का गौरवमय स्थल है। जहां प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती, चैत्र सुदी तेरस के दिन विशाल पैमाने पर मेले का भी आयोजन किया जाता है जिसमे देश के विभिन्न भागों के हजारो लोग एकत्रित होकर भगवान की सेवा पूजा एवं रथ यात्रा मे भाग लेकर आनन्दित होते है।

जूनी चौकी का वास,
बाडमेर (राजस्थान)

[पृ० ७६ का शेषांश]

से चिन्तन करता है वह अवश्य ही स्वात्मोपलब्धि का पात्र हुए बिना न रहेगा।

**जयति जयिनमेत्रं योगिनं योगिवर्यैः,**
**अधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।**
**स्मरति हृदि नितान्त य. स शान्तान्तरात्मा,**
**भजति विजयलक्ष्मीमाशुजैनीमजय्याम्** ॥ ३६–२१२

फिरोजाबाद निवासी स्व० सेठ छदामीलालजी ने बाहुबली की ४५ फुट ऊंची विशाल मूर्ति बनवाई है, और उसकी प्रतिष्ठा होने वाली ही थी कि अकस्मात् सेठजी के दिवगत हो जाने से इस महान् कार्य मे कुछ विलम्ब हो गया है। वह श्रवणबेलगोला की गोम्मटेश्वर मूर्ति के अनुरूप है। सेठ जी ने इस मूर्ति का निर्माण कराकर फिरोजाबाद को एक तीर्थ क्षेत्र बना दिया है। उनकी धार्मिक परिणति सराहनीय है। इस मूर्ति निर्माण से उन्होंने विपुल यश प्राप्त किया है। जो उस मूर्ति का दर्शन करेगा, उसका अन्तरात्मा निर्मल और प्रशान्त होगा। सेठजी ने मन्दिर और बाहुबली की मूर्ति का निर्माणकर अपनी कीर्ति को अमर बना लिया है। वास्तव मे उत्तरप्रदेश और मध्य प्रदेश मे इतनी विशाल मूर्तियो का निर्माण अभी तक नही हुआ था। सेठ जी ने इस कार्य को पूरा कर दिया है। □□

एफ ९५, लक्ष्मीनगर जे एक्सटेंशन,
(जवाहर पार्क), दिल्ली-३२

# अनेकान्त

☐ डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

"अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः" सभी धर्मों के प्रति समान सद्भावना ही अनेकान्त की वरीयता है। भगवान महावीर प्रणीत दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकान्त दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्त दृष्टि का तात्पर्य है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते है।

महावीर ने प्रत्येक वस्तु के स्वरूप का सभी दृष्टियों से प्रतिपादन किया। जो वस्तु नित्य मालूम होती है वह अनित्य भी है। जहा नित्यता की प्रतीति होती है, वहा अनित्यता भी अवश्य रहती है। यही नहीं वरन अनित्यता के अभाव मे नित्यता की पहचान ही नही हो सकती। नित्यता और अनित्यता सापेक्ष है।

सभी धर्म मानव कल्याण का सन्देश अपने-अपने आदर्शों के अनुसार देते है। जैन दर्शन मे भी यही है। महावीर ने इसकी महत्ता आचार व विचार की गरिमा से उजागर की। आचार अहिंसा मूलक है और विचार अनेकान्तात्मक। तथ्यतः इसकी मूलदृष्टि एक ही है, किन्तु जब वह दृष्टि आचारोन्मुख होती है तब वह अहिंसामुखी हो जाती है और जब वह विचारोन्मुखी हो जाती है तब अनेकान्तात्मक हो जाती है। अतः स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन आदर्श और यथार्थ तथा निश्चय और व्यवहार के सुदृढ धरातल पर प्रतिष्ठित है। अहिंसक आचरण और अनेकान्तात्मक चिन्तन ही मानव को सच्चा सुख देने मे सक्षम है।

अनेकान्त शब्द बहुव्रीहि समास युक्त है, जिसका तात्पर्य है अनेक अर्थात् एक से अधिक धर्मों, रूपो, गुणों और पर्यायों वाला पदार्थ। पदार्थ अनेक गुण रूपात्मक होने के साथ-साथ विवक्षा और दृष्टिकोणों के आधार पर भी अनेकान्त है। एक और अनेक की इस यथार्थता को बड़ी गरिमा के साथ परखा गया है यथा--'यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेक, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्य तदेवानित्य —इत्येकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर-विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।"

अर्थात् जो वस्तु तत्वस्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है, वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य भी है। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु मे उसके वस्तुत्व— गुणपर्याय सत्ता के निष्पादक अनेक धर्मयुगलों को प्रकाशित करता है।

वास्तव में किसी वस्तु की परख केवल एक ही दृष्टिकोण से नही की जा सकती, वरन उसे अनेक दृष्टिकोणों से ही परखा जा सकता है। अतः स्पष्ट होता है कि एकान्त दृष्टिकोण को मार्ग दर्शन देने हेतु अनेकान्त का प्रतिपादन हुआ। इसकी वरीयता इस उद्धरण से स्पष्ट होती है यथा—

"सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः" अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् है, अथवा असत् है, नित्य है अथवा अनित्य, आदि के परखने की पद्धति का नाम है अनेकान्त। किसी वस्तु के परख की अनुभूति की अभिव्यक्ति एक साथ ही नही, वरन् क्रमानुसार होती है इसी क्रमबद्ध अभिव्यक्ति की पद्धति को स्याद्वाद' कहा गया है।

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त सशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ है। महावीर जी ने इसे अनेकान्त कहा या स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तात्मक वाक्य। स्याद्वाद की अन्य व्युत्पत्तिया भी है। सामान्यतः यह शब्द स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से बना है 'स्यात्' का अभिप्राय है कथञ्चित्'। कथञ्चित् अर्थात् अमुक निश्चित अपेक्षा से वस्तु अमुक धर्मशाली है। यह शायद, संभावना और

कदाचित् शब्दों का प्रतिपादक नहीं है वरन इसका तात्पर्य है—सुनिश्चित दृष्टिकोण।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते है और वाचक भी। 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-सामान्य का वाचक होता है, फिर भी 'अस्ति' आदि विशेष धर्मो का प्रतिपादन करने के लिए 'अस्ति' आदि सत् धर्मवाचक शब्दो का प्रयोग करना पडता है। तात्पर्य यह है कि 'स्यात् अस्ति' वाक्य मे 'अस्ति' पद अस्तित्व धर्म का वाचक है, और 'स्यात्' अनेकान्त का।

'अनेकान्त' शब्द वाच्य है और 'स्याद्वाद' वाचक। 'स्यात्' शब्द जो कि निपात है – एकात का खण्डन करके अनेकान्त का समर्थन करता है। इस महत्ता का प्रतिपादन मनीषियों ने किया है—

**"वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषकः।**
**स्यान्निपातोर्थं योगित्वात् तव केवलिनामपि॥**

— आप्तमीमांसा

इस शब्द की वरीयता को न परख बहुत से लोग इसका अर्थ संशय, अमदिग्धता आदि लगा लेते है जो ठीक नहीं है। किसी वस्तु का मूल्यांकन करना ही इसकी महत्ता है यथा—'स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्त-चिद्विधि' यही नही वरन इस श्लोक की गहनता को भी थहाएं —

**'सर्वथात्वनिषेधको अनेकान्तता द्योतकः।**
**कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः॥"**

—पंचास्तिकाय

अनेकान्त वस्तु की अनेकधर्मिता सिद्ध करता है तथा स्याद्वाद उसकी व्याख्या करने मे एक सापेक्षिक मार्ग का सूत्रपात करता है तथा सप्तभगी उस मार्ग का व्यवस्थित विश्लेषण कर उसे पूर्णता प्रदान करती है।

अनेकान्त 'प्रमाण' और 'नय' की दृष्टि से कथञ्चित् अनेकान्तरूप और कथञ्चित् एकान्तरूप है। 'प्रमाण' का विषय होने से यह अनेकान्तरूप है। इसके दो भेद बताये गये हैं—सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यगनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्य सापेक्ष एक धर्म का ग्रहण सम्यगनेकान्त है तथा अन्य धर्म का निषेध करके एक का अवधारण करना मिथ्यानेकान्त है।

अनेकान्त अर्थात् सकलादेश का विषय प्रमाणाधीन होता है और वह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विकलादेश के विषय की अपेक्षा रखता है यथा—

**अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।**
**अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥**

—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र समतभद्र १०२

अर्थात् 'प्रमाण' और 'नय' का विषय होने से अनेकान्त, अनेक धर्म वाला पदार्थ भी अनेकान्तरूप है। वह जब प्रमाण के द्वारा समग्रभाव से गृहीत होता है तब वह अनेकान्त, अनेकधर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नय का विषय होता है तब एकान्त एकधर्मरूप है उस समय शेष धर्म पदार्थ मे विद्यमान रहकर भी दृष्टि के सामने नहीं होते। इस तरह पदार्थ की स्थिति हर हालत में अनेकान्तरूप ही सिद्ध होती है।

अनेकान्तदृष्टि या नयदृष्टि विराट् वस्तु को जानने का वह प्रकार है, जिसमे विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मो का निषेध नही किया जाता उन्हे गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह प्रत्येक दशा पूरी वस्तु का मुख्य गौण भाव से स्पर्श हो जाता है। इस तरह जब मनुष्य की दृष्टि अनेकान्ततत्व का स्पर्श करने वाली बन जाती है, तब उसके समझाने का ढग निराला हो जाता है आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तोत्र में इसकी महत्ता को उजागर किया है यथा

**विज्ञानस्यैकमाकार नानाकारकरम्बितम्।**
**इच्छस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥८॥**
**चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।**
**योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत॥९॥**
**इच्छन्प्रधान सत्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।**
**सांख्यसंख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत॥१०॥**

डा० शोभनाथ पाठक, एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी);
पी-एच० डी०, साहित्यरत्न
मेघनगर
जि० झाबुआ (म० प्र०)

# मानवीय समुन्नति का प्रशस्त मार्ग विनय

□ पं० विमलकुमार जैन सोंरया, एम. ए, शास्त्री

**विणम्रो मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं,**
**णिगएजरातिज्जाइ आयरिम्रो सव्वसंघो य ।**
**आयारजीदकप्प गुणदीवाण अत्तसोविणिज्झंझा,**
**अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हाद करणं च ॥**

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने उक्त गाथाओं में विनय की महत्ता दर्शाते हुए विशिष्ट गुणो का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—"विनय मोक्ष का द्वार है विनय से सयम' तप और ज्ञान होता है और विनय से आचार्य व सर्वसघ की सेवा हो सकती है। आचार के, जीव प्रायश्चित के और कल्प प्रायश्चित के गुणों का प्रगट होना आत्म शुद्धि, कलह रहितता, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, गुरुसेवा सबको सुखी करना यह सब विनय के गुण है।"

विनय का तात्पर्य नम्र वृत्ति का रखना है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक ज्ञान गुण प्रवृत्ति है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को और आत्मा की समुपलब्धि को प्राप्त कराती है। पूज्य पुरुषों के प्रति आदर, गुणी एवं वृद्ध पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति, कषायों एव इन्द्रियों को सरल करना विनय की परिधि के आकार है। विनय व्यक्ति के यश की उज्वल आभा सर्वत्र प्रकाशवान रहती है। विनय वान सभी का प्रिय और आदर भाजन होता है। विनय सम्पन्नता से ही तीर्थंकर नाम कर्म को बाधता है क्योंकि विनय सम्पन्नता एक भी होकर १६ अवयवो से सहित है। अतः उस एक ही विनय सम्पन्नता से मनुष्य तीर्थंकर नाम को बाधते है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मोक्ष के साधन भूत सम्यग्ज्ञानादिक मे तथा उनके साधको मे अपनी योग्य रीति से आदर व सम्मान करना, कषाय की निवृत्ति करना, ज्ञान दर्शन चारित्र व तप की अतिचार अशुभ क्रियाओ को हटाना और रत्नत्रय मे विशुद्ध परिणाम लाना ही विनय है।

सामान्यरुप से विनय का वर्गीकरण पांच प्रकार से किया गया है। जो निम्नलिखित अनुसार भेदो, प्रभेदो के रूप मे उल्लखित है—

**१-लोकानुवृत्ति विनय**—लोक परम्परा के अनुरूप जो क्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं—वे लोकानुवृत्ति विनय के अन्तर्गत आती है। अपने से श्रेष्ठ जनो के सामने आते ही आसन से उठना, हाथ जोड़ कर अभिवादन करना, श्रेष्ठ उच्च आसन देना, पूज्य जनों के चरणो में झुकना और इष्ट देव की यथा योग्य पूजन अर्चन करना, किसी के प्रति प्रतिकूल न कह उसके अनुकूल बोलना, देश व काल योग्य द्रव्य देना लोकानुवृत्ति विनय है।

**२-अर्थ निमित्तक विनय**—धनलाभ की आकांक्षा से व्यापारिक कार्यों में ग्राहको के प्रति अर्थ लाभ की दृष्टि से आदर सूचक सम्मान पूर्ण शब्दों से बोलना, अपने अर्थ प्रयोजन सिद्धि के लिए स्वार्थवश अधिकारियों, व्यक्तियों या सहयोगी उद्योगपतियों के प्रति हाथ जोड़ना, नम्रता दिखाना अर्थ निमित्तक विनय है।

**३-कामतंत्र विनय**—इन्द्रियवासनाओं की पूर्ति के लिए अपने प्रेमीजन के प्रति नम्रता आदर प्रगट करना, कामपुरुषार्थ के निमित्त विनय करना कामतंत्र विनय है।

**४-भय विनय**—धन हानि, मान हानि, अथवा शारीरिक क्षति के भय से अपने से विशेष शक्तिशाली व्यक्ति, शत्रु या शासकीय अधिकारी के प्रति जो आदर पूर्वक भक्ति या विनय की जाय अथवा जिससे किसी भी प्रकार के भय की आशंका हो उसके प्रति जो विनय की जाती है वह भय विनय है।

**५-मोक्ष विनय**—आत्म कल्याण के हित अथवा मोक्ष मार्ग मे विनय का प्रधान स्थान है। ज्ञान लाभ, आचार शुद्धि और सच्ची आराधना की सिद्धि विनय से होती है। और अन्त मे मोक्ष सुख भी इसी से मिलता है। अतः मोक्ष मार्ग मे विनय भाव का सर्वोपरि स्थान है।

मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र व तप के दोष दूर करने के लिए जो कुछ प्रयत्न करते है उसे विनय कहते है। इस प्रयत्न मे शक्ति को न छिपा कर शक्ति के अनुसार उन्हे करते रहना विनयाचार है। यह विनयाचार पाच प्रकार का है। इन्हे अगर मोक्ष गति के नायक कहा जाय तो अति शयोक्ति न होगी। भेद निम्नलिखित अनुसार है।

**१-ज्ञान विनय**—ज्ञान प्राप्ति में गुरु विनय अत्यंत

प्रधान है। नीतिकार ने कहा है कि "सर्व संग रहित गुरुओं की भक्ति से विहीन शिष्यों की सर्व क्रियायें ऊसर भूमि पर पड़े बीज के समान व्यर्थ हैं।" ज्ञान का सीखना उसी का चिंतवन करना, दूसरों को भी उसी का उपदेश देना, तथा उसी के अनुसार न्याय पूर्वक प्रवृत्ति करना, ज्ञान का अभ्यास करना और स्मरण करना, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि तथा ज्ञानवंत पुरुष में भक्ति के साथ नित्य प्रति अनुकूल आचरण करना यह सब ज्ञान विनय है। इसके मूलभूत ८ प्रकार हैं। (१) काल (२) विनय (३) उपधान (४) बहुमान (५) अनिह्नव (६) व्यंजन (७) अर्थ (८) तदुभय।

**२-दर्शन विनय**—भगवान जिनेन्द्र देव ने अपने दिव्य उपदेश द्वारा पदार्थों का जैसा उपदेश दिया है उसका उसी रूप में बिना शंका के श्रद्धान करना, पंचपरमेष्ठी, अरहंत सिद्ध की प्रतिमाएं, श्रुतज्ञान जिनधर्म, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शन में भक्ति व पूजा आदि करना और इनका महत्व बतलाना यह सब दर्शन विनय है।

**३-चारित्र विनय**—मोक्षमार्ग मे चारित्र की महत्ता सर्वोपरि है। बिना चारित्र के मात्र ज्ञान पंगुवत् है। अतः इन्द्रिय और कषायों के परिणाम का त्याग करना तथा गुप्ति समिति आदि चारित्र के अंगो का पालन करना ज्ञान और दर्शन युक्त पुरुष के पांच प्रकार के दुश्चर चरित्र का वर्णन सुनकर अन्तर्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अंजलि रखकर आदर प्रगट करना और उसका भाव पूर्वक अनुष्ठान चारित्र करना विनय है।

**४-तपविनय**—अपने से श्रेष्ठ तपस्वी के प्रति भक्ति करना उसके प्रति संकल्प रहित होना, संयम रूप उत्तर गुणों में उद्यम करना, सम्यक् प्रकार श्रम व परिषहो को सहन करना यथायोग्य आवश्यक क्रियाओं मे हानि-वृद्धि न होने देना, तप मे अपनी प्रवृत्ति को लगाना तप विनय है।

**५-उपचार विनय**—नैतिक जीवन मे अपने द्वारा दूसरों के प्रति उसके गुणों, साधनाओं अथवा मान्य प्रवृत्तियो के प्रतिरूप प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से श्रद्धापूर्वक आदर देना उपचार विनय है। मुख्यतः रत्नत्रयधारी महापुरुषों, मुनिराजों, आचार्यों आदि के प्रति प्रत्यक्ष भक्ति, नमस्कार करना तथा परोक्ष में भी मन वचन काम पूर्वक नमस्कार करना और उनके अनुकूल भक्ति पूर्वक प्रवृत्ति करना यह उपचार विनय के रूप हैं। मुख्तः इसके ३ भेद एवं १३ प्रभेद है। जिनका पर्यवेक्षण निम्नलिखित अनुसार किया गया है।

**(क) कायिक विनय**—चारित्र और ज्ञान मे अपने से श्रेष्ठ जनों अथवा साधु पुरुषों को आते हुए देख आसन छोड़कर खड़े होना, कायोत्सर्गादि कृति कर्म करना, उसके पीछे पीछे चलना उनसे नीचे बैठना, सोना, आसन देना, ज्ञान आचरण की साधक वस्तु या उपकरण देना तथा साधु पुरुषों का बल के अनुसार शरीर का मर्दन, काल के अनुसार क्रिया करना और परम्परा के अनुसार विनय करना कायिक विनय है। यह सात प्रकार की होती है— (i) आदर से उठना, (ii) नत मस्तक होना, (iii) आसन देना, (iv) पुस्तकादि देना, (v) यथायोग्य कृति कर्म करना, (vi) ऊंचा आसन छोड़ कर बैठना, (vii) जाते समय ससम्मान भेजना।

**(ख) वाचिक विनय**-आदरयुक्त नम्र, हितमित प्रिय आगमोक्त, अल्प, उपशांत, निर्बंध, सावद्य, क्रियारहित, अभिमान रहित वचनो से बोलना वाचिक विनय है। वाचिक विनय मुख्यतः चार प्रकार की है—(i) हित विनय, (ii) मित विनय, (iii) प्रियकारी विनय, और (iv) शास्त्रानुकूल बोलना।

**(ग) मानसिक विनय**-धर्म के उपकार मे परिणामो का होना, सम्यक्त्व की विराधना मे जो परिणाम हो उनका त्याग करना, साधर्मी जनो के प्रति उन्नत एव पूज्य परिणामरखना मानसिक विनय है। यह दो प्रकार की है—१. पापग्राहक चित्त को रोकना तथा २. धर्म मे अपने मन को प्रवर्तना।

विनय के इन आयामों का जीवन मे उतारना और दैनिक जीवन मे साकार रूप देना मानवीय समुन्नति मे सर्वोपरि है। विनय जीवन की वह साधना सीढ़ी है जो व्यक्ति के नैतिक, आचरण तथा आध्यात्मिक जीवन की दिशा को प्रकाशवान करता है। आशा है प्रत्येक व्यक्ति जीवन की धन्यता के लिए विनय जैसे प्रशस्त मार्ग को अपनायेगा।

मड़ावरा (ललितपुर)
उत्तर प्रदेश

# मालवा की नवीन अप्रकाशित जैन प्रतिमाओं के अभिलेख

☐ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

भगवान् महावीर के २५०० वें वर्ष में मालवा के जैनावशेषों का सर्वेक्षण कार्य उज्जैन के डरसारी व मालव प्रान्तीय दिगंबर मूर्ति संग्रहालय के प्रमुख पं. सत्यंधर कुमार सेठी के प्रयासों से प्रारंभ हुआ। एक समिति बनी जिसके प्रमुख जैन तीर्थ व स्थानों का सर्वेक्षण कार्य अपने हाथों मे लिया। पुरातत्ववेत्ता पद्म श्री डा. विष्णु श्रीधर वाकणकर ने मुझे विशेषज्ञ के रूप में लिया। श्रीमक्सी क्षेत्र के मंत्री श्री झांझरी ने वाहन सुलभ किया व लगभग शुजालपुर व शाजापुर जिले का सर्वेक्षण संपन्न कराया। "मालवा के जैनतीर्थ" नामक पुस्तक लेखन के लिए ऊन, बड़वानी, सिद्धवर कूट, मक्सीजी, बनेडिया जी और महेश्वर ओंकारेश्वर की यात्रा की—इन सब प्रयासों से उज्जैन, मदसौर, खरगोन झाबुआ व निमाड़ जिले की अनेकतीर्थंकर प्रतिमाएं प्रकाश मे आई उनके पादपीठ के मूर्तिलेखो का वाचन किया गया। यहा केवल मूर्तिलेख वाली प्रतिमायें ली जाती है।

उज्जैन के धार्मिक स्थलो मे गढ़ भैरव प्रसिद्ध स्थान है। यहां काल भैरव के निकट ही शिप्रा के किनारे ओखलेश्वर नामक मंदिर है। यहां १९७४ की ग्रीष्मऋतु में जल सूख गया और उसमे लगभग १९ जैन प्रतिमाये प्राप्त हुई। यहां की एक ऋषभनाथ प्रतिमा पर निम्नलिखित अभिलेख है :—

संवत १३४० वर्षे ज्येष्ठ वदि १२ शनि. माथुर सघे बघेरवालान्वये सा. जसै भार्या पदामिणि तत्र लाला भार्या पुथम सिरि मातृ पाल्हा भार्या राय सिरिमातृ जातया भार्या···सिरिमाल जातया भार्या लाडी पुत्रस्य भार्या लाजू मातृ काण्त पुत्र माहादेवे सहदेव प्रणमति नित्यं ॥

उज्जैन जिले की महीदपुर तहसील से २२ मील पूर्व मे स्थित झारड़ा ग्राम मे अनेक तीर्थंकर प्रतिमायें मकानों की नीव खुदाते समय प्राप्त हुई है। यहा की दो जैन प्रतिमाओं का उल्लेख १९३४ के इंदौर स्टेट गजेटियर में हुआ है। दो देवियों की प्रतिमायें अभिलेख युक्त हैं। प्रथम पद्मावती की है व दूसरी संभवतः सिद्धायिका यक्षिणी है। दोनों पर अभिलेख क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) शांति भलई···यः ॥
कांता च गुहुतों ॥ वर्द्धमाना षिष्य जेष्ठ
कांति सोभयेंथस्तयों संवत १२२७ वर्षे
वदि प्रतिपदा गुरौ ॥

(२) सं. १२२७ वर्षे ज्येष्ठ वदि प्रतिपदा गुरौ
साधु सातिसुत नमैः प्रणमति नित्यं ॥

जिला रतलाम में बदनावर ऐसा स्थान है जहां लगभग ७३ जैन मंदिर है व ७२० के करीब तीर्थंकर प्रतिमायें भग्नावस्था में पड़ी है। यहां की कुछ अभिलेख युक्त प्रतिमायें जयसिंहपुरा जैन सग्रहालय उज्जैन में आ चुकी है। परमार ताम्रपत्रों मे इस स्थान का नाम बर्द्धनापुर मिलता है जो कालान्तर में बदनावर हो गया। यह स्थान परमार कालीन जैन स्थापत्य एवं मूर्ति से संपन्न है। यहां की एक जैन शासन देवी अश्वारोही रूप में है। यह प्रतिमा जयसिंहपुरा जैन संग्रहालय उज्जैन में स्थित है (मूर्तिक्रमांक ११०)। शीर्ष भाग पर पद्मासन में तीर्थंकर है जिनकी पुष्पहार से दो युगल आराधना कर रहे है। बाईं ओर बीणाधारी ललितासना अन्य देवी है व दाहिनी ओर जैनदेवी है। नीचे मूर्तिलेख इस प्रकार है :—

'संवत १२२९ वैशाख वदी ९ शुक्र अद्य वर्द्धनापुरे श्री शांतिनाथ चेत्ये सा श्री··गोशल भार्या ब्रह्मदेव उ देवादि कुटुम्ब सहितेन निज गोत्र देव्याः श्री अच्छुम्नाया प्रतिकृति कारिता। श्री कुलादण्डोयाशाय प्रतिष्ठिताः ॥'

बदनावर की ही एक अन्य प्रतिमा में ६ शासन देवियां है और नीचे परमारकालीन लिपि मे देवियो के नाम लिखे है—(१) वारिदेवी (२) निमिदेवी (३) उमादेवी (४) सुवयदेवी (५) वर्पादेवी (६) सवाई देवी।

देवास के निकट नेमावर ग्राम मे अम्बिका की प्रतिमा के पादस्थल पर निम्नलिखित अभिलेख है :—

लोढ़ान्वये देशिन भार्या माना प्रणमति नित्य सूत्रधारा रक्षित प्रणमति नित्य संवत १२८३

जैनदेवालय में पार्श्वनाथ प्रतिमा के नीचे का अभिलेख :—

संवत १७४५ वासरे सोम वैशाख मासे ३
जाजा संघ ससजी सा सादलो ।

यहां की एक आदिनाथ की प्रतिमा पर अंकित लेख—

पौर पादान्वये ख्यातः श्रीपालौः नामतः सुधिः रत्नत्रयो
गुणौपेतस्तत्पुत्रो लक्ष्यणौमतः गुणीकृतिः सुधिमान्यः कृष्ण राजोऽस्ति तत्सुत जिन कारित तेन बिम्बभुवि मनोहृतम् ।। संवत फाल्गुन सुदि ११६० ।।

रिंगणोद की पहचान डा. वाकणकर ने इगुणिपद्रक से की है जो नखर्मन के देवास ताम्रपत्र मे आता है। यह स्थान रतलाम कोटा रेल्वे लाइन पर स्थित है। यहा की एक तीर्थंकर प्रतिमा पर प्राप्त लेख का वाचन इस प्रकार है :—

ॐ ।। १७२३ वर्षे ज्येष्ठ वदि प्रतिपदागुरौ साख श्री सुत प्रणमति नित्यं ।।

रिंगनोद का ही एक अन्य प्रतिमालेख जो संभवतः स्वतत्र अभिलेख भी रहा हो वर्तमान मे मध्यप्रदेश पुरातत्व विभाग मे सुरक्षित है उसका वाचन इस प्रकार है :—

···मिधेर्यर्भूत्वा सर्घर्यादस्माद् ··
पधान कार्या। यानोह दत्तानि पुरा नरेन्द्रे र्दाना-निधर्माः
पुनराददोत। बहुभिर्वसुधा मुक्ता राजभिः सगरा-दिभि यः ··
दत्ता वायोहरेत वसुधरा। प्राणास्त्रणाग्र जलबिंदु समान राणा
धर्म्मयस्थ राजप.लस्य सुनूना आसाधर सुननेयं विल्हणेन
लिखिना हरसेण सुत साजणेन लिखित ।।

सन् १९७५ के अप्रेल माह मे मध्यप्रदेश राज्य पुरातत्व के तत्वावधान व विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के सहयोग से प्राचीन दशपुर व वर्तमान मदसौर का उत्खनन कार्य किया गया, उस उत्खनन के साथ ही मैंने व डा. वाकणकर ने मदसौर जिले के जैनावशेषों की तालिका बनाई व जैनहस्तलिखित ग्रन्थ भंडारो को देखा। समीपवर्ती अचल का जैन अवशेषों की दृष्टि से भी अवलोकन किया। खिलचीपुर, कयामपुर, मोड़ी, संधारा, कंवला, घुसई (घोमवती नाम यहां की एक तीर्थंकर प्रतिमा के नीचे अंकित है) जीरण, झार्डा आदि ग्रामों में तीर्थंकर प्रतिमायें मिली जिसमे से कुछ पर मूर्तिलेख है, विवरण इस प्रकार है :—खिलचीपुर मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर निर्माणकाल १४०५ अंकित है। खानपुर (दशपुरों में एक जो प्राचीन समय मे मिलकर दशपुर की संज्ञा से जाने जाते थे यही बाद में दशपुर) दसौर बन गया और १३ वी शती में मुस्लिम आक्रान्तओ द्वारा मंद आभा वाला यह दसौर नगर मद+दसौर हो गया) में पद्मावती की १६१० वि. की अभिलेख युक्त प्रतिमा संवत के अतिरिक्त मूर्तिलेख का वाचन कठिन है क्योंकि घिस चुका है।

मंदसौर से ७६ कि. मी. उत्तर में झार्डा ग्राम है जहां २ जैनमन्दिर हैं। १५ वी शताब्दी मे माँडवगढ के मन्त्री सग्रामसिह ने यहां जैनमन्दिर का निर्माण कर तीर्थंकर प्रतिमायें प्रतिष्ठित की। यहा एक मूर्ति के निम्नभाग पर अभिलेख मिलता है :—

१ संवत १५७६ वर्षे शुक्रे १०४१ मासे···श्री सग्राम महा ··रा. वियइ राज्ये राजश्री सिहलजी क्रन्नाजी साहितऊ महिव्दायान शोन मह देवालयों लेख जलजाजयो···चाचदेव की आषाढ़ वदी ११ रविवार कान्त मही पर देवाण ··पूज को भेंट पूजे कुम्भावलानवय शाभन भवन्तु ।।

घुसई जिला मदसौर के जैनमदिर मे एक ६ पक्तियों का नागरी लिपि व संस्कृत भाषा मे प्रस्तर अभिलेख है जिसमे रामचद्र आदि जैनाचार्यों का नाम है। वि. १३१३ का यह लेख है। यहा की दो अन्य प्रतिमाओ पर १३३४ व १३३७ विक्रम सवत के अस्पष्ट अभिलेख है।

इस प्रकार सन् १९७५ की जनवरी से जून १९७६ तक की अवधि में किये गए सर्वेक्षण में उपरोक्त अभिलेख-युक्त तीर्थंकर प्रतिमायें मिलीं। आवश्यकता है कि इस ओर ध्यान देकर उन जैनावशेषों को एकत्र किया जाकर सुरक्षा प्रदान करे। सखेडी, करेड़ी, पचोर, सुदरसी, जामनेर, शुजालपूर में लगमग ३१० जैन तीर्थंकर प्रतिमायें ऐसी मिली है जो पूर्णतया असुरक्षित है। □ □

४ धन्वन्तरि मार्ग, गली नं. ४, माधव नगर, उज्जैन
(मध्य प्रदेश)

# पूजा : मूर्ति की नही, मूर्तिमान की

☐ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द

मूर्तिपूजा का इतिहास बहुत प्राचीन है। मनुष्य की धार्मिक चर्या में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आस्था और श्रद्धा के अंग देव प्रतिमाओं के चरणपीठ बने हुए है। मूर्ति मे निराकार साकार हो उठता है और इसके भाव-पक्ष की दृष्टि मे साकार निराकार की सीमाओं को छू लेता है। मूर्ति अकम्प और निश्चल होने से सिद्धावस्था की प्रतीक है। उपासक अपनी समस्त बाह्य चेष्टाओं को और शरीर की हलन चलनात्मक स्पन्दन क्रियाओ को योगमुद्रा मे आसीन होकर मूर्तिवत् अचल-अडिग कर ले और सम्मुख स्थित प्रतिमा के समान तद्गुण हो जाए, यह यह उसकी सफलता है। मूर्ति में मूर्तिवर के गुण मुस्कराते है। वह केवल पाषणमयी नही है। उसके अर्चको पर 'पाषाणपूजक' लाञ्छन लगाना अपने अकिंचित्कर बुद्धि-वैभव का परिचय देना है। मूर्ति मे जो व्यक्त सौदर्य है उसके दर्शन तो स्थूल आंखों वाले भी कर लेते है किन्तु उसके भावात्मक सौदर्य को पहचानने वाले विरले ही होते है। मूर्तिकार जब किसी अनगढ़ पत्थर को तराशता है, तो उसकी छेनी की प्रत्येक टकोर उत्पद्यमान मूर्तिविग्रही देव की प्राणवत्ता को जाग्रत करने मे अपना अशेष कौशल तन्मय कर देती है। असीम धैर्य के साथ, अश्रान्त परि-श्रमपूर्वक, उसके तत्क्षण मे गुणाधान की प्रक्रिया कार्य करती रहती है। अवयवो के परिष्कार से, रेखाओं की भंगिमा से, अधरो की बनावट से, चितवन के कौशल से, बरौनियो की छाया मे विश्रान्त नीलकमल से नयनो की विशालता से, पीनपुष्ट भुजदण्डों से न केवल मूर्तिकार अगसौष्ठव ही तैयार करता है, अपितु वह स्पन्दनरहित प्राणाधान ही मूर्ति मे प्रतिष्ठापित कर देता है। उस मूर्ति को, विग्रह को देखने मात्र से प्राण पुलकित हो उठते है, चित्त की आह्लाद शक्ति प्रबुद्ध होकर नाच उठती है। जिसको ढूढ़कर नेत्र थक गये थे, उसकी मुद्रांकित प्रतिमा स्वय साकार होकर समुपस्थित हो जाती है। हमारा मन, जो एक भावसमुद्र है, मूर्ति उसमे पर्व—तिथियो के ज्वार तरंगित कर देती है। जैसे गुलाब के पुष्प सौन्दर्य को देखने वाला उसके मूल मे लगे कांटो को नहीं देखता, कमल पुष्प का प्रणयी जैसे उसके पंकमूल को स्मरण नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा के समस्त चैतन्य को अपनी प्रशान्त मुद्रा से आकर्षित करने वाले भगवान् की प्रतिमा को देखते हुए भक्त के नेत्र उसके पाषाणत्व से ऊपर उठ-कर गुणधर्मावच्छिन्न लोकोत्तर व्यक्तित्व का ही दर्शन करने लगता है और उस समय पूजक के कण्ठ से स्तुति-च्छन्द गीयमान होने है उनमे पाषाण की सत्ता के चिन्ह भी नही मिलते। भक्त के सम्मुख स्थित प्रतिमा में उसके आराध्य की झलक है, उसकी भावनाओं का आकार है। वे प्रभु अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानमय है। देव, देवेन्द्र उनकी पदवन्दना करते है। उनका वीतराग विग्रह पाषाण मे रति कैसे कर सकता है? उनका मुक्त आत्मा प्रतिमा मे निबद्ध कैसे किया जा सकता है? यह तो भक्त की भावना है, उसका उद्दाम अनुरोध है जो सिद्धालय मे विराजमान भगवान् के साक्षात् दर्शन के लिए अधीर प्रतिमा के माध्यम से उनकी स्तुति करता करता है, पूजा-प्रक्षालन करता है। उसकी भावना के समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण मनोराज्य को झुठलाने का साहस स्वयं भगवान् मे भी नही है। वह प्रतिमा के सम्मुख उपस्थित होकर किस भाषा मे बोलता है? सुनने वाले के प्राण गद्गद् हो उठते है, नेत्रो मे भाव का समुद्र लहराने लगता है—

> दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
> नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
> पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
> क्षारं जलं जलनिधेरसितु क इच्छेत्?

'हे भगवन्! आपके अनिमेष विलोकनीय स्वरूप को को देखकर मेरी आंखें दूसरे किसी को देखना नही चाहती। भला, इन्दु की ज्योत्स्नाधारा पीने वाले को क्षार समुद्रजल क्या अच्छा लगेगा? यहाँ मूर्तिपूजक के नेत्रो मे जो पार्थिव से परे दिव्य रूप नाच रहा है उस पाषाणपूजा कहने का साहस किस मे है? पाषाण और मूर्ति मे जो भेद है उसे न जानने से ही इस प्रकार की असत् कल्पना लोग करने लगते है। पाषाण को उत्कीर्ण कर उसमे इतिहास और आगम प्रामाण्य से तत्तद् देवता के

विग्रहों की रचना की जाती है। सिंह, वृषभ, कमल इत्यादि चिह्नांकन से तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् नामरूप के अस्तित्व का ज्ञापन मूर्ति में किया जाता है। यदि पाषाण को 'सुवर्ण' कहा जाए तो मूर्तियों को कटक, रूचक, कुण्डल कह सकते है। जैसे 'कुण्डल' स्वरूप में 'उत्पाद' अवस्था को प्राप्त हुए सुवर्ण को कोई सुवर्ण नहीं कहता 'कुण्डल' कहता है, उसी प्रकार विधिसम्मत स्थापनाओ के निमित्त देव-प्रतिमा को पाषाण नही कहा जा सकता। प्रतिमा के पूज्य आसन पर प्रतिष्ठित होने वाली मूर्ति को मन्त्रों से, प्रतिष्ठा-विधि से लक्षणानुसार बनाये गये मन्दिर मे विराजमान किया जाता है और उसमे देवत्व की भावना का विन्यास किया जाता है। वह प्रतिमा श्रद्धालुओ को आस्था को केन्द्रित करती है और इसके निमित्त से मदिरो और चैत्यालयों में धर्म के घण्टानाद सुनायी देते है। मन्त्र, स्तुति-स्तोत्र, पूजा-प्रक्षाल, अर्चन-बन्दन होते है और जन-समुदाय की उदात्त भावनाओ को उस प्रतिमा से सम्बल मिलता है। इस प्रकार धर्म, समाज और सस्कृति के उत्थान मे मूर्तिपूजा का महत्व अतिरोहित है। मूर्ति मे संस्कारों की भावना देने से देवत्व की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए मन्दिरों में स्थापित प्रतिमा और बाजार मे बिकते हुए तद्रूप खिलौनों मे सस्कार अभाव से कोई साम्य नही। मूर्ति को पवित्र मन्दिर की ऊंची वेदी पर विराजमान कर अपने मनमन्दिर मे स्थापित करना ही उसकी सच्ची प्रतिष्ठा है। यदि पाषाण और मूर्ति में भेद नही मानोगे तो स्त्री, माता, भगिनी मे भेद मानने का क्या आधार रहेगा? क्योंकि स्त्रीपर्याय से तो ये समान है[1]। अपेक्षा और सम्बन्ध-व्यवच्छेद से ही इनमे व्यावहारिक भेद किया गया है। वही आत्मानुशासित, पूज्यत्व प्रतिष्ठान मूर्ति में किया गया है। हमारे भारतीय ध्वज में और दूकानो के उसी तिरंगे कपड़े मे क्या अन्तर है? वस्त्रजाति तो दोनो में एक ही है। परन्तु लाल किले पर राष्ट्रध्वज के रूप मे तिरंगा ही क्यों लहराया जाता है? क्योंकि, २१ जुलाई, '४७ को पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर एक निश्चित आकार मे भगवे, श्वेत और हरे तीन रंगो में क्रमशः निष्काम त्याग, पवित्रता और सत्यता तथा प्रकृति के प्रति स्नेह को प्रेरित करने वाले प्रतीकों में राष्ट्रध्वज का स्वरूप स्थिर किया गया, जिसके बीच में सत्य, ज्ञान और नैतिकता की ओर सकेत करने वाले 'धर्मचक्र' को स्थान दिया गया। इस प्रकार उसे वस्त्रमात्र से भिन्न प्रतीक रूप में मान्यता देकर 'राष्ट्र निशान' के रूप में मान्य किया गया। यही इसका उत्तर है और इसी के साथ सामान्य 'पाषाण' और 'मूर्ति' के वैशिष्ट्य का उत्तर भी सम्मिलित है। राष्ट्रध्वज जैसे राष्ट्र की स्वतन्त्रता का प्रतीक है उसी प्रकार प्रतिमा समाज की दृढ आस्थाओ का प्रतीक है। मूर्ति के साथ मनुष्य की पवित्र भावनाओ का सनातन सम्बन्ध है। मूर्ति का दर्शन करने से मूर्ति मे प्रतिष्ठा प्राप्त देव का देवत्व, दर्शन करने वाले मे सक्रमित होता है। अपने आत्मा मे देवत्व की प्रतिष्ठा करना ही पूजा का उद्देश्य है। मूर्तिपूजा मे यह विशेष स्मरणीय है कि मनुष्य अपने सस्कारो के उपयुक्त वातावरण को ढूंढता रहता है और वातावरण मिलने से उन भावनाओ और संस्कारो को ही बलवान् करता है। किसी व्यक्ति को सिनेमा देखने की आदत है। वह नयी-नयी तस्वीरें देखने के लिए अनेक सिनेमा-घरों मे विविध समय पर पैसे देकर जाता है और अपने मन के अनुकूल उपस्थित उस 'छविअकन' को देखता है। इससे उसके मन में स्थित चित्रानुबन्धी राग को पोषण मिलता है, और उसी राग को पुष्ट करने पर पुन:-पुन: उन छवियों को देखना चाहता है। भगवान् के देवस्वरूप को देखने के लिए भी सुसंस्कृत आत्मा मन्दिर जाने का व्रत लेता है और अपने मन मे, भावना मे पूर्व से ही विद्यमान सात्विक प्रवृत्ति के पोषण के साधन मूर्ति में पाकर और अधिक धर्मानुरागी होता है। यो देखा जाय तो चित्रदर्शन और मूर्तिदर्शन व्यक्ति के मन मे सकुचित हो रहे भावों का स्पर्श कर उन्हें उद्वेलित, तरगित करने मे सहायक होते है। एक मदिरा पीने वाला मद्य बिकने के स्थान को देखकर अपनी 'पाकेट' के पैसे मद्य पीने मे लगाता है। वह 'नशा' करके प्रसन्न होता है। 'मदिरागृह' और 'पाकेट

१. 'नाम्ना नारीति सामान्य भगिनीभार्ययोरिह'—भगिनी और भार्या मे नारीत्व सामान्य धर्म समान रूप से विद्यमान है परन्तु उनमे एक सेव्य है, एक असेव्य है।

का पैसा' तो उसकी पूर्ति में सहायक है। इस प्रकार मनुष्य की भावना ही उद्देश्य की ओर दौड़ाती है तथा अपनी उत्कट बुभुक्षा की शान्ति चाहती है। यह भावना 'मद्य' पीने की ओर प्रवृत्त होती है तो लोक में गर्हित कही जाती है। क्योंकि मद्य पीने के परिणाम, उनमें व्यय किया हुआ पैसा तथा मूल में मद्य स्वयं दूषित है। यह आत्म-विनाश के लिए त्रिदोष सन्निपात है। उसके पीने से व्यक्ति का चारित्रिक पतन होता है। पतन का मार्ग 'उन्मत्त' ही स्वीकार करता है। अतः देश, जाति, समाज और स्वयं आत्मा के उत्कर्ष के लिए देवस्थानों की रचना की जाती है। भगवान् की प्रतिमा को विधिपूर्वक उनमें विराजमान किया जाता है। भगवान् की प्रतिमा-मूर्ति मे, उनका अशेष सम्यक् चारित्र जो मानव जाति के लिए श्रेयो मार्ग का निर्देशक है, दर्शक के मन-प्राण पर अंकित होता है। जैसे किसी सुन्दरी को देखकर रागी का मन आकृष्ट होता है, उसी प्रकार वीतराग प्रतिमा के दर्शन मन मे ससार की असारता और विराग की ओर प्रवृत्त होने के भाव प्रबल होते है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। गाधी जी के 'तीन वानर' मनुष्य की भावनाओं को मार्गस्थ रखने के सूचक ही है। 'मूर्तिपूजा' शब्द मे जो 'पूजा' शब्द है उसका अभिप्राय है—सत्कार, भक्ति, उपासना। जिस भगवान् की मूर्ति है उसके गुणों का वन्दन करना और उन्होंने लोक को अपने उत्तम चारित्र से सन्मार्ग दिखाया इसके प्रति आत्मा की अशेष गहराइयो से कृतज्ञता ज्ञापन करना तथा उनके समान अपने आत्म-लाभ के लिए प्रेरणा प्राप्त करना। मूर्ति का दर्शन, उसकी नित्य पूजा सदा से मानव मे इन्ही उदार विशेषताओं की गुणाधान प्रक्रिया को बल प्रदान करती रही है।

समाज के धार्मिक उत्थान मे मूर्तिपूजा ने महान् सहयोग दिया है। बड़े-बड़े समाज धर्म के सगठन से ही शक्तिशाली बनतेहै और अपने आत्मिक उत्थान मे प्रवृत्त होते हैं। समाज के बहुधन्धी, बहुमुखी व्यक्ति समुदाय को मन्दिरों के माध्यम से एक स्थान पर 'आस्था के केन्द्र' मिलते है। देवालय सार्वजनिक होने से उन्ही मे समाज मिलकर बैठ सकता है। वहा पवित्र वातावरण रहता है और भगवान् का सान्निध्य भी। इसीलिए समाज के लिए मूर्तिपूजा अपने सम्पूर्ण गुण समुदायों के संरक्षण का स्थान है, एकता प्राप्त करने का दैवी संबल है। मनुष्य को अमरता का वरदान देव के चरणों में बैठकर ही मिलता है। मूर्ति के चरणों में ही उसका देहाभिमान गलित होता है और आत्मा का उदग्र पुरुषार्थ उदय में आता है। भव्य परिणामों को उपस्थित करने में 'मूर्तिपूजा' का प्रमुख स्थान है। जिस प्रकार युद्ध-प्रयाण करने वाला सैनिक भरत, बाहुबली, भीम, अर्जुन, हनुमान, चक्रवर्ती खारवेल (उड़ीसा), समर-केसरी, श्री चामुण्डराय, महाराणा प्रताप और शिवाजी [महाराष्ट्र] आदि वीरों का स्मरण कर अपने मे अतुल शक्ति का संचय करता है उसी प्रकार आत्मा के पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने वाला भगवान् की पवित्र प्रतिमा के दर्शन से अपने में सत्साहस और निर्मलता को प्राप्त करता है।

मूर्तिपूजा गुणों की पूजा है। वन्दना के पात्र तो गुण है। मूर्ति के माध्यम से पूजित भगवान् के गुणों का स्मरण व्यक्ति के गुणों को निर्मलता प्रदान करता है। निर्मलता से परिणाम-विशुद्धि होती है और परिणाम-विशुद्धि ही चारित्र-मार्ग की जननी है। चारित्र से मोक्षसिद्धि होती है। अतः मूर्तिपूजा को अपदार्थ मानने वाले बहुत भ्रम में है। उनकी दृष्टि अज्ञान से आच्छन्न है। मूर्तिपूजा की विशाल पृष्ठभूमि से वे नितात अपरिचित है। मनुष्य अपने उद्धार के लिए किसी-न-किसी सस्कार की पाठशाला में जाता है। देवालय ही वह सस्कार-पाठशाला है। भगवान् की मूर्ति ही परमगुरु है। कोई भी सम्यक् चेता भव्य इस पाठशालासे लाभउठाकर भागवत पद को प्राप्त कर सकता है।

मूर्तिपूजा की प्राचीनता आज प्रमाणित हो चुकी है। 'मोहनजोदड़ो' और 'हड़प्पा' के उत्खनन से जो ५,००० वर्ष प्राचीन वस्तुएं प्राप्त हुई है उनमे भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव)की खड्गासन प्रतिमा भी है, जो नग्न है और जैनो की मूर्तिपूजा को 'सिन्धुघाटी' सभ्यता तक ले जाती है।

वैदिक धर्मानुयायियो ने भी भगवान् ऋषभनाथ को ईश्वर का अवतार बताया है और मुक्तिमार्ग का प्रथम उपदेशक स्वीकार किया है। 'भागवत पुराण' मे भगवान् वृषभनाथ का बड़ा सजीव वर्णन पौराणिक महर्षि व्यासदेव ने किया है। योगवाशिष्ठ दक्षिणामूर्ति सहस्रनाम, वैशम्पा

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

# कविवर जगतराम : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ श्री गोकुलप्रसाद जैन, नई दिल्ली

जगतराम (वि० सं० १७२०) का अपर नाम जगराम भी था। पद्मनन्दिपंचविंशति भाषा के कर्ता जगतराम भी संभवतः ये जगतराम ही थे जिन्होंने विभिन्न नामों से अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। इनके पितामह का नाम भाई दास था। ये सिंघल-गोत्रीय अग्रवाल थे। पहिले ये पानीपत में रहते थे और बाद में आगरा आकर रहने लगे। आगरा उस समय प्रसिद्ध साहित्यिक केन्द्र था तथा कुछ समय पूर्व ही वहां बनारसीदास जैसे उच्च कवि हो चुके थे।

इनके पितामह भाई दास श्रावकों में उत्तम और धार्मिक कार्य कराने मे प्रसिद्ध थे। उनकी पत्नी भी धार्मिक प्रवृत्ति वाली थीं। उनके दो पुत्र हुए : रामचन्द्र और नन्दलाल। दोनों ही अपने माता-पिता के समान स्वस्थ, सुन्दर और गुणी थे।[1] जगतराम नन्दलाल के पुत्र थे या रामचन्द्र के, इस विषय मे अभी मतभेद है। कविवर काशीदास ने अपनी 'सम्यक्त्व-कौमुदी' में उनको रामचन्द्र का पुत्र माना है।[2] 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' की प्रशस्ति में उनको स्पष्टतया नन्दलाल का पुत्र माना गया है।[3] श्री अगरचन्दजी नाहटा ने उनको रामचन्द्र का पुत्र माना है।[4]

इनके पितामह तो गोहाना के निवासी थे, किन्तु उनके दोनो पुत्र पानीपत मे आकर बस गए थे।[5] जगत राम बाद मे आगरा आकर रहने लगे थे। यह बात तो जगतराम की रचनाओं से और उनके आश्रित कवियो के कथनों से भी प्रमाणित होती है कि जगतराम सपरिवार आगरा में बस गए थे तथा ताजगंज मे रायते बाग में रहते थे। वे औरंगजेब के दरबार मे किसी ऊँचे पद पर आसीन थे और राजा की पदवी से विभूषित थे।[6] इसी कारण लोग उन्हें जगतराय भी कहने लगे थे। कविवर काशी-

---

१. 'भाईदास मही मे जानिये, ता तिय कमला सम मानिए।
ता सुत अति सुन्दर बरबीर उपजैं दोऊगुण सायरधीर॥
दाता भुगता दीनदयाल, श्री जिनधर्म सदा प्रतिपाल।
रामचंद नंदलाल प्रवीन,सबगुण ग्यायक समकित लीन॥
—कवि काशीदास, सम्यक्त्व-कौमुदी; डा० ज्योतिप्रसाद, हिन्दी जैन साहित्य के कुछ कवि; अनेकांत, वर्ष १०, किरण १०।

तथा

भाईदास श्रावक परसिद्ध, उत्तम करणी कर जस लिद्ध।
नंदन दोइ भये तसु धीर, रामचद नन्दलाल सुवीर॥
सालिभद्र कलियुग मे एह, भाग्यवंत सब गुण को गेह।
—पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, अगस्त १९५०, पृ० २३३।

२. 'रामचद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ग्यायक भूप।'
काशीदास, सम्यक्त्व कौमुदी, प्रशस्ति, अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०।

३. सुजानसिंघ नन्दलाल सुनन्द, जगतराय सुत है टेकचंद।
जो लौ सागर ससि दिनकर,तोलौ अविचल एपरिवार॥'
—पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्ति, प्रशस्ति संग्रह, पृ० २३४।

४ अगरचन्द नाहटा, 'आगरे के साहित्य प्रेमी जगतराय जात और उनका छन्दरत्नावली ग्रन्थ", भारतीय साहित्य, वर्ष २, अंक २, अप्रैल १९५७, आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा, पृ० १८१।

५. सहर गुहाणावासी जोइ, पाणीपथ आइ है सोइ।
रामचद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ग्यायकभूप॥
सम्यक्त्व-कौमुदी, प्रशस्ति, अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०।

६. सहर आगरो है सुख थान, परतपि दीसे स्वर्ग विमान।
चारौ वरन् रहे सुख पाइ,तहाँ बहुशास्त्र रच्या सुखदाइ॥
—पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्तिसग्रह, पृ० २३४।

७. अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०, पृ० ३७५।

दास ने तो उन्हें 'भूप' और 'महाराज' जैसी विशेषण-सूचक सज्ञाओं से अभिहित किया है।[८]

स्वयं राजा होते हुए भी उनमें अहंकार किंचित् भी नहीं था। वे काशीदास आदि अनेक कवियों के आश्रय-दाता थे। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार, 'जगतराय एक प्रभावशाली, धर्म-प्रेमी और कवि-आश्रयदाता तथा दानवीर सिद्ध होते है।'

जगतराम का साहित्यिक जीवन वि० सं० १७२० से १७४० तक रहा। जगतराम की रचनाओं के विषय में मतभेद है। पं० नाथूरामजी प्रेमी अपने 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' में जगतराय की तीन छन्दो-बद्ध रचनाओं का उल्लेख करते है: 'आगमविलास', 'सम्यक्त्व-कौमुदी' और 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका'। दिल्ली के नये मन्दिर और सेठ के कूंचे के मन्दिर की अनेकान्त के वर्ष ४, अंक ६, ७, ८ में प्रकाशित ग्रन्थ सूची के अनुसार, जगतराय 'छन्द रत्नावली' और 'ज्ञाना-नन्द श्रावकाचार, गद्य ग्रन्थ के भी रचयिता थे।

दिल्ली की ग्रन्थ-सूची के अनुसार, इनका 'आगम-विलास' एक काव्य सग्रह है जिसका संग्रह मैनपुरी में वि० सं० १७८४ की माघ सुदी १४ को किया गया था। यह कृति पुण्यहर्ष और उनके शिष्य अभयकुशल की है और उन्होने इसकी रचना फाल्गुन सुदी १०, वि० सं० १७२२ को आगरे मे जगतराय के लिए की थी।[११]

जगतराम ने 'चन्दरत्नावली' की रचना वि० सं० १७३० कार्तिक सुदी मे आगरे के नवाब हिम्मतखान की प्ररणा से आगरे में की थी। यह हिन्दी साहित्य का एक अनूठा ग्रन्थ है। जगतराय ने सभी उपलब्ध छन्द-शास्त्रों का अध्ययन करके इस ग्रन्थ की रचना की थी।[१२] इसकी एक हस्तलिखित प्रति दिगम्बर जैन नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली के सरस्वती भण्डार मे सुरक्षित है। उसके शुरू के दो पद्यों में हिम्मतखान का गुणगान किया गया है।[१३]

जगतराम के रचे हुए अनेक पद भी मिले हैं। इनकी लघुमगल नाम की एक कृति भी मिलती है जिसमें केवल १३ पद्य हैं और दि० जैन मन्दिर, बड़ौत के गुटका स० ५४ में पत्र सं० ९९-१०२ पर अंकित हैं।

इनकी जैन-पदावली की सूचना काशी नागरी प्रचा-रिणी पत्रिका के पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरण मे संख्या ९४ की प्रविष्टि से प्राप्त होती है। यह रचना जैन मन्दिर, किरावली (आगरा) से उपलब्ध हुई थी। इसमें श्री जगतराम के रचे हुए २३३ पद है। उनके बारे में उक्त पत्रिका की आलोचनात्मक टिप्पणी में लिखा है कि 'इन्होने अष्टछाप कवियों की शैली पर पदो की रचनाएं की, जिनका एक सग्रह प्रथम खोज में प्रथम बार उपलब्ध हुआ हैं। इसमें तीर्थंकरो की स्तुतियाँ सुन्दर पदों में वर्णन की गई हैं[१४]। जगतराम के पद छोटे किन्तु बड़े सरस और भावप्रवण है, मानो कवि ने उनमे अपना हृदय उंडेल दिया हो।

**कविवर का एक पद इस प्रकार है—**

'प्रभु बिन कौन हमारी सहाई ॥ टेक ॥
और सबै स्वारथ के साथी, तुम परमारथ भाई ॥१॥

---

८. काशीदास, सम्यक्त्व-कौमुदी, प्रशस्ति और पुष्पिका, अनेकान्त, वर्ष १०, किरण १०।

९. अग्रवाल है उमग्यानि, सिंघल गौत्र वसुधा विख्यात। पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपर्चाविंशतिका, प्रशस्ति और संग्रह, पृ० २३३।

१०. श्री ज्ञानचंद जैनी, दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली, लाहौर, सन् १९०१ ई०, पृ० ४, नं० ८।

११. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्ति, भारतीय साहित्य, पृ० १८१।

१२. जुगतराई सो यों कह्यो, हिम्मतखान बुलाई।
पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि बनाई ॥३॥
छदो ग्रन्थ जितेक है, करि इक ठौरे आनि।
समुझि सबको सार ले, रतनावली बखानि ॥४॥
छन्द रत्नावली, नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली की प्रति, सख्या ९१।

१३. 'उज्जल जस अबर कर्यो दस दिस हिम्मतखान।
मुकता तजि सुर सुन्दरिन, भूषन कियो कान।
हिम्मतखां सों अरि कपत, भाजत लै लै जीय।
अरि रि हमें हूं संग लै, बोलत तिनकी तीय ॥
वही, पृ० १८३।

१४. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण, संख्या ९४।

भूल हमारी ही हमको इह, भयी महा दुखदाई ।
विषय कषाय सस्य संग सेयो, तुम्हरी सुध बिसराई ॥२॥
उन डसियो विष जोर भयो तब, मोह लहरि चढ़ि आई ।
भक्ति जड़ी ताके हरिवें कूं, गुर गारुड़ बताई ॥३॥
यातें चरन सरन आये है, मन परतीति उपाई ।
अब जगतराय सहाय की येही, साहिब सेवगताई ॥४॥'

इस पद में कवि अपनी भूल स्वीकार करते हुये कहता है कि हम आपके चरणों की शरण में आये है, हम पर कृपा कीजिए। आपके अतिरिक्त अन्य सब देवता स्वार्थ के साथी है।

जगतराम के पदों में आध्यात्मिक फागुओं का अनोखा सौन्दर्य छोटे-छोटे रूपकों मे प्रस्तुत किया गया है,[१५] यथा—

'सुध बुधि गोरी संग लेय कर, सुरुचि गुलाल लगा रैते रे।
समता जल पिचकारी, करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे॥
अनुभव पानि सुपारी चरचानि, सरस रंग लगाय रे तेरे।
राम कहे जे इह विधि षेले, मोक्ष महल में जाय रे॥सु०॥'

जगतराम ने जैन पदावली के अतिरिक्त और भी अनेकों पदों की रचना की थी। बड़ौत के दि० जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार के एक पदसग्रह मे जगतराम के सैकड़ों पद अंकित है। उनके पद जयपुर के बधीचद जी के शास्त्र भण्डार के गुटका नं० १३४ मे भी निविष्ट है। जगतराम ने अपने नाम के स्थान पर कही 'राम' और कहीं 'जगराम' भी लिखा है। उनके पदों को आध्यात्मिक और भक्तिपरक पदों की कोटि मे रखा जा सकता है। कवि की रचना देखिए[१६]—

'मोहि लगनि लागी हो जिन जी तुम दरसन की ॥टेक॥
सुमति चातकी की प्यारी जो पावस ऋतु सम आनदघन बरसन की ॥१॥
बार-बार तुमको कहा कहिए तुम सब लायक हो मेटो विथा तरसन की।
त्रिभुवनपति जगराम प्रभु, अब सेवक कौं द्यौ सेवा पद परसन की ॥२॥'

भक्त कवि को प्रभु की छवि अनुपम लगती है। उसे पूर्ण विश्वास है कि ऐसे प्रभु के स्मरण से ही मुक्ति मिलती है—

'अदभुत रूप अनूपम महिमा तीन लोक में छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक चन्द्र सूर्य गण लाजै॥
धरि अनुराग विलोकत जाकौं अशुभ करम तजि भाजै।
जो जगतराम बनै सुमरन तौ अनहद बाजा बाजै॥'

निम्न पद मे भी कवि इसी आशय का भाव व्यक्त करते हुए कहता है कि प्रभु के स्मरण से सभी कार्य सिद्ध हो जाते है। अतः इसमें आलस्य नही करना चाहिए, क्योंकि यत्न के बिना कार्य बिगड़ जाते है—

'जतन विन कारज विगरत भाई॥
प्रभु सुमरन तें सब सुधरत है, ता मे क्यो अलसाई ॥१॥
विषै लीनता दुख उपजावत, लागत जहां ललचाई॥
चतुरन को व्योहार नय जहां, समझ न परत ठगाई ॥२॥
सतगुरु शिक्षा अमृत पीवो, अव करन कठोर लगाई॥
ज्यों अजरामर पद को पावो, जगतराम सुखदाई ॥३॥'

कविवर ने स्वयं को प्रभु के दास के रूप में भी प्रस्तुत किया है। वे प्रभु के चरणों के निकट ही रहने की आकांक्षा रखते है—

'तुम साहिब मैं चेरा, मेरा प्रभुजी हो॥
चूक चाकरी मो चेरा की, साहिब ही जिन मेरा ॥१॥
टहल यथाविधि बन नहीं आवे, करम रहे कर बेरा।
मेरो अवगुण इतनो ही लीजे, निश दिन सुमरन तेरा ॥२॥
करो अनुग्रह अब मुझ ऊपर मेटो अव उरझेरा।
'जगतराम' कर जोड़ वीनवै राखो चरणन नेरा ॥३॥'

नेमीश्वर-राजुल के कथानक पर आधारित इसी प्रकार के एक अन्य पद मे राजुल नेमीश्वर की सुन्दर, श्यामल और सलौनी मुखाकृति पर आसक्त है तथा उससे उसे देखे बिना नहीं रहा जाता। वह भी नेमीश्वर के साथ तपश्चरण को जाना चाहती है। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं सुहाता। पद इस प्रकार है—

'सखीरी विन देखे रह्यौ न जाय,
येरी मोहि प्रभु कौ दरस कराय॥
सुन्दर स्याम सलौनी मूरति, नैन रहे निरखन ललचाय ॥१॥

१५. श्री महावीरजी अतिशयक्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज ८६, पृ० १६०।

१६. मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुर, पद-संग्रह नं० ४६२, पत्र ७८।७४।

तन सुकमाल मार जिह मार्यो, तासौ मोह रह्यौ थरराय।।
जग प्रभु नेमिसंग तप करनौ,
अब मोहि और न कछू सुहाय ।।२।।'

जगतराम हिन्दी के उच्च कोटि के कवि और विद्वान् थे। वे आगरे की अध्यात्म शैली के उन्नायक भी थे।

कविवर के सैकड़ों पद प्राप्त होते है। इनके अधिकांश पद भक्ति, स्तुति और प्रार्थना परक है। कुछ पदो में जैनाचार का विश्लेषण भी किया गया है। नेमीश्वर और राजुल के कथानक पर आधारित की अनेक पद है जो इनके शृंगारिक पदों की कोटि मे भी रखे जा सकते हैं। आध्यात्मिक पदों में मिथ्यात्व, राग-द्वेष एव क्रोधादि विकारों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इनके पद स्वोद्-बोधक भी हैं।

कविवर ने पद-रचना कब प्रारम्भ की थी, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख तो नहीं मिलता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपने जीवन के अन्तिम चरण में भजनानन्दी हो गए थे।

पदों की भाषा पर राजस्थानी एवं बृजभाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रायः सभी पद सरसता, भावप्रवणता एवं मार्मिकता मे एक से एक बढ़कर है।

३, रामनगर,
नई दिल्ली-५५

□ □ □

[पृष्ठ ९३ का शेषांश]

यन सहस्रनाम, दुर्वासा ऋषिकृत महिम्नः स्तोत्र, हनुमन्नाटक, रुद्रयामल तंत्र, गणेशपुराण, व्याससूत्र, प्रभातपुराण, मनुस्मृति, ऋग्वेद और यजुर्वेद में जैनधर्म का उल्लेख हुआ है और इसकी सनातन प्राचीनता को वैदिक पौराणिक मनीषियों ने साग्रह स्वीकार किया है।

'सिन्धुघाटी' सभ्यता के अन्वेषक श्रीरामप्रसाद चन्दा का कथन है कि—'सिन्धुघाटी में प्राप्त देवमूर्तियां न केवल बैठी हुई 'योगमुद्रा' में है अपितु खड्गासन देवमूर्तियां भी हैं जो योग की 'कायोत्सर्ग' मुद्रा मे हैं। कायोत्सर्ग की ये विशिष्ट मुद्राएं 'जैन' है। 'आदिपुराण' और अन्य जैन ग्रन्थों में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या ऋषभनाथ के तपश्चरण के सम्बन्ध मे बहुधा किया गया है। ये मूर्तियां ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल की मिलती हैं और प्राचीन मिश्र के प्रारम्भिक राज्यकाल के समय की, दोनों हाथ लम्बित किये खड़ी मूर्तियों के रूप में मिलती हैं। प्राचीन मिस्र मूर्तियों में तथा प्राचीन यूनानी 'कुरोइ' मूर्तियों में प्रायः खड्गासन में हाथ लटकाये हुए समानाकृतिक मुद्राएं है तथापि उनमें देहोत्सर्ग का (निःसंगत्क का) वह अभाव है जो सिन्धुघाटी की मूर्तियों में मिला है।'

प्राचीन युग की अपेक्षा आज मूर्त्ति पूजा की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र में आज का मानव पूर्वयुगीन मानव से पिछड़ा हुआ है। यह मानना कि आज स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय अधिक हैं तथा साक्षरता का प्रचार पूर्वापेक्षया व्यापक है, अतः ज्ञान बढ़ा है, नितान्त भ्रान्ति है। ज्ञान आत्मा का धर्म है और साक्षरता लोक व्यवहार चलाने का माध्यम है। ज्ञान का मार्ग चारित्र से मिलकर कृतार्थ होता है और साक्षरता से लोक के बहिरंग-रमणीय नश्वर उपकरणों के उपभोग की प्रवृत्ति अधिक जागृत होती है। मोक्ष के लिए 'तुष-माष' मात्र भेदज्ञान रखने वाला साक्षर न होते हुए भी ज्ञानवान् है और विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत भी मद्यमांसनिषेवी, व्यवसनाभिभूत, स्वपर-प्रत्यय रहित कार्यालयों में कामचलाऊ अधिकारी तो है, किन्तु ज्ञानी नहीं। साक्षर में और ज्ञानवान् में यही मौलिक भेद है। प्रत्येक पदनिक्षेप 'प्रगति' ही नहीं होता, अगति अथवा पश्चाद्गति भी हो सकता है। आज प्रगति का नाम लिया जाता है। परन्तु वास्तव में तो यह अगति है, अधोगति और 'पश्चाद् गति ही है। जितना व्यसनों से आज का मानव अभिभूत है, पूर्वकाल में नही था। पहले मनुष्य में सात्विकता और धर्माचरण की प्रवृत्ति थी, आज भोगलिप्सायें और स्वैराचरण बढ़ गया है। एतावतापूर्व का मानव स्वस्थ था, आज मानसिक रूप से घोर रुग्ण है। अतः चिकित्सा की आज अधिक आवश्यकता है। साक्षरता और ज्ञान का समन्वय होने से श्रेयोमार्ग की उपलब्धि सुलभ हो जाती है।

□ □ □

# वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

**पुरातन जैनवाक्य-सूची** : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक *मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की* ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए. डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। ... १५-००

**आप्तपरीक्षा** : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ... ८-००

**स्वयम्भू स्तोत्र** : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २-००

**स्तुतिविद्या** : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... १-५०

**अध्यात्मकमलमार्तण्ड** : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। ... १-५०

**युक्त्यनुशासन** : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

**समीचीन धर्मशास्त्र** : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १** : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४-००

**समाधितन्त्र और इष्टोपदेश** : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

**श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।** ... ... १-२५

**अध्यात्मरहस्य** पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २** : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

**न्याय-दीपिका** : आ अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० द[illegible]लालजी न्यायतीर्थ द्वारा सं० अनु० [illegible]

**जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश** : पृष्ठ संख्या ७४० [illegible] ५-००

**कसायपाहुडसुत्त** : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गु[illegible]ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०-००

**Reality** : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

**जैन निबन्ध-रत्नावली** : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

**ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित)** : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

**श्रावक धर्म संहिता** : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

**जैन लक्षणावली (तीन भागों में)** : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Under print)

---

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

# अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण ३ जुलाई-सितम्बर १९७६

## विषयनुक्रमणिका



| क्रम | विषय | पृ० |
|---|---|---|
| १. | उवसग्गहर- श्री भद्रबाहु विरचितम् | ९७ |
| २. | स्वाध्याय—उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द | ९८ |
| ३. | भारतीय प्रमाण-शास्त्र के विकास में जैन परम्परा का योगदान—मुनि श्री नथमल | १०२ |
| ४. | आदिपुराण मे राजनीति —डा० रमेशचन्द्र जैन | १०७ |
| ५. | कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमाएं —श्री शिवकुमार नामदेव | ११३ |
| ६. | कालिदास के काव्यों में अहिंसा और जैनत्व —श्री प्रेमचन्द रावका | ११६ |
| ७. | मध्य युग मे जैन धर्म और संस्कृति —कुमारी रश्मिबाला जैन, एम. ए. | ११८ |
| ८. | शुंग कुषाण कालीन जैन शिल्पकला —श्री शिवकुमार नामदेव | १२० |
| ९ | छीहल की एक दुर्लभ प्रबन्धकृति —श्री अशोककुमार मिश्र | १२३ |
| ०१. | जैन वाङ्मय मे आयुर्वेद—आचार्य श्री राजकुमार जैन | १२७ |



परामर्श-मण्डल
**श्री यशपाल जैन**
**डा० प्रेमसागर जैन**

सम्पादक
**श्री गोकुलप्रसाद जैन**
एम.ए., एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का म :
१ रुपया २५ पैसा

प्रकाशक
**वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२**

# वीर सेवा मन्दिर

**समाज के ऐसे धर्मवत्सल १००० विद्यादानियों की आवश्यकता है जो सिर्फ एक बार अनुदान देकर जीवन भर शास्त्रदान के उत्कृष्ट पुण्य का संचय करते रहें।**

**'वीर सेवामन्दिर'** की स्थापना आज से ४० वर्ष पूर्व स्व० श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्व० श्री छोटेलाल जैन तथा वर्तमान अध्यक्ष श्री शान्तिप्रसाद जैन प्रभृति जाग्रत चेतनाओं के सत्प्रयत्नों से हुई थी। तब से जैनदर्शन के प्रचार तथा ठोस साहित्य के प्रकाशन में **वीर सेवा मन्दिर** ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं वे सुविदित है और उनके महत्त्व को न सिर्फ भारत मे बल्कि विदेशों में भी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से माना है।

**'वीर सेवा मन्दिर'** के अपने विशाल भवन में एक सुनियोजित ग्रन्थागार है जिसका समय-समय पर रिसर्च करने वाले छात्र उपयोग करते है। दिल्ली से बाहर के शोधकर्ता छात्रों के लिए यहां ठहरकर कार्य करने के लिए छात्रावास की भी व्यवस्था है।

अब तक जो भी कार्य हुए हैं, आपके सहयोग से ही हो पाए है। यदि **'वीर सेवा मन्दिर'** की कमजोर आर्थिक स्थिति को आपका थोड़ा सम्बल मिल जाए तो कार्य अधिक व्यवस्थित तथा गतिमान हो जाए। **'आप २५१ रु० मात्र देकर आजीवन सदस्य बन जाएँ'** तो आपकी सहायता जीवन भर के लिए **'वीर सेवा मन्दिर'** को प्राप्त हो सकती है। सदस्यो को **'वीर सेवा मन्दिर'** का त्रैमासिक पत्र "अनेकान्त" नि:शुल्क भेजा जाता है तथा अन्य सभी प्रकाशन दो तिहाई मूल्य पर दिए जाते है।

हमे विश्वास है कि धर्म प्रेमी महानुभाव इस दिशा मे संस्था की सहायता स्वयं तो करेंगे ही, अन्य विद्या प्रेमियों को भी इस ओर प्रेरित करेंगे।

—महेन्द्रसेन जैनी, महासचिव

## 'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय ३, रामनगर, नई दिल्ली-५५
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश, जैन प्रकाशक

स्थापित : १९२९

# वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागँज, नई दिल्ली-२

**वीर** सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति मे संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार है :—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थगार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा **वीर सेवा मन्दिर** गत ४६ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापो में हर प्रकार से आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अत: आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमो मे सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनो को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य इतिहास एवं पुरातत्व के शोधानुसन्धान मे योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वो एवं दानादि के अवसरो पर महत उद्देश्यों की पूर्ति मे वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुल प्रसाद जैन (सचिव)

अनेकान्त मे प्रकाशित विचारो के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —सम्पादक

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २९ किरण ३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर निर्वाण सवत् २५०२, वि० स० २०३२ | जुलाई-सितम्बर १९७६

## उवसग्गहरं

उवसग्गहरं पासं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं ।
विसहर-विसणिण्णासं मंगल-कल्लाण-आवासं ॥१॥
विसहर फुलिंगमंतं कंठे धारेई जो सया मणुओ ।
तस्स गहरोगमारी दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥२॥
चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामोवि बहुफलो होइ ।
णरतिरिएसुवि जीवा पावंति ण दुक्खदोगच्चं ॥३॥
तुह सम्मते लद्धे चिंतामणि कप्पपायवब्भहिए ।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं ॥४॥
इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भर निब्भरेण हिअएण ।
ता देव दिज्ज बोहिं भवे भवे पास जिणचंद ॥५॥
ॐ अमरतरु कामधेणु चिन्तामणि कामकुंभमाइया ।
सिरिपासनाह सेवाग्गहाण सव्वे वि दासत्तं ॥६॥
'उपसर्गहरं स्तोत्रं कृतं श्रीभद्रबाहुना ।
ज्ञानादित्येन सघाय शान्तये मंगलाय च ॥'

—श्रीभद्रबाहु विरचितम्

**अर्थ**—मैं घातिय कर्मों से विमुक्त उपसर्गहारी भगवान् श्री पार्श्वनाथ की वन्दना करता हूं। भगवान् विषधर के विष का शमन करने वाले है तथा मंगल एवं कल्याण के निवास हैं। विषहरण शक्ति से स्फुलिंग के समान दीप्तिमान् इस स्तोत्र को जो मनुष्य नित्य कण्ठ में धारण करता है (कण्ठस्थ रखता है, कण्ठ द्वारा उच्चारण करता है) उसके ग्रहपीड़ा, रोग, महामारी तथा वार्धक्य से उत्पन्न दुष्ट व्याधियां शान्त हो जाती हैं। हे भगवन् ! मंत्रोपचार तो दूर की बात है, उसे रहने दें तो भी आपको श्रद्धाभक्ति से किया गया एक प्रणाम भी बहुफलदायी होता है। नर और तिर्यक् गति में उत्पन्न जीव आपकी भक्ति से दुःख तथा दुर्गति नहीं पाते। चिन्तामणि और कल्प पादप-समान आपके सम्यक्त्व को प्राप्त कर जीव निर्विघ्न अजर-अमर स्थान प्राप्त कर लेते है। हे महान् यशस्विन ! भक्ति की अतिशयता से भरित हृदय से मैं आपकी स्तुति करता हूं। हे पार्श्व जिनचन्द्र ! मुझे बोधिलाभ हो, ऐसी प्रार्थना है।

# स्वाध्याय[1]

☐ उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्द

"णवि अत्थि णवि य होहदि,
सज्झायसमं तवो कम्मं ।।"
—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार १०/८२

'स्वाध्याय' तप के सामान दूसरा कोई कार्य न है और न होगा ।

मनुष्य जीवन पशु जीवन से श्रेष्ठ है, क्योकि पशु और मनुष्य के विवेक मे अन्तर है । पशु का विवेक आहार, निद्रा, भय और मैथुन तक सीमित है किन्तु मनुष्य का विवेक इससे ऊपर उठ कर चिन्तन की असीमता को मापता है । उसकी जिज्ञासा से दर्शन शास्त्रों का जन्म होता है, उसके ज्ञान से स्व-पर की भेद-विद्या का प्रादुर्भाव होता है । वह इह और अपरत्र लोकों के विषय में आत्ममन्थन की छाया मे नवीन उपलब्धियो से मानव समाज के बुद्धि, चिन्तन और चेतना के धरातल का नवीन निर्माण करता है । मैं कौन हू ? जन्म-मरण क्या है ? संसार से मेरा क्या सम्बन्ध है ? मुझे कहाँ जाना है ? अनन्तानुबन्धी कर्मशृंखला का अन्त कहा है ? इत्यादि दार्शनिक प्रश्नावली के ऊहापोह मनुष्य मे ही हो सकते है । चिन्तन की इस सहज धारा का उदय सभी मानवों में होता है किन्तु कुछ लोग ही इस अनाहत ध्वनि को सुन पाते है । सुनने वालो मे भी कुछ प्रतिशत व्यक्ति ही गम्भीरता से विचार कर पाते है और उन विचारकों में भी बहुत थोडे लोग होते है जो अपने चिन्तन की परिणति से चारित्र को कृतार्थ करते है, क्योंकि 'बुद्धेः फलं ह्यात्महित प्रवृत्तिः' अर्थात् आत्महित का ज्ञान चिन्तनशील मनीषियो ने ग्रन्थ भण्डारो के रूप अपनी उत्तराधिकारिणी मानव पीढी को सौंपा है । एक व्यक्ति किसी एक विषय पर जितना दे नही सकता, उतना अपरिमित ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजो ने और पूर्ववर्ती विचारको ने हमारे लिए छोडा है । जैसे जल कणों से कुम्भ भर जाता है उसी प्रकार अनेक दार्शनिको, चिन्तनशीलो, विचारकों एवं विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यों की एक-एक शब्द राशि से, भावसम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थ रूप में जन्म लेकर ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजो ने, पूर्ववर्ती विचारको ने, हमारे लिए छोड़ा है । जैसे जलकणो से कुम्भ भर जाता है उसी प्रकार अनेक दार्शनिकों चिन्तनशीलो, विचारको एव विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यों की एक-एक शब्दराशि से, भाव सम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थरूप में जन्म लेकर ज्ञान-विज्ञान की अपार विभूतियों ने हमारे आत्मदर्शन के मार्ग को प्रशस्त किया है । उन सारस्वत महर्षियों के अपार ऋणानुबन्ध से हम उऋण नहीं हो सकते । जब किसी ग्रन्थ को पढ़ते है, उसे अल्पकाल मे ही पढ लेते है, किन्तु उसकी एक-एक शब्द-योजना मे, पक्तिलेखन में, विषय प्रतिपादन मे और ग्रन्थ परियोजन की प्रतिपादन विधि में मूल लेखक को, विचारक को कितने दिन, मास, वर्ष लगे होगे, कितने काल की अधीत विद्या का निचोड़ उसने उसमे निहित किया होगा इसे परखने का तुलादण्ड हमारे पास क्या है ? तथापि यदि हमने किसी की रचना के एक शब्द को, आधे सूत्र को और एक पंक्ति-श्लोक को भी यथावत् समझने का प्रयास करने मे अपनी आत्मिक तन्मयता लगायी है तो निस्सन्देह वह लेखक स्वर्गस्थ होकर भी कृतकृत्य हो उठेगा । लेखक के श्रम को उस पर अनुशीलन करने वाले अनुवाचक ही सफल कर सकते है । जब तक शब्द प्रयुक्त होकर साहित्य मे

---

१. 'स्वाध्याय यदि निरन्तर करोति तथापि कर्म क्षय करोतीति भावः ।'

नहीं उतरते और जब तक कोई कृति सहृदयों के हृदय का आकर्षण नही कर लेती तब तक शब्द का जन्म (निष्पन्नता) और कर्त्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से हमे विचारो मे नवीन शक्ति का उन्मेष होता हुआ प्रतीत होता है। नयी दिशा, नये विचार, नये शोध और वैदुष्य के अवसर निरन्तर स्वाध्याय करने वालों को प्राप्त होते है।

स्वाध्याय करते रहने से मनुष्य मेधावी होता है। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है। स्वाध्यायशील व्यक्ति उन विशिष्ट रचनाओ के अनुशीलन से अपने व्यक्तित्व मे विशालता को समाविष्ट पाता है। वह रचनाओ के ही नही, अपितु उन-उन रचनाकारो के सम्पर्क मे भी आता है जिनकी पुस्तके पढ़ता होता है, क्योकि व्यक्ति अपने चिन्तन के परिणामो को ही पुस्तक मे निबद्ध करता है। कौन कैसा है? यह उसके द्वारा निर्मित साहित्य को पढकर सहज ही जाना जा सकता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति की विचारशक्ति और चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है। मन, जो निरन्तर भटकने का आदी है, स्वाध्याय मे लगा देने से स्थिर होने लगता है, और मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि मे परम सहायक होती है। एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करते है।

पुस्तकालयो, व्यक्तिगत संग्रहालयों, ग्रन्थ-भण्डारों को दीमक लग रही है। नवयुवको का जीवन स्वाध्याय-पराङ्मुख हो चला है। जीवन रात-दिन यन्त्र के समान उपार्जन की चक्की मे पिस रहा है। स्वाध्याय की परिस्थितिया दुर्लभ हो गई है और बदलती परिस्थितियो के साथ मनुष्य स्वय भी स्वाध्याय के प्रति विरक्त हो चला है। उसका कार्यालया से बचा हुआ समय सिनेमा, रेडियो, ताश के पत्तों और अन्य सस्ते मनोरजनो मे चला जाता है। स्वाध्याय शब्द की गरिमा से अनजाने लोग विचारको की रत्नसम्पदा समान ग्रन्थ माला से कोई लाभ नही उठा पाते।

स्वाध्यायशील न रहने मे मन मे उदार सद्गुणो की पूजी जमा नही होती। शरीर का भोजनरूपी खुराक (अन्नमय आहार) तो मिल जाती है किन्तु मस्तिष्क भूखा रहता है। मानव केवल शरीर नही है वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से ही महान् है। अस्वाध्यायी इस महिमामय महत्त्व के अवसर से वचित ही रह जाता है। स्वाध्याय न करने के दुष्परिणाम स्वरूप ही कुछ लोग जो आयु मे प्रौढ होते है, विचारो मे बालक देखे जाते हैं। उनके विचार कच्ची उम्र वालो के समान अपक्व होते है और इस अपरिपक्वता की छाया उनके सभी जीवन-व्यवहारो मे दिखायी देती है। जो मनुष्य चलता रहता है उसके पास पाप नही आते। स्वाध्याय के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा और परलोक से अनायास सम्पर्क स्थापित कर लेता है। स्वाध्याय आभ्यन्तर चक्षुओं के लिए अंजनशलाका है। दिव्य दृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन मे उन्नति प्राप्त करने वाले नियमित स्वाध्यायी थे। एक बार एक महाशय को लोकमान्य तिलक की सेवा मे बैठना पड़ा। वह प्रातःकाल से ही ग्रन्थो के विविध सन्दर्भ-स्वाध्याय मे लगे थे और इस प्रकार दोपहर हो गई। उठकर उन्होंने स्नान किया और भोजन की थाली पर बैठ गये। आगन्तुक ने पूछा—क्या आप संध्या नही करते? तिलक महाशय ने उत्तर दिया कि प्रातःकाल से अब तक मैं 'सन्ध्या' ही तो कर रहा था। वास्तव मे स्वाध्याय से उपार्जित ज्ञान को यदि जीवन मे नही उतारा गया तो निरुद्देश्य 'जलताड़न क्रिया' से क्या लाभ? आंखो की ज्योति को मन्द किया, समय खोया और जीवन मे पाया कुछ नहीं तो 'स्वाध्याय' का परिणाम क्या निकला? स्वाध्याय स्व के अध्ययन के लिए है। संसार की नश्वर आकुलता से ऊपर उठने के लिए है। स्वाध्याय की थाली मे परोसा हुआ अमृतमय समय जीवन को अमर बनाने में सहायक है। स्वाध्याय से आत्मिक तेज जाग्रत होता है, पुण्य की ओर प्रवृत्ति होती है और मोहनीय कर्म का क्षय करने की ओर विचार दौड़ते हैं। पूर्वजो ने जिस वास्तविक सम्पत्ति का उत्तराधिकार हमे सौंपा है उस 'वसीयतनामे' को पढ़ना वैसे भी हमारा नैतिक कर्तव्य है।

'श्रुत स्कन्धं धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्', यह मन वानर के समान चचल है, इसे जो शास्त्र स्वाध्याय मे एकतान कर देता है वही धन्य है। स्वाध्याय से हेय

और उपादेय का ज्ञान होता है। यदि वह न हो तो 'व्यर्थः श्रमः श्रुतौ', शास्त्राध्ययन से होने वाला श्रम व्यर्थ है। स्वाध्याय करने पर भी मन मे विचारमूढता है, ज्ञान पर आवरण है, तो कहना पड़ेगा कि उसने स्वाध्याय पर बैठकर भी वास्तव में स्वाध्याय नही किया। 'पाणौ कृतेन दीपेन कि कूपे पतता फलम्', दीपक हाथ मे लेकर चले और फिर भी कुएँ मे गिर पड़े तो दीपग्रहण का श्रम व्यर्थ नही तो क्या है? शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। यह सूर्य प्रभा से भी बढ़कर है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब मनुष्य दीपक से देखता है और जब दीपक भी निर्वाण हो जाता है तब सर्वत्र अन्धकार छा जाता है, किन्तु उस समय अधीतविद्या का स्वाध्याय ही आत्मभूमि मे आलोक का आविर्भाव करता है। यह स्वाध्याय से उत्पन्न आलोक तिमिरग्रस्त नही होता। अखण्ड ज्योतिर्मय यह ज्ञान स्वाध्याय-रसिको के समीप 'नन्दादीप' बनकर उपस्थित रहता है। स्वाध्याय की उपासना निरन्तर करते रहना जीवन को नित्य नियमित रूप से माँजने के समान है। एक अच्छे स्वाध्यायी का कहना है कि यदि मैं एक दिन नही पढ़ता हूं तो मुझे अपने आप में एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नही करता हूं तो पास-पड़ोस के लोग जान जाते है और एक सप्ताह न पढ़ने पर सारा ससार जान लेता है। वास्तव मे यह अत्यन्त सत्य है क्योंकि जिस प्रकार उदर को अन्न देना दैनिक आवश्यकता है उसी प्रकार मस्तिष्क को खुराक देना भी अनिवार्य है। शरीर और बुद्धि का समन्वय बना रहे इसके लिए दोनो प्रकार का आहार आवश्यक है। 'अज्झयणमेव झाणं', अध्ययन ही ध्यान है, सामयिक है, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द का मत है। संसार में जितने उच्च कोटि के लेखक, वक्ता और विचारक हुए है उनके सिरहाने पुस्तकों से बने है। विश्व के ज्ञान-विज्ञानरूपी तूलधार को उन्होंने अश्रान्त भाव से आंखों की तकली पर अटेरा है और उसके गुणमय गुच्छो से हृदय-मन्दिर को कोषागार का रूप दिया है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करने वाले रात-दिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय मे तन्मय रहते है, बड़े-बड़े अन्वेषक और दार्शनिक रात-दिन भूख प्यास को भूलकर स्वाध्याय में लगे रहते है। स्वामी रामतीर्थ जब जापान गए तो व्याख्यान सभा मे उपस्थित होने पर उन्हे पराजित करने की भावना से मंच सयोजक ने बोर्ड पर शून्य (०) लिख दिया और भाषण के प्रथम क्षण स्वामी रामतीर्थ को पता चला कि उन्हें शून्य पर भाषण करना है। उन्होंने जापानियों की दृष्टि में शून्य प्रतीत होने वाले उस अकिंचन विषय पर इतना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया कि श्रोता उनके वैदुष्य पर धन्य-धन्य और वाह-वाह कह उठे। यह उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के स्वाध्याय का ही फल था। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है कि जो बहुज्ञ होता है वही व्युत्पत्तिमान होता है। जिसको स्वाध्याय का व्यसन है वही बहुज्ञ हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति के विषय मे कहा है कि जैसे कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती है और लोभी को पैसा प्रिय लगता है उसी प्रकार जिसे भक्ति प्रिय लगे वह भगवान को पा सकता है। ठीक यही बात स्वाध्याय के लिये लागू होती है। जो व्यक्ति अध्ययन के लिये अपने को अन्य सभी ओर से एकाग्र कर लेता है वही स्वाध्याय देवता के साक्षात्कार का लाभ उठाता है। पढ़ने वालों ने घर पर लैम्प के अभाव में सड़कों पर लगे 'बल्बों' की रोशनी मे ज्ञान की ज्योति को बढाया है। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् प० हरिनारायण जी पुरोहित ने बाजार मे किसी पठनीय पुस्तक को बिकते हुए देखा। उस समय उनके पास पैसे नही थे, अत. उन्होने अपना कुर्त्ता खोलकर उस विक्रेता के पास गिरवी रख दिया और पुस्तक घर ले गये। इसलिए उनका 'विद्याभूषण' नाम सार्थक था। भारत के इतिहास मे ऐसे अनेक स्वाध्यायपरायण व्यक्ति हो चुके है। विदेशों में अधिकाश व्यक्तियों के घरो मे 'पुस्तकालय' है। वे अपनी आय का एक निश्चित अश पुस्तकें खरीदने मे व्यय करते है। धर्म-ग्रन्थों का दैनिक पारायण करने वाले स्वाध्यायी आज भी भारत मे वर्तमान है। वे धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। 'स्वाध्यायान् मा प्रमद', स्वाध्याय के विषय मे प्रमाद मत करो। स्वाध्यायशील अपने गन्तव्य मार्ग को स्वयं ढूंढ निकालते है। अज्ञान के गज पर स्वाध्याय

का अंकुश है। पवित्रता के पत्तन में प्रवेश करने के लिए स्वाध्याय तोरणद्वार है। स्वाध्याय न करने वाले अपनी योग्यता की डींग हांकते हैं, किन्तु स्वाध्यायशील उसे पवित्र गोपनीय निधि मानकर आत्मोत्थान के लिए उसका उपयोग करते है। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकराते रहते हैं, और जब वे बोलते है तो साक्षात् वाग्देवी उनके मुख-मंच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के अक्षरो का प्रतिबिम्ब उनकी आंखों पर लिखा रहता है और ज्ञान की निर्मलधारा से स्नात उनकी वाङ्माधुरी मे सरस्वती के प्रवाह पवित्र होने के लिए नित्याभिलाषी होते हैं। एक महान् तत्वद्रष्टा, सफल राजनेता और उत्तम सन्त स्वाध्याय-विद्यालय का स्नातक ही हो सकता है। स्वाध्याय एकान्त का सखा है; सभी स्थानों मे सहायक है; विद्वद्गोष्ठियो मे उच्च आसन प्रदान करने वाला है। जैसे पैसा-पैसा डालने पर भी कोषवृद्धि होती है, उसी प्रकार बिन्दु बिन्दु विचार संग्रह करने से पाण्डित्य की प्राप्ति होती है। शब्दों के अर्थ कोषों मे नही, साहित्य की प्रयोगशालाओं मे लिखे है। अनवरत स्वाध्याय करने वाला शब्दों के सर्वतोमुखी अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वाध्याय करने वाले की आंखों में समुद्रो की गहराई, पर्वत-शिखरों की ऊँचाई और आकाश की अनन्तता समायी होती है। वह जब चाहता है, बिना तैरे, बिना आरोहण-अवगाहन किये उनकी सीमाओ को बता सकता है। स्वाध्याय का तपः साधना के रूप मे सेवन करने वाला उससे अभीष्ट लाभों को प्राप्त करता है।

यद्यपि स्वाध्याय से आत्माभिमुखता की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे आत्मोपलब्धि साधन भी कहा जाता है तथापि प्रत्येक स्वाध्यायी निश्चित रूपसे आत्मा को प्राप्त करता है ऐसा नही माना जा सकता। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्'—पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहां धुआं उठ रहा है। यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः'—जहां-जहाँ अग्नि है, वहां वहा धूम है, यह सर्वथा सत्य नही, क्योंकि निर्धूम पावक मे धूम नही होता। अतः यह सम्भव है कि स्वाध्यायादि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जा सके, परन्तु निश्चय ही स्वाध्याय आत्मोपलब्धि का कारण होगा, यह नही कहा जा सकता। प्रत्युत अनुभवी व्यक्तियों ने तो यहां तक कह दिया है कि 'शास्त्रों की उस अपार शब्द-राशि को पढ़ने से क्या शिवपुर मिलता है; अरे! तालु को सुखा देने वाले उस शुक-पाठ से क्या? एक ही अक्षर को स्वपर-भेद-विज्ञान बुद्धि से पढ़, जिससे मोक्ष प्राप्ति सुलभ हो।'

> "बहुयइं पठियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
> एक्कुजि अक्खर तं पठहु शिवपुर गम्मइ जेण॥"
> हलवु ओदिदरेनायतु गिरिय सुत्तिदरेनायतु।
> पिरिद लांछन तोहरेनायतु, निजपरमात्मन्—
> ध्यानवनरियदे नरिकूगि बललो सत्तंते॥'

—रत्नाकर (कन्नड कवि)

—बहुत अध्ययन करने, तीर्थक्षेत्र (पर्वतादि) की प्रदक्षिणा करने तथा धर्म विशेष के चिह्न धारण करने से क्या? यदि स्वपरमात्मभाव का ध्यान नही किया तो उसके अभाव में ये बाह्य रूपक वृक के अरण्यरोदन के समान ही हैं।

□□□

# भारतीय प्रमाण-शास्त्र के विकास में जैन परम्परा का योगदान

☐ मुनि श्री नथमल

विचार-स्वातंत्र्य की दृष्टि से अनेक परम्पराओं का होना अपेक्षित है और विचार विकास की दृष्टि से भी वह कम अपेक्षित नहीं है। भारतीय तत्व-चिंतन की दो प्रमुख धाराएं हैं—श्रमण और वैदिक। दोनों ने सत्य की खोज का प्रयत्न किया है, तत्व चिंतन की परम्परा को गतिमान बनाया है। दोनों के वैचारिक विनिमय और संक्रमण से भारतीय प्रमाण शास्त्र का कलेवर उचित हुआ है। उसमें कुछ सामान्य तत्व है और कुछ विशिष्ट। जैन परम्परा के जो मौलिक और विशिष्ट तत्व हैं, उसकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। जैन मनीषियो ने तत्व-चिंतन में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया। उनका तत्व-चिंतन स्याद्वाद की भाषा मे प्रस्तुत हुआ। उसकी दो निष्पत्तियां हुई—सापेक्षता और समन्वय। सापेक्षता का सिद्धान्त यह है—इस विराट विश्व को सापेक्षता के द्वारा ही समझा जा सकता है और सापेक्षता के द्वारा ही उसकी व्याख्या की जा सकती है। इस विश्व मे अनेक द्रव्य है और प्रत्येक द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक है। द्रव्यों में परस्पर नाना प्रकार के सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से प्रभावित होते है। अनेक परिस्थितियां है और अनेक घटनाएं घटित होती है। इस सबकी व्याख्या सापेक्ष दृष्टिकोण से किए बिना विसंगतियों का परिहार नहीं किया जा सकता।

सापेक्षता का सिद्धान्त समग्रता का सिद्धान्त है। वह समग्रता के सन्दर्भ मे ही प्रतिपादित होता है। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य के एक धर्म का प्रतिपादन किया जाता है, तब उसके साथ 'स्याद्' शब्द जुड़ा रहता है। वह इस तथ्य का सूचक होता है कि जिस धर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह समग्र नही है। हम समग्रता को एक साथ नही जान सकते। हमारा ज्ञान इतना विकसित नही है कि हम समग्रता को एक साथ जान सकें। हम उसे खण्डों मे जानते है, किन्तु सापेक्षता का सिद्धान्त खण्ड की पृष्ठभूमि में रही हुई अखण्डता से हमें अनभिज्ञ नहीं होने देता। निरपेक्ष सत्य की बात करने वाले इस वास्तविकता को भुला देते है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वत्व में निरपेक्ष है किन्तु सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य मे कोई भी द्रव्य निरपेक्ष नही है।

व्याप्ति या अविनाभाव के नियमों का निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त पर ही होता है। स्थूल जगत् के नियम सूक्ष्म जगत् मे खण्डित हो जाते है। इसलिए विश्व की व्याख्या दो नयों से की गई। वास्तविक या सूक्ष्म सत्य की व्याख्या निश्चय नय से और स्थूल जगत् या दृश्य सत्य की व्याख्या व्यवहार नय से की गई। आत्मा कर्म का कर्ता है—यह सभी आस्तिक दर्शनों की स्वीकृति है, किन्तु यह स्थूल सत्य है और यह व्यवहार नय की भाषा है। निश्चय नय की भाषा यह नहीं हो सकती। वास्तविक सत्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्ता होता है। आत्मा का स्वभाव चैतन्य है, अतः वह चैतन्य-पर्याय का ही कर्ता हो सकता है। कर्म पौद्गलिक होने के कारण विभाव है, विजातीय हैं। इसलिए आत्मा उनका कर्ता नही हो सकता। यदि आत्मा उनका कर्ता हो तो कर्म-चक्र से कभी मुक्त नहीं हो सकता। अतः 'आत्मा कर्म का कर्ता है' यह भाषा व्यवहारसापेक्ष भाषा है।

हम किसी को हल्का मानते है और किसी को भारी, किन्तु हल्कापन और भारीपन देश-सापेक्ष है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में एक वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा हल्की या भारी होती है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा का अतिक्रमण करने पर वस्तु भारहीन हो जाती है।

हम वस्तु की व्याख्या लंबाई और चौड़ाई के रूप मे करते है। मूर्त वस्तु के लिए यह व्याख्या ठीक है। अमूर्त की यह व्याख्या नहीं हो सकती। उसमे लंबाई और चौड़ाई नही है। वह आकाश देश का अवगाहन

करती है पर स्थान नहीं रोकती। अतः लंबाई और चौड़ाई मूर्त-द्रव्य-सापेक्ष है। उष्णता के रूप में विद्यमान ऊर्जा को गति में बदल देने पर भी उसकी मात्रा समान रहती है। यह उष्णता गति-विज्ञान (थर्मोडायनेमिक्स) का पहला सिद्धान्त है। इसका दूसरा सिद्धान्त यह है कि किसी यंत्र में निक्षिप्त ऊर्जा की मात्रा में कमी हो जाती है। वह क्रमशः क्षीण होती जाती है। इसलिए किसी ऐसे यंत्र का निर्माण संभव नहीं है जिसमे ऊर्जा का निक्षेप किया जाए और वह उसके द्वारा सदा गतिशील बना रहे। कुछ दार्शनिकों द्वारा यह संभावना व्यक्त की गई है कि हमारे देश और काल में व्यवहार में प्रयुक्त ऊर्जा की अक्षीणता निष्पन्न नहीं हुई है। पर संभव है किसी देश और काल में वह क्षीण न हो और उस देशकाल में यह संभव हो सकता है कि एक बार यंत्र मे ऊर्जा का निक्षेप कर देने पर सदा गतिशील बना रहे। इन कुछ उदाहरणों से हम समझ सकते है कि विशिष्ट देश और काल की व्याप्तियां सर्वत्र लागू नहीं होतीं। इसीलिए उनका निर्धारण सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है।

सांख्यिकी और भौतिक विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या सापेक्षता के सिद्धान्त से की जा सकती है।

स्याद्वाद की दूसरी निष्पत्ति समन्वय है। जैन मनीषियों ने विरोधी धर्मों का एक-साथ होना असभव नहीं माना। उन्होंने अनुभवसिद्ध अनित्यता आदि धर्मों को अस्वीकार नहीं किया, किन्तु नित्यता आदि के साथ उनका समन्वय स्थापित किया। तर्क से स्थापन और तर्क से उसका उत्थापन — इस पद्धति मे तर्क का चक्र चलता रहता है। एक तर्क परम्परा का अभ्युपगम है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है। जो कृतक होता है, वह नित्य होता है, जैसे घड़ा। दूसरी तर्क-परम्परा ने इसका प्रतिवाद किया और वह भी तर्क के आधार पर किया कि शब्द नित्य है, क्योंकि वह अकृतक है। जो अकृतक होता है, वह नित्य होता है, जैसे आकाश। इन दो विरोधी तर्कों में समन्वय को खोजा जा सकता है। विरोध समन्वय का जनक है। शब्द अनित्य है, यह अभ्युपगम इसलिए सत्य है कि एक क्षण में शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनता है और दूसरे क्षण में वह अतीत हो चुकता है। इस परिवर्तन की दृष्टि में शब्द को अनित्य मानना असंगत नहीं है। मीमांसकों ने शब्द के उपादानभूत स्फोट को नित्य माना, वह भी अनुचित नहीं है। भाषा वर्गणा के पुद्गल शब्दरूप में परिणत होते हैं और वे पुद्गल कभी भी अ-पुद्गल नहीं होते। इस अपेक्षा से उनकी नित्यता भी स्थापित की जा सकती है। सापेक्ष सिद्धान्त के अनुसार, वस्तु का निरपेक्ष धर्म सत्य नहीं होता। वे समन्वित हो कर ही सत्य होते हैं। सायण माधवाचार्य ने सर्व-दर्शन संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की। उसमें उन्होंने पूर्व दर्शन का उत्तर दर्शन से खण्डन करवाया है और अन्तिम प्रतिष्ठा वेदान्त को दी है। प्रखर तार्किक मल्लवादी (ई० ४-५ शती) ने द्वादशारनयचक्र की रचना की। उसमे एक दर्शन का प्रस्थापन प्रस्तुत होता है। दूसरा उसका निरसन करता है। दूसरे के प्रस्थापन का तीसरा निरसन करता है। इस प्रकार प्रस्थापन और निरसन का चक्र चलता है। उसमे अन्तिम प्रतिष्ठा किसी दर्शन की नहीं है। सब दर्शनों के नय समन्वित होते है तब सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है। एक एक नय की स्वीकृति मिथ्या है। उन सबकी स्वीकृति सत्य है। इस समन्वय के दृष्टिकोण ने तर्कशास्त्र को वितंडा के वात्याचक्र से मुक्त कर सत्य का स्वस्थ आधार दिया।

जैन प्रमाणशास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है— प्रमाण का वर्गीकरण। प्रत्यक्ष और परोक्ष —इस वर्गीकरण में संकीर्णता का दोष नहीं है। इसमे सब प्रमाणों का समावेश हो जाता है। हम या तो ज्ञेय को साक्षात् जानते है या किसी माध्यम से जानते है। जानने की ये दो पद्धतियां है। इन्हीं के आधार पर प्रमाण के दो मूल विभाग किए गए है। बौद्ध और वैशेषिक तार्किकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान — दो प्रमाण माने तो आगम को उन्हें अनुमान के अन्तर्गत मानना पड़ा और आगम को अनुमान के अन्तर्गत मानना निर्विवाद नहीं है। परोक्ष प्रमाण मे अनुमान, आगम, स्मृति, तर्क आदि सबका

समावेश हो जाता है और किसी का लक्षण सांकर्य दोष से दूषित नहीं होता। इस दृष्टि से प्रमाण का प्रस्तुत वर्गीकरण सर्वग्राही और वास्तविकता पर आधारित है।

इन्द्रिय ज्ञान का व्यापार-क्रम (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा) भी जैन प्रमाणशास्त्र का मौलिक है। मानस-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

तर्कशास्त्र में स्वतः प्रामाण्य का प्रश्न बहुत चर्चित रहा है। जैन तर्क-परम्परा मे स्वतः प्रामाण्य मनुष्य का स्वीकृत है। मनुष्य ही स्वतः प्रमाण होता है, ग्रन्थ स्वतः प्रमाण नही होता। ग्रन्थ के स्वतः प्रामाण्य की अस्वीकृति और मनुष्य के स्वतः प्रामाण्य की स्वीकृति एक बहुत विलक्षण सिद्धान्त है। पूर्व मीमांसा ग्रन्थ का स्वतः प्रामाण्य मानती है, मनुष्य को स्वतः प्रमाण नहीं मानती। उसके अनुसार, मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता और वीतराग हुए बिना कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता और अ-सर्वज्ञ स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। जैन चिंतन के अनुसार, मनुष्य वीतराग हो सकता है और वह केवल ज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ हो सकता है। इसलिए स्वतः प्रमाण मनुष्य ही होता है। उसका वचनात्मक प्रयोग, ग्रन्थ का वाङ्मय भी प्रमाण होता है, किन्तु वह मनुष्य की प्रमाणिकता के कारण प्रमाण होता है, इसलिए वह स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता। पुरुष के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त जैन तर्कशास्त्र की मौलिक देन है। समूची भारतीय तर्क-परम्परा में सर्वज्ञत्व का समर्थन करने वाली जैन परम्परा ही प्रधान है। समूचे भारतीय वांङ्मय में सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए लिखा गया विपुल साहित्य जैन परम्परा में ही मिलेगा। बौद्धों ने बुद्ध को स्वतः प्रमाण मान कर ग्रन्थ को परतः प्रामाण्य माना है। किन्तु वे बुद्ध को धर्मज्ञ मानते हैं, सर्वज्ञ नही मानते। पूर्वमीमांसा के अनुसार, मनुष्य धर्मज्ञ भी नहीं हो सकता। बौद्धों ने इससे आगे प्रस्थपान किया और कहा कि मनुष्य धर्मज्ञ हो सकता है। जैनों का प्रस्थापन इससे आगे है। उन्होंने कहा—मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। कुमारिल ने समन्तभद्र के सर्वज्ञता के सिद्धान्त की कड़ी मीमांसा की है। धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता पर तीखा व्यंग कसा है। उन्होंने लिखा है[१]—

**'दूरं पश्यतु वा मा वा तत्वमिष्टं तु पश्यतु।**
**प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्हे॥'**

'इष्ट तत्त्व को देखने वाला ही हमारे लिए प्रमाण है, फिर वह दूर को देखे या न देखे। यदि दूरदर्शी ही प्रमाण हो तो आइए, हम गीधो की उपासना करें, क्योंकि वे बहुत दूर तक देख लेते हैं।'

सर्वज्ञत्व की मीमासा और उस पर किए व्यंगो का जैन आचार्यों ने स्टीक उत्तर दिया है और लगभग दो हजार वर्ष की लम्बी अवधि में सर्वज्ञत्व का निरंतर समर्थन किया है।

जैन तर्क-परम्परा की देय के साथ-साथ आदेय की चर्चा करना भी अप्रासंगिक नही होगा। जैन तार्किको ने अपनी समसामयिक तार्किक परम्पराओं से कुछ लिया भी है। अनुमान के निरूपण में उन्होंने बौद्ध और नैयायिक तर्क-परम्परा का अनुसरण किया है। उसमे अपना परिमार्जन और परिष्कार किया है तथा उसे जैन परम्परा के अनुरूप ढाला है। बौद्धों ने हेतु क त्रैरूप्य लक्षण माना है, किन्तु जैन तार्किकों ने उल्लेखनीय परिष्कार किया है। हेतु का अन्यथा अनुपपत्ति लक्षण मानकर हेतु के लक्षण में एक विलक्षता प्रदर्शित की है। हेतु के चार प्रकारो की स्वीकृति भी सर्वथा मौलिक है:

१—विधि-साधक विधि हेतु ३—निषेध साधक निषेध हेतु
२—निषेध-साधक विधि हेतु ४—विधि साधक निषेध हेतु

उक्त कुछ निदर्शनों से हम समझ सकते है कि भारतीय चिन्तन मे कोई अवरोध नहीं रहा है। दूसरे के चिन्तन का अपलाप ही करना चाहिए और अपनी मान्यता की पुष्टि ही करनी चाहिए, ऐसी रूढ़ धारणा भी नहीं रही है। आदान और प्रदान की परम्परा प्रचलित रही है। हम संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में इसका दर्शन कर सकते हैं।

**दर्शन और प्रमाण-शास्त्र : नई संभावनाएं**

प्रमाण-शास्त्रीय चर्चा में कुछ नई संभावनाओं पर दृष्टिपात करना असामयिक नहीं होगा। इसमें कोई संदेह

१. प्रमाणवार्तिक १।३४ : हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः।
२. प्रमाणवार्तिक १।३५ : यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदः।

नहीं कि प्रमाण-व्यवस्था या न्यायशास्त्र की विकसित अवस्था ने दर्शन का अभिन्न अंग बनने की प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यह असंदिग्ध है कि उसने दर्शन की धारा को अवरुद्ध किया है, उसे अतीत की व्याख्या मे सीमित किया है। दार्शनिकों की अधिकांश शक्ति तर्क-मीमांसा मे लगने लगी। फलत: निरीक्षण गौण हो गया और तर्क प्रधान। सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव मे नए प्रमेयों की खोज का द्वार बन्द हो गया। सत्य की खोज के तीन साधन है—

१—निरीक्षण

२—अनुमान या तर्क

३—परीक्षण

ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाए है—दर्शन, भौतिक विज्ञान, मनो-विज्ञान वनस्पति विज्ञान—उन सबकी वास्तविकताओ का पता इन्ही साधनों से लगाया जाता है। इन्ही पद्धतियो से हम सत्य को खोजते रहे हैं, जब से हमने सत्य की खोज प्रारम्भ की है।

दर्शन की धारा मे नए-नए प्रमेय खोजे गए है, वे निरीक्षण के द्वारा ही खोजे जा सके है। जब हमारे दार्शनिक निरीक्षण की पद्धति को जानते थे, तब प्रमेयो की खोज हो रही थी। जब तर्क-मीमासा ने बुद्धि की प्रधानता उपस्थित कर दी तर्क का अतिरिक्त मूल्य हो गया, तब निरीक्षण की पद्धति दार्शनिक के हाथ से छूट गई। वह विस्मृति के गर्त मे जा कर लुप्त हो गई। आज किसी को दार्शनिक कहने की अपेक्षा दर्शन का व्याख्याता कहना अधिक उपयुक्त होगा। दार्शनिक वे हुए है जिन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षणो के द्वारा प्रमेयों की खोज की है, स्थापना की है। इन पन्द्रह शताब्दियों मे नए प्रमेयों की खोज या स्थापना नही हुई है, केवल अतीत के दार्शनिकों के द्वारा खोजे गए प्रमेयो की चर्चा हुई है, आलोचना हुई है, खण्डन-मण्डन हुआ है। सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव में इससे अतिरिक्त कुछ होने की आशा भी नही की जा सकती। सूक्ष्म निरीक्षण की एक विशिष्ट प्रक्रिया थी। उसका प्रतिनिधि शब्द है—अतीन्द्रिय ज्ञाता। वर्तमान विज्ञान ने नए प्रमेयों, गुण-धर्मों और सम्बन्धों की खोज की है, उसका कारण भी अतीन्द्रिय ज्ञान है। मैं नही मानता कि आज के वैज्ञानिक ने अतीन्द्रिय ज्ञान की पद्धति विकसित नहीं की है। उसके विकास का मार्ग भिन्न हो सकता है, किन्तु जो तथ्य इन्द्रियो से नही जाने जा सकते, उन्हें जानने के साधन विज्ञान ने उपलब्ध किए है। अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन विषय है— सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट। इन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) तथ्य नहीं जाने जा सकते। आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म का निरीक्षण करता है। तर्क की भाषा में जो चाक्षुष नही है, जिन्हें हम चर्मचक्षु से नहीं देख सकते, उन्हे वह सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र के द्वारा देखता है। इस सूक्ष्मवीक्षण यत्र को मै अतीन्द्रिय उपकरण मानता हू, जो अतीन्द्रिय ज्ञान मे सहायक होता है। जो इन्द्रिय से नहीं देखा जाता, वह उससे देखा जाता है। व्यवहित को जानने के लिए 'एक्सरे' की कोटि के यंत्रों का आविष्कार हुआ है। उनके द्वारा एक वस्तु को पार कर दूसरी वस्तु को देखा जा सकता है। विप्रकृष्ट (दूरस्थ) को जानने के लिए दूरवीक्षण -टेलिस्कोप आदि यंत्रों का विकास हुआ है। जिस अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थ जाने जाते थे वह आत्मिक अतीन्द्रिय ज्ञान वैज्ञानिक को उपलब्ध नही है, किन्तु उसने उन तीनो प्रकार के पदार्थों को जानने के लिए अपेक्षित यांत्रिक उपकरण (सूक्ष्म दृष्टि, पारदर्शी दृष्टि और दूरदृष्टि) विकसित कर लिए है। दार्शनिक के लिए ये तीनों बातें आवश्यक है। दार्शनिक वह हो सकता है जो इन्द्रियातीत सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथ्यों को उपलब्ध कर सके। किन्तु दर्शन के क्षेत्र में आज ऐसी उपलब्धि नही हो रही है। मुझे कहना चाहिए कि तर्क-परम्परा ने जहां कुछ अच्छाइया उत्पन्न की है, वहां कुछ अवरोध भी उत्पन्न किए है। आज हम अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में संदिग्ध हो गए है। जिन क्षणों में अतीन्द्रिय बोध हो सकता है, उन क्षणों का अवसर भी हमने खो दिया है। अतीन्द्रिय-बोध के दो अवसर होते है—

१—किसी समस्या को हम अवचेतन मन मे आरोपित कर देते हैं। कुछ दिनों के लिए उस समस्या पर अवचेतन मन में क्रिया होती रहती है। फिर स्वप्न में हमें उसका समाधान मिल जाता है। एक सम्भावना थी स्वप्नावस्था की, जिसका बीज अर्धजागृत अवस्था मे बोया जाता था, उसका प्रयोग भी आज का दार्शनिक नही कर रहा है। दूसरी संभावना थी निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव

की। जीवन में कोई एक क्षण ऐसा आता है कि हम विचारशून्यता की स्थिति मे चले जाते है। उन क्षणो मे कोई नई स्फुरणा होती है, असभावित और अज्ञात तथ्य संभावित और ज्ञात हो जाते है। ये दो संभावनायें थी, प्राचीन दार्शनिक के सामने। वह उन दोनों का प्रयोग करता था। वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी यत्र-तत्र इन दोनों सम्भावनाओं की चर्चा की है। विकल्पशून्य अवस्था में चेतना के सूक्ष्म स्तर सक्रिय होते है और वे सूक्ष्म सत्यो के समाधान प्रस्तुत करते है। स्वप्नावस्था मे भी स्थूल चेतना निष्क्रिय हो जाती है। उस समय सूक्ष्म चेतना किसी सूक्ष्म तत्त्व से संपर्क करा देती है। मैं नही मानता कि आज के दार्शनिक मे क्षमता नही है। उसकी क्षमता तर्क के परतों के नीचे छिपी हुई है। वह दार्शनिक की अपेक्षा तार्किक अधिक हो गया है। उसके निरीक्षण की क्षमता निष्क्रिय हो गई है। दर्शन की नई संभावनाओ पर विचार करते समय हमे वास्तविकता की विस्मृति नही करनी चाहिए। तर्क को हम अस्वीकार नही कर सकते। दर्शन से उसका सम्बन्ध-विच्छेद नही कर सकते। पर इस सत्य का अनुभव हम कर सकते हैं कि तर्क का स्थान दूसरा है, निरीक्षण और परीक्षण का स्थान पहला। 'अनुमान' मे विद्यमान 'अनु' शब्द इसका सूचक है कि पहले प्रत्यक्ष और फिर तर्क का प्रयोग। तर्क-विद्या का एक नाम 'आन्वीक्षिकी' है। ईक्षण के पश्चात् तर्क हो सकता है, इसीलिए इसे 'आन्वीक्षिकी' कहा जाता है। निरीक्षण या परीक्षण के पश्चात् नियमो का निर्धारण किया जाता है। उन नियमो के आधार पर अनुमान किया जाता है। प्रायोगिक पद्धतियां हमारे लिए अन्तिम निर्णय लेने की स्थिति निर्मित कर देती है। वे स्वयं सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करती। तर्क ही वह साधन है, जिसके आधार पर निरीक्षित तथ्यों से निष्कर्ष निकाले जाते है और उनके आधार पर नियम निर्धारित किये जाते है। इस प्रक्रिया का अनुसरण दर्शन ने किया था और विज्ञान भी कर रहा है। वैज्ञानिकों ने परीक्षण के पश्चात् इस नियम का निर्धारण किया कि ठंडक से सिकुड़न होती है और उष्णता से फैलाव। यह सामान्य नियम सब पर लागू होता है, पर इसका एक अपवाद भी है। चार डिग्री से नीचे तक जल का फैलाव होता है। ठंडा होने पर भी वह सिकुड़ता नही है। यह विशेष नियम है। केवल सामान्य नियमो के आधार पर वास्तविक घटनाओं के बारे में विधानात्मक बात नही कही जा सकती। यह सिद्धात सैद्धातिक विज्ञान, चिकित्सा और कानून तीनो पर लागू होता है। विशेष नियम के आधार पर निर्णयक भविष्य-वाणियां की जा सकती है, जैसे एक वैज्ञानिक जल की चार डिग्री से नीचे की ठडक के आधार पर जल-वाहक पाइप के फट जाने की भविष्यवाणी कर देता है। यह सब तर्क का कार्य है। उसका बहुत बड़ा उपयोग है, फिर भी उसे निरीक्षण का मूल्य नही किया जा सकता। जब निरीक्षण के साक्ष्य हमारे पास नहीं है, तब हम नियमों का निर्धारण किस आधार पर करेंगे और तर्क का उपयोग कहां होगा? दर्शन के जगत् में मैं जिस वास्तविकता की अनिवार्यता का अनुभव कर रहा हूं, वह तीन सूत्रों में प्रस्तुत है :—

१. नए प्रमेयों की गवेषणा और स्थापना।
२. सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति का विकास।
३. सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता (चित्त की निर्मलता) का विकास।

इस विकास के लिए प्रमाणशास्त्र के साथ-साथ योग-शास्त्र, कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान का समन्वित अध्ययन होना चाहिए। इस समन्वित अध्ययन की धारणा मस्तिष्क में नही होती तब तक सूक्ष्म निरीक्षण की बात सफल नही होगी। योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका उपयोग केवल शारीरिक अवस्था तथा मानसिक तनाव मिटाने के लिए ही नही है, हमारी चेतना के सूक्ष्म स्तरो को उद्घाटित करने के लिए उसका बहुत बड़ा मूल्य है। सूक्ष्म सत्यो के साथ संपर्क स्थापित करने का वह एक सफल माध्यम है। महर्षि चरक पौधों के पास जाते और उनके गुण--धर्मों को जान लेते थे। सूक्ष्म यत्र उन्हे उपलब्ध नही थे। वे ध्यानस्थ होकर बैठ जाते और पौधों के गुण-धर्म उनकी चेतना के निर्मल दर्पण मे प्रतिबिम्बित हो जाते। जैन वाङ्मय मे हजारों वर्ष पहले वनस्पति आदि के विषय मे ऐसे अनेक तथ्य निरूपित है जो ध्यान की विशिष्ट भूमिकाओं मे उपलब्ध हुए थे। (शेष पृ० ११५ पर)

# आदिपुराण में राजनीति

☐ डा० रमेशचन्द जैन

आदिपुराण आचार्य जिनसेन का एक ऐसा सुविस्तृत महाकाव्य है जिसका भारतीय वाङ्मय की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। लोक जीवन के लगभग सभी विषयो का समावेश उसमें कथा-माध्यम से हुआ है। उसमे समाजनीति व धर्मनीति के साथ-साथ राजनीति का और प्रकारान्तर से युद्धनीति का भी सागोपांग वर्णन मिलता है।

**राजनीति और उसका महत्त्व**—आदिपुराण में राजनीति के लिए राज्याख्यान[1] और राजविद्या[2] शब्दों का प्रयोग हुआ है। उस देश का यह भाग अमुक राजा के अधीन है अथवा यह अमुक राजा का नगर है, इत्यादि के वर्णन को जैनशास्त्रों मे राज्याख्यान कहा गया है।[3] राजविद्या के परिज्ञान से इहलोक-सम्बन्धी पदार्थों मे बुद्धि दृढ़ हो जाती है।[4] राजर्षि राजविद्याओ द्वारा अपने शत्रु के आवागमन को जान लेता है।[5] राजविद्या आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के भेद से चार प्रकार की होती है।[6] मन्त्रविद्या के द्वारा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की सिद्धि होती है। यह लक्ष्मी का आकर्षण करने में समर्थ है और इससे बड़े-बड़े फल प्राप्त होते है।[7]

**राज्य**—आदिपुराण मे राज्य के लिए जनपद[8], विषय[9] देश[10] तथा राज्य[11] शब्दो का प्रयोग हुआ है। जो राज्य आकार-प्रकार मे अन्य राज्यों से बड़े होते थे वे महादेश[12] कहलाते थे। सिंचाई की अपेक्षा से राज्य के तीन भेद किये जाते थे[13]—१. अदेवमातृक, २. देवमातृक और ३. साधारण। नदी, नहरो आदि से सींचे जाने वाले राज्य अदेवमातृक, वर्षा के जल से सींचे जाने वाले राज्य साधारण कहलाते थे। राज्यो की सीमाओं पर अन्तपालो (सीमारक्षको) के लिए बना दिये जाते थे।[14] राज्य के बीच कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अट्टालक से सुशोभित राजधानी होती थी।[15] राजधानीरूप किले को घेर कर गांव आदि की रचना होती थी।[16] आदिपुराण में ग्रामादि की जो परिभाषाएं हैं, उनके अनुसार जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमे अधिकतर शूद्र और किसान रहते हों तथा जो बगीचे और तालाबों से युक्त हो उसे ग्राम कहते है।[17] जिसमे सौ घर हों उसे निकृष्ट अथवा छोटा गाव कहते है तथा जिसमें पाच सौ घर हों और जिसके किसान धन-सम्पन्न हो उसे बड़ा गांव कहते हैं।[18] सामान्यत: गांव पास-पास बसे होते थे। ये इतने निकट होते थे कि एक गांव का मुर्गा दूसरे गाव आसानी से जा सके। इसी कारण गावों का विशेषण कुक्कुटसम्पात्यान मिलता है।[19] छोटे गाव की सीमा एक कोस की और बड़े गांव की सीमा दो कोस की होती थी।[20] नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, कँटीलवृक्ष, वन और पुल से गांव की सीमा का विभाग किया जाता था।[21] जो परिखा, गोपुर, अट्टाल, कोट और प्राकार मे सुशोभित होता हो, जिसमे अनेक भवन हों, जो बाग और तालाबों से युक्त हो, जिसमे पानी का प्रवाह पूर्वोत्तर दिशा के बीच वाली ईशान दिशा मे हो और जो प्रधान पुरुषो के रहने योग्य हो उसे नगर कहते थे।[22] जो नगर नदी और पर्वत से घिरा होता था उसे खेट और जो पर्वत तथा दो सौ गावों से घिरा होता था उसे खर्वट कहते थे।[23] जो पाच सौ गावों से घिरा होता था उसे मडम्ब कहते थे तथा जो समुद्र के किनारे हो और और जहा पर लोग नावों के द्वारा उतरते हो उसे पत्तन कहते थे।[24] जो नदी के किनारे

---

यहाँ अंकित सब सन्दर्भ आदिपुराण से है।

१. ४.७ — २. ४२.३४, ४१ १३६ — ३. ४.७ — ४. ४२.३४ — ५. ११.८१ — ६. ४१.१३६ — ७. ११.३३ — ८. १६.१६२ — ९. १६.१५७ — १०. १६.१५२ — ११. ३४.५२ — १२. १६.१५१ — १३. १६.१२७ — १४. १६.१६० — १५-१८. १६.१६२-१६५ — १९. २६.१२४ — २०. १६.१६६ — २१. १६.१६७ — २२-२४. १६.१६९-१७३

होता था उसे द्रोणमुख और जहां मस्तक पर्यन्त ऊंचे-ऊंचे धान्य में ढेर लगे रहते थे, वह सवाह कहलाता था।[२५] एक राजधानी में आठ सौ, द्रोणमुख में चार सौ तथा खर्पट मे दो सौ गांव होते थे।[२६] दस गांवों के बीच के बड़े गांव को संग्रह (मण्डी) कहते थे।[२७] जिस राज्य के एक से अधिक व्यक्ति होते थे, वह द्वैराज्य कहलाता था। ऐसे राज्य में स्थिरता नहीं रहती थी। इसीलिए कहा गया है कि राज्य और कुलवती स्त्री का उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है। जो पुरुष इन दोनों का अन्य पुरुषों के साथ उपभोग करता है, वह नर नही, पशु है।[२८]

**राजा की उत्पत्ति और उसका महत्त्व**—भरतक्षेत्र में पहले भोगभूमि थी। उस समय दुष्ट पुरुषों का निग्रह तथा भले पुरुषों के पालन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि लोग निरपराध होते थे।[२९] भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। कर्मभूमि में दण्ड देने वाले राजा का अभाव होने पर प्रजा मत्स्यन्याय का आश्रय लेने लगेगी, अर्थात् बलवान निर्बल को निगल जायेगा। ये लोग दण्ड के भय से कुमार्ग की ओर नहीं जायेंगे, इसीलिए दण्ड देने वाले राजा का होना उचित है और ऐसा राजा ही पृथ्वी को जीत सकता है, ऐसा सोचकर भगवान ऋषभदेव ने कुछ लोगों को दण्डधर राजा बनाया, क्योंकि विभिन्न प्रजा के योग-क्षेम का विचार करना राजाओं का ही कार्य होता है।[३०]

**राज्य के कार्य**—आदिपुराण में राजसत्तात्मक शासन-व्यवस्था का दर्शन होता है। राजतन्त्र में राजा प्रमुख होता है तथा वह सारे कार्यों का नियमन करता है। अतः राजा के कार्यों को राज्य के कार्य कहा जा सकता है। इस दृष्टि से राज्य के निम्नलिखित कार्य माने जा सकते है[३१]—

१. गाव आदि के बसाने और उपभोग करने वालों के लिए नियम बनाना।
२. नई वस्तुओं के निर्माण एवं पुरानी वस्तुओं के रक्षण के उपाय करना।
३. प्रजा-जनों से बेगार लेना।
४. अपराधियों को दण्ड देना।
५. जनता से कर वसूल करना।

**उत्तराधिकार और राज्याभिषेक**—जब राजा किसी कारण विरक्त[३२] हो जाता था तो अपने सुयोग्य पुत्र को राज्यभार सौंप देता था।[३३] सामान्यतः बड़ा पुत्र राज्य का अधिकारी होता था, किन्तु मनुष्यों के अनुराग और उत्साह को देखकर राजा कनिष्ठ पुत्र को भी राजपट्ट बाध देता था।[३४] यदि पुत्र बहुत छोटा हुआ तो राजा उसे राजसिंहासन पर बैठाकर राज्य की सारी व्यवस्था सुयोग्य मन्त्रियों के हाथों मे सौंप देता था।[३५] पिता के साथ-साथ अन्य राजा[३६], अन्तःपुर, पुरोहित तथा नगर-निवासी[३७] भी अभिषेक करते थे। क्रमशः तीर्थजल, कषाय-जल तथा सुगंधित जल से अभिषेक किया जाता था।[३८] नगरनिवासी कमलपत्र से बन हुए द्रोणो और मिट्टी के घड़ों से भी अभिषेक करते थे।[३९] अभिषेक के अनन्तर राजा आशीर्वाद देकर पुत्र को राज्यभार सौंप देता था[४०] और अपने मस्तक का मुकुट उतारकर उत्तराधिकारी को पहना देता था।[४१] चक्रवर्ती के राज्याभिषेक म बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के सम्मिलित होने का उल्लेख है।[४२] पट्टबन्ध की क्रिया मन्त्री और मुकुटबद्ध राजा करते थे।[४३] पट्टबन्ध के समय युवराज राजसिंहासन पर बैठता था। अनेक स्त्रिया उस पर चमर ढुराती थीं[४४] और अनेक प्रकार के आभूषणों से वह देदीप्यमान होता था।[४५] आदिपुराण के सोलहवें पर्व मे राज्याभिषेक की विधि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है।

**राजाओं के भेद**—आदिपुराण मे राजाओ के निम्न-निम्नलिखित भेद बतलाए गये है—

१. चक्रवर्ती—इसके राजराज अधिराट् और सम्राट्

| | | | |
|---|---|---|---|
| २५. वही | २६. १६.१७५-१७६ | ३५. ८.२५४ | ३६. १६.२२४ |
| २७. ३४.४५ | २८. ३४.५२ | ३७. ३७.३ | ३८. १६.२२७-२२८ |
| २९. १६.२५१ | ३०. १६.२५२-२५५ | ३९. १६.१२५ | ४०. ११.४५ |
| ३१. १६.१६८ | ३२. ४.१४४-१५० | ४१. १६.२३२ | ४२. ७.३१८, ६.५६५ |
| ३३. ४.१५१, १४० | ३४. ५.२०७ | ४३-४४. ११.३९-४० | ४५. ११.४४ |

विशेषण भी प्राप्त होते है। यह छः खण्ड का अधिपति[46] और राजर्षियो का नायक सार्वभौम राजा होता है।[47] चौरासी लाख हाथी,[48] चौरासी लाख रथ[49], बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा[50], ३२ हजार देश[51], ६६ हजार रानिया[52], ७२ हजार नगर[53], ६६ करोड गांव[54], ६६ हजार द्रोण-मुख[55], ४८ हजार पत्तन[56], १६ हजार खेट[57], अन्तर्द्वीप[58], १४ हजार सवाह[59], एक लाख करोड़ हल[60], तीन करोड़ व्रज[61], सात सौ कुक्षिवास[62], (जहां रत्नो का व्यापार होता है), अट्ठाईस हजार सघन वन[63], अठारह हजार म्लेच्छ राजा[64] नौ निधियां[65], चौवह रत्न और दस प्रकार के भोगो का वह स्वामी होता है। आदिपुराण के सैंतीसवें पर्व मे उसकी नौ निधियों, चौदह रत्नों तथा अन्य वैभव और दस प्रकार के भोगो का विस्तृत वर्णन है। उसका शरीर वज्रवृषभनाराचसहनन का होता है तथा शरीर पर चौसठ लक्षण होते है।[66]

२. मुकुटबद्ध राजा[67]।

३. मुकुटबद्ध[68] (मौलिबद्ध)[69]।

४. महामाण्डलिक—चार हजार राजाओं का अधि-पति[70]।

५. मण्डलाधिप[71]।

६ अधिराज[72]।

७. भूपाल[73]।

८. नृप[74]।

शत्रु और मित्र की अपेक्षा राजा चार प्रकार के होते है[75] :—

१. शत्रु, २. मित्र, ३. शत्रु का मित्र और ४. मित्र का मित्र। अच्छे मित्र से सब कुछ सिद्ध होता है।[76] शत्रु का कितना ही विश्वास क्यों न किया जाए वह अन्त में शत्रु ही रहता है।[77]

**राजा के कर्तव्य**—न्यायपूर्ण व्यवहार : न्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले राजा को ससार मे यश का लाभ होता है, महान वैभव के साथ-साथ पृथ्वी की प्राप्ति होती है, परलोक मे अभ्युदय की प्राप्ति होती है तथा वह तीनों लोकों को जीतता है।[78] न्याय को धन कहा गया है। न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा (मनोरथों को पूर्ण करने वाली) कामधेनु के समान मानी गई है।[79] न्याय दो प्रकार का है— दुष्टो का निग्रह और शिष्ट पुरुषो का पालन।[80] एक स्थान पर कहा गया है कि धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढाना और योग्य पात्र मे दान देना इन चार प्रकार की प्रवृत्तियो को सज्जनों ने न्याय कहा है। जैन धर्मानुसार प्रवृत्ति करना संसार में सबसे उत्तम न्याय है।[81] अन्यायपूर्वक आचरण करने से राजाओं की वृत्ति का लोप हो जाता है।[82]

**कुलपालन**—कुलाम्नाय की रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण की रक्षा करना कुलपालन कहलाता है।[83] राजाओं को अपने कुल की मर्यादा का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिसे अपने कुल मर्यादा का ज्ञान नही है वह अपने दुराचारों से कुल को दूषित कर सकता है (३८.२७४)। द्वेष रखनेवाला कोई पाखण्डी राजा के सिर पर विषपुष्प रख दे तो उसका नाश हो सकता है। कोई वशीकरण करने के लिए उसके सिर पर वशीकरण-पुष्प रख दे तो यह मूढ़ के समान आचरण करता हुआ दूसरे के वश हो जायेगा। अतः राजा को अन्य मतवालो के शेषाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन आदि का परि-त्याग कर देना चाहिए, अन्यथा उसके कुल की हानि हो सकती है।[84]

---

४६. ३७.२०
४७. ४१.१५५
४८-४९. ३७.२३-२४
५०. ३७.३२
५१-५२. ३७.३३-३६
५३-५८. ३७.६०-६६
५९. ६०.६६
६०. ३७.३८
६१. ३७.६६
६२. ३७.७७
६३-६५. ३७.७१-७३
६६. ३७.२७, ३७.२८
६७. २६.७५
६८. ४४.१०७
६९. ४१.१६
७०. १६.१५७
७१. ३१.६५, ३७.८०
७२. १६.२६२
७३. १४.७०
७४. २०.१०९
७५. ३४.३६
७६. ४३.४१४
७७. ४३.३२२
७८. ३८.२६३
७९. ३८.२६९
८०. ३८.२५९
८१. ४२.१३-१४
८२. ३९.२५८
८३. ४२.५
८४. ४२.२१-२३

**मत्यनुपालन**—राजाओं को वृद्ध मनुष्यों की संगति-रूपी सम्पदा से इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ज्ञान से अपनी बुद्धि सुसंस्कृत करना चाहिए (३८.२७२)। यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो हित अहित का जानकार न होने से बुद्धिभ्रष्ट हो जाएगा (३८.२७३)। इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थों के हित-अहित के ज्ञान को बुद्धि कहते है।[८५] अविद्या का नाश करने से उस बुद्धि का पालन होता है। मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते है और अतत्त्वों मे तत्त्व-बुद्धि का होना मिथ्या ज्ञान है।[८६]

**आत्मानुपालन**—इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायों से आत्मा की रक्षा करना आत्मा का पालन कहलाता है।[८७] राजा की रक्षा होने पर सबकी रक्षा हो जाती है (३८.२७५)। विष, शस्त्र आदि अपायो से रक्षा करना तो बुद्धिमानों को विदित है; परलोक सम्बन्धी अपायों से रक्षा धर्म के द्वारा ही हो सकती है, क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियों का प्रतिकार है।[८८] धर्म ही अपायों से रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देता है, धर्म ही परलोक मे कल्याण करने वाला है और धर्म से ही इस लोक मे आनन्द प्राप्त होता है।[८९] जिस राज्य के लिए पुत्र तथा सगे भाई भी निरन्तर शत्रुता किया करते है, जिसमे बहुत से अपाय है, वैसा राज्य बुद्धिमान पुरुषो को अवश्य छोड़ देना चाहिए।[९०] मानसिक खेद की बहुलता वाले राज्य मे सुखपूर्वक नहीं रहा जा सकता, क्योंकि निराकुलता ही सुख है। जिसका अन्त अच्छा नही है, जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते है ऐसे राज्य में सुख का लेश भी नही होता। सब ओर से शंकित रहने वाले पुरुष को राज्य मे भारी दुःख बना रहता है, अतः विद्वान् पुरुष को अपथ्य औषधि के समान राज्य का परित्याग कर देना चाहिए और पथ्य भोजन के समान तपश्चरण करना चाहिए। अतः राज्य के विषय मे पहले ही विरक्त होकर भोगोपभोग का त्याग कर दे; यदि वह ऐसा करने मे असमर्थ हो तो अन्त समय में उसे राज्य के आडम्बर का अवश्य त्याग कर देना चाहिए। यदि काल को जानने वाला निमित्तज्ञानी अपने जीवन का अन्त बतला दे अथवा अपने आप ही निर्णय हो जाए तो उस समय से शरीर परित्याग की बुद्धि धारण करे; क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्याग से ही इहलोक में कीर्ति और परलोक में ऐश्वर्य की उपलब्धि होती है।[९१] आत्मा का स्वरूप न जानने वाला जो क्षत्रिय अपनी आत्मा की रक्षा नही करता उसकी विष, शस्त्र आदि से अवश्य ही अपमृत्यु होती है अथवा शत्रुगण तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित सेवकों से उसका अवश्य ही बिनाश होता है और अपमृत्यु से मरा प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाई से पार होने योग्य इस संसाररूपी आवर्त में पड़कर दुर्गतियों का पात्र होता है।[९२]

**प्रजापालन** - जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर प्रयत्नपूर्वक गायो की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा का रक्षण करना चाहिए।[९३] उसके रक्षण कार्य की कुछ रीतियां निम्नलिखित है, जिन्हे ग्वाले के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है :—

**१. अनुरूप दण्ड**—यदि गायो के समूह में से कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वाला अंगच्छेदन आदि कठोर दण्ड न देकर अनुरूप दण्ड से नियन्त्रित करके उसकी रक्षा ही करता है, उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा की रक्षा करे। कठोर दण्ड देने वाला राजा अपनी प्रजा को अधिक उद्विग्न कर देता है, इसलिए प्रजा उसे छोड़ देती है तथा मन्त्री आदि भी विरक्त हो जाते है।[९४]

**२. मुख्य वर्ग की रक्षा**—जिस प्रकार ग्वाला अपनी गायो के समूह में मुख्य पशुओं के समूह की रक्षा करता हुआ पुष्ट (सम्पत्तिवान्) होता है; क्योंकि गायों की रक्षा करके ही वह विशाल गोधन का स्वामी हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्ग की प्रमुख रूप से रक्षा करता हुआ अपने और दूसरे के राज्य में पुष्टि को प्राप्त होता है।[९५] जो राजा अपने मुख्य बल से पुष्ट होता है वह बिना किसी यत्न के समुद्रान्त पृथ्वी को जीत लेता है।[९६]

**३. घायल और मृत सैनिकों की रक्षा**—यदि प्रमाद

८५-८६. ४२.३१-३२ ८७. ४२.११३ ९२. ४२.१३४-१३५, ३८.२७६
८८-८९. ४२.११४-११६ ९०-९१. ४२.११८, ११९-२४ ९३-९४. ४२.१३९-१४२ ९५-९६. ४२.१४३-१४५

से किसी गाय का पैर टूट जाए तो ग्वाला उपचार आदि से उस पैर को जोड़ता है, गाय को बांधकर रखता है, बँधी हुई गाय को तृण देता है और उसके पैर को मजबूत करने का प्रयत्न करता है तथा पशुओं पर अन्य उपद्रव आने पर भी वह उसका शीघ्र प्रतिकार करता है। इसी प्रकार, राजा भी अपनी सेना में घायल योद्धा को उत्तम वैद्य से औषधि दिलाकर उसकी विपत्ति का प्रतिकार करे और वह वीर जब स्वस्थ हो जाए तो उसकी आजीविका की व्यवस्था करे। ऐसा करने से भृत्यवर्ग सदा सन्तुष्ट रहता है। जैसे ग्वाला गांठ से गाय की हड्डी के विचलित हो जाने पर उस हड्डी को वही जमाता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है, वैसे ही राजा को भी संग्राम मे किसी मुख्य भृत्य के मर जाने पर उसके पद पर उसके पुत्र अथवा भाई को नियुक्त करना चाहिए। ऐसा करने से भृत्यगण राजा को कृतज्ञ मानकर अनुराग करने लगते है और अवसर पडने पर निरन्तर युद्ध करते रहते हैं।[९७]

**४. सेवकों की दरिद्रता का निवारण तथा सम्मान**—जैसे गायो के समूह को कोई कीड़ा काट लेता है तो ग्वाला योग्य औषधि देकर उसका प्रतिकार करता है, वैसे ही राजा भी अपने सेवक को दरिद्र अथवा खेदखिन्न जान उसके चित्त को सन्तुष्ट करे। जिस सेवक को उचित आजीविका प्राप्त नही होती है वह अपने स्वामी के इस प्रकार के अपमान से विरक्त हो जाएगा, अतः राजा कभी अपने सेवक को विरक्त न करे। सेवक की दरिद्रता को घाव मे कीड़े उत्पन्न होने के समान जानकर राजा को शीघ्र उसका प्रतिकार करना चाहिए। सेवको को अपने स्वामी से उचित सम्मान प्राप्त कर जैसा सन्तोष होता है वैसा सन्तोष बहुत धन देने पर भी नही होता है। जैसे ग्वाला अपने पशुओं के झुण्ड मे किसी बड़े बैल को अधिक भार वहन करने में समर्थ जानकर उसके शरीर की पुष्टि के लिए नाक मे तेल आदि डालता है वैसे ही राजा भी अपनी सेना मे किसी योद्धा को अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सम्मानित करे। जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करने वाले वीर पुरुष को उसके योग्य सत्कारों मे सन्तुष्ट रखता है उसके भृत्य सदा उस पर अनुरक्त रहते है और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते।[९८]

**५. योग्य स्थान पर नियुक्ति**—ग्वाला अपने पशुओं के समूह को काँटों और पत्थरों से रहित तथा सर्दी-गर्मी की बाधा से शून्य वन मे चराता हुआ प्रयत्नपूर्वक उनका पोषण करता है। इसी प्रकार, राजा को भी अपने सेवकों को किसी उपद्रवहीन स्थान मे रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। यदि वह ऐसा नही करेगा तो राज्य आदि का परिवर्तन होने पर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा उसके इन सेवको को पीड़ा देने लगेंगे।

**६. कण्टकशोधन**—राजा को चाहिए कि वह चोर, आदि की आजीविका बलात् नष्ट कर दें; क्योंकि काटों के दूर करने से ही प्रजा का कल्याण संभव है।[१००]

**७. सेवकों की आजीविका**—जैसे ग्वाला नवजात बछड़े को एक दिन तक माता के साथ रखता है, दूसरे दिन दयायुक्त हो उसके पैर मे धीरे-से रस्सी बांधकर खूंटी से बाँधता है, उसकी जरायु तथा नाभि के नाल को बड़े यत्न से दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होने की शका होने पर उसका प्रतिकार करता है और दूध पिलाकर उसे प्रतिदिन बढ़ाता है, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि वह आजीविका के हेतु अपनी सेवा मे आगत सेवक को उसके योग्य आदर-सम्मान से सन्तुष्ट करे और जिन्हें स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिए क्लेश सहन करते है, ऐसे सेवको की प्रशस्त आजीविका आदि का विचार कर उनके साथ योग-क्षेम का प्रयत्न करे।[१०१]

**८. योग्य पुरुषों की नियुक्ति**—शकुन आदि का निश्चय करने मे तत्पर ग्वाला जब पशुओं को खरीदने के लिए तैयार होता है तब वह (दूध आदि की) परीक्षा कर उपयुक्त पशु खरीदता है, उसी प्रकार राजा को भी परीक्षा किए हुए उच्चकुलीन सेवकों को प्राप्त करना चाहिए और आजीविका के मूल्य से खरीदे हुए उन सेवकों को समयानुसार योग्य कार्यों मे लगा देना चाहिए, क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार पशुओ के खरीदने मे किसी को प्रतिभू (साक्षी) बनाया जाता है, उसी प्रकार सेवको के सग्रह में

९७. ४२.१४६-१५२ ९८. ४२.१५३.१६० ९९-१००. ४२.१६१-१६६ १०१. ४२.१६१-१६६

किसी बलवान पुरुष को प्रतिभू बनाना चाहिए।[१०२]

**६. कृषि कार्यों में योग**—जैसे ग्वाला प्रहरमात्र रात्रि शेष रहने पर उठकर जहां बहुत घास और पानी होता है, ऐसे किसी योग्य स्थान मे गायों को प्रयत्नपूर्वक चराता है तथा सबेरे ही वापिस लाकर बछड़े के पीने से बचे हुए दूध को मक्खन आदि प्राप्त करने की इच्छा से दुह लेता है, उसी प्रकार राजा को भी आलस्यरहित होकर अपने अधीन ग्रामों मे बीज देने आदि उपायों द्वारा किसानों से खेती करानी चाहिए। वह अपने समस्त देश में किसानों द्वारा भली भाँति खेती कराकर धान्य का संग्रह करने के लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश ले। ऐसा होने से उसके भंडार आदि मे बहुत-सी सम्पदा इकट्ठी हो जाएगी। उससे उसका बल बढ़ेगा तथा सन्तुष्ट करने वाले उन धान्यों से उनका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली होगा।[१०३]

**१०. अक्षरम्लेच्छों को वश में करना**—अपने आश्रित स्थानो पर प्रजा को दुःख देने वाले जो अक्षरम्लेच्छ है, उन्हें कुलशुद्धि प्रदान करने आदि उपायों से अपने अधीन करना चाहिए। अपने राजा से सत्कार पाकर वे फिर उपद्रव नही करेंगे। यदि राजाओं से उन्हें सम्मान प्राप्त नही होगा तो वे प्रतिदिन कुछ न कुछ उपद्रव करते रहेगे।[१०४] जो अक्षरम्लेच्छ अपने ही देश मे सचार करते हो, उनसे राजा को कृषको की तरह कर अवश्य लेना चाहिए।[१०५] जो अज्ञान के बल पर अक्षरों द्वारा उत्पन्न अहकार को धारण करते है, पापसूत्रो से आजीविका चलाते है वे अक्षरम्लेच्छ है। हिंसा करना, मास खाने में रुचि रखना, बलपूर्वक दूसरे का धन अपहरण करना और धूर्तता ही म्लेच्छो का आचार है।[१०६]

**११. प्रजारक्षण**—राजा को तृण के समान तुच्छ पुरुष का भी रक्षण करना चाहिए (४४.४५)। जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधन की व्याघ्र, चोर आदि के आतंक से रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा का रक्षण करना चाहिए। जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओं के देखने की इच्छा से राजा के आने पर भेंट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदा के द्वारा उसे सन्तुष्ट करता है, उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्य के सम्मुख आए तो वृद्ध लोगों के साथ विचार कर उसे कुछ देकर उसके साथ संधि कर लेनी चाहिए। चूंकि युद्ध बहुत से लोगो के विनाश का कारण है, उससे बहुत हानि होती है और उसका भविष्य भी बुरा होता है, अतः कुछ देकर बलवान शत्रु के साथ संधि करना उपयुक्त है।[१०७]

**१२. सामंजस्य-धर्म का पालन**—राजा अपने चित्त का समाधान कर जो दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करता है वही उसका सामञ्जस्य गुण कहलाता है। जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र का निग्रह करता है, जो किसी का पक्षपात नही करता, जो दुष्ट और मित्र सभी को निरपराध बनाने की इच्छा करता है और इस प्रकार माध्यस्थ भाव रखकर जो सब पर समान दृष्टि रखता है वह समंजस कहलाता है। प्रजा को विषम दृष्टि से न देखना तथा सब पर समान दृष्टि रखना सामञ्जस्य धर्म है। इस समजतत्व गुण से ही राजा को न्यायपूर्वक आजीविका चलाने वाले शिष्ट पुरुषों का पालन और अपराध करने वाले दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिए। जो पुरुष हिंसादि दोषो मे तत्पर रहकर पाप करते हैं, वे दुष्ट हैं और जो क्षमा, सन्तोष आदि के द्वारा धर्म धारण करने मे तत्पर है, वे शिष्ट है।[१०८]

**१३. दुराचार का निषेध**—दुराचार का निषेध करने से धर्म, अर्थ और काम तीनों की वृद्धि होती है, क्योकि कारण के विद्यमान होने पर कार्य की हानि नही देखी जाती।[१०९]

**१४. लोकापवाद का भय**—राजा को लोकापवाद से डरते हुए कार्य करना चाहिए, क्योकि लोक यश ही स्थिर रहने वाला है, सम्पत्ति तो विनाशशील है[११०]।

इस प्रकार हम देखते है कि आदिपुराण मे विस्तार-पूर्वक राज्यधर्म या राजा के कर्तव्यो का वर्णन किया गया है। नवीं शताब्दी के इस आदिपुराण में वर्णित राज्यधर्म के आदर्श वर्तमानकालीन लोकतत्र के लिए भी बड़े उपयोगी हैं। □□

१०२. ४२.१७०-१७३ १०३. ४२.१७४-१७८ १०७. १९३-१९६ १०८. ४२.१९९-२०३
१०४-१०५. ४२.१७९-१८१ १०६. ४२.१८३-१८४ १०९. ४४.९६ ११०. ३४.२६

# कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमाएं

□ श्री शिवकुमार नामदेव

कारीतलाई, मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले की मुड़वारा तहसील से २९ मील उत्तर-पूर्व मे कैमूर की पूर्वीय पर्वतमालाओं मे स्थित है। प्राचीन काल में यह स्थान कर्णपुर के नाम से विख्यात था। यहां से उपलब्ध बहुसंख्यक हिन्दू, जैन एवं बौद्ध प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी हैं कि यहां हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों के साथ-साथ जैन-धर्म का भी व्यापक प्रचार रहा है।

कारीतलाई से प्राप्त जैन द्विमूर्तिका प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इनमें से प्रत्येक में दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में है। उनकी दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित है। इन द्विमूर्तिका प्रतिमाओं में तीर्थंकर के साथ अष्टप्रातिहार्यों के अतिरिक्त तीर्थंकर का लांछन एवं उनके शासन देवताओं की भी मूर्तियां हैं। जहां तक प्रतिमा द्रव्य का प्रश्न है, अधिकांश प्रतिमायें श्वेत बलुआ पाषाण की हैं।

**ऋषभनाथ एवं अजितनाथ**

भगवान् ऋषभनाथ एवं अजितनाथ की यह प्रतिमा श्वेत बलुआ पाषाण की है और कायोत्सर्गासन में ध्यानस्थ है। प्रथम एव द्वितीय दोनों तीर्थंकरो के मुख तथा हस्त खंडित हो गए है। दोनों के हृदय पर श्रीवत्स चिह्न है तथा प्रभामण्डल भी अलग-अलग है। त्रिछत्र, दुन्दुभिक, हस्ति एव पुष्पवृष्टि करते हुए विद्याधरों का अकन कलात्मक है। दोनों के परिचारक इन्द्र एवं पूजक अलग-अलन है। चौकियों पर सिंहयुग्म अंकित है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ की चौकी पर उनका लांछन वृषभ एवं यक्ष-यक्षी गोमुख तथा चक्रेश्वरी हैं। तीर्थंकर अजितनाथ की चौकी पर हस्ति एवं यक्ष-यक्षी महायक्ष तथा रोहिणी का अंकन है। प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से उक्त प्रतिमा का काल दसवीं शती ई० ज्ञात होता है। प्रतिमा ३'.७" ऊंची है।

**अजितनाथ एवं संभवनाथ**

द्वितीय जैन तीर्थंकर अजितनाथ एव तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ की इस ४'.७" ऊँची द्विमूर्तिका में दोनों तीर्थंकर कायोत्सर्गासन में स्थित हैं। दोनों के हाथ एव मस्तक खण्डित है। उनके मस्तक के पीछे प्रभामण्डल, एक-एक छत्र, एक-एक दुंदुभिक, हाथियों के युग्म एवं पुष्पमालायें लिए विद्याधर अंकित हैं। उनके अलग-अलग परिचारक के रूप में सौधर्म और ईशान चन्द्र चंवर धारण किये खड़े हैं। तीर्थकरों के चरणों के निकट भक्तजन उनकी अर्चा करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। तीर्थंकरों को अलग-अलग पादपीठ पर खड़े हुए दिखलाया गया है। अजितनाथ के पादपीठ पर हस्ति एवं संभवनाथ के पादपीठ पर वानर अंकित हैं। दोनो के साथ उनके यक्ष-यक्षी क्रमशः महायक्ष एवं रोहिणी तथा त्रिमुख एवं प्रज्ञप्ति हैं। चौकी पर सिंहों के जोड़े एवं धर्मचक्र है। प्रतिमा दसवीं शती की है।

**पुष्पदंत एवं शीतलनाथ**

३'.७" ऊँची, श्वेत बलुआ पाषाण की इस द्विमूर्तिका में नवें एवं दसवें तीर्थंकर पुष्पदन्त एवं शीतलनाथ कायोत्सर्गासन में ध्यानस्थ हैं। पुष्पदंत का दक्षिण एवं शीतलनाथ का वामहस्त खण्डित है। चौकियों पर उनके लांछन क्रमशः मकर एवं श्रीवत्स बने है। पुष्पदंत का यक्ष अभिजित एवं यक्षी महाकाली तथा शीतलनाथ का यक्ष ब्रह्म एवं यक्षी मानवी अंकित हैं।

**धर्मनाथ एवं शांतिनाथ**

महंत घासीराम स्मारक संग्रहालय, रायपुर (क्रमांक २५३१) में संरक्षित ३'.७" ऊँची दसवीं सदी में निर्मित इस द्विमूर्तिका में १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ एवं सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ कायोत्सर्गासन में हैं। धर्मनाथ की चौकी पर उनका लांछन वज्र एवं शांतिनाथ की चौकी पर उनका लांछन मृग उत्कीर्ण है। धर्मनाथ के यक्ष

किन्नर एवं यक्षी मानसी तथा शांतिनाथ के यक्ष गरुड और यक्षी महामानसी प्रतिमा के साथ अंकित है।

**मल्लिनाथ एवं मुनिसुव्रतनाथ**

इस द्विमूर्तिका में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ एव बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ कायोत्सर्ग आसन मे ध्यानस्थ है। दोनों के हृदय पर श्रीवत्स अकित है। केश घुंघराले और कर्णलोर लंबी है। दोनों के परिचारक अलग-अलग है। मल्लिनाथ का दक्षिण एवं मुनिसुव्रतनाथ का वाम हस्त खण्डित है। अलग-अलग चारण, चौकियों पर लटकती हुई झूल पर कलश एवं कच्छप चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते है। मल्लिनाथ की चौकी पर उनका यक्ष कुबेर और यक्षी अपराजिता तथा मुनिसुव्रतनाथ की चौकी पर उनके यक्ष वरुण और यक्षी बहुरूपिणी ललितासन में स्थित है।

**पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ**

पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ की यह द्विमूर्तिका भी संभवतः कारीतलाई से उपलब्ध हुई है। सम्प्रति यह प्रतिमा फिलाडेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट मे सरक्षित है। कृष्ण-बादामी बलुआ पाषाण से निर्मित १०वीं सदी की इस द्विमूर्तिका मे पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग आसन मे है। पार्श्वनाथ के मस्तक पर फैले हुए सात फणों का छत्र है। नेमिनाथ का लांछन शंख है। तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों मे भक्त एव चंवर लिए हुए परिचारक है। मस्तक के ऊपर छत्रावलि के दोनों पार्श्वों पर हस्तियों का अकन है।

**अंबिका एव पद्मावती**

रायपुर-संग्रहालय मे किसी एक जैन देवालय के चौखट का खण्ड संरक्षित है। उसकी दाहिनी ओर के अर्ध भाग मे कोई तीर्थंकर पद्मासनस्थ है। उनके दोनों ओर एक-एक तीर्थकर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ हैं। धुर छोर पर मकर एवं पुरुष है। बायी ओर एक विद्याधर अकित है एव नीचे ताख मे अम्बिका एवं पद्मावती एक साथ ललितासन मे है। दोनों देवियां क्रमशः नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की यक्षिणियां हैं। अबिका की गोद में बालक और पद्मावती के मस्तक पर सर्प का फण है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि कारीतलाई से प्राप्त जैन द्विमूर्तिका प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से सुन्दर है। प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर विवेच्य प्रतिमाओं का काल १०वीं-११वीं सदी है। उक्त समयावधि में यह भूभाग मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवंश कलचुरियों के अन्तर्गत था। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये प्रतिमाएँ त्रिपुरी के कलचुरि-नरेशों के काल की है। यद्यपि कलचुरि-नरेश शैवमतानुयायी थे, परन्तु उनके काल मे अन्य धर्मों का भी पर्याप्त प्रभाव था, जो उनकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है।

**प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन**

जैन प्रतिमाओं में तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण अति प्राचीनकाल से होता रहा है। तीर्थंकर प्रतिमाओं में साम्य होने पर भी उन्हे उनके लांछन, वर्ण, शासनदेवता एवं केवलवृक्ष के आधार पर अलग-अलग समझा जा सकता है।

प्रायः सभी प्रतिमाशास्त्रीय ग्रथों में तीर्थंकरों के लांछन के विषय में मतैक्य है, परन्तु शासन देव-देवियों आदि के विषय में मतैक्य नही है। कारीतलाई से प्राप्त ऋषभनाथ एवं अजितनाथ की द्विमूर्तिका में ऋषभनाथ के यक्ष-यक्षी गोमुख एवं चक्रेश्वरी उत्कीर्ण है। यद्यपि अधिकाश ग्रथों जैसे रूपमण्डन, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोश, दिगम्बर जैन आइकोनोग्राफी (बर्जेश) एव हरिवंशपुराण के अनुसार ऋषभनाथ का शासनदेव गोमुख बतलाया गया है, किन्तु अपराजितपृच्छा एवं वास्तुसार के अनुसार वह वृषवक्त्र है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि उक्त प्रतिमा के निर्माण का आधार अपराजितपृच्छा एवं वास्तुसार न होकर प्रथम पाच ग्रंथ थे।

कारीतलाई से प्राप्त मूर्ति अंबिका की गोद में बालक एवं पद्मावती के मस्तक पर सर्प-फण है। प्रतिमाशास्त्रीय ग्रथों के अनुसार, अबिका के वर्णन में अन्तर है। रूपमण्डन (६।१६) के अनुसार, अबिका का वर्ण पीत और आयुध नाग-पाश-अंकुश और चतुर्थ हस्त मे पुत्र बताया गया है। अपराजितपृच्छा (२२१-२२) में अंबिका को द्विभुजी और उसका वर्ण हरा बताया गया है। इनके दोनों हाथों में से एक में फल और दूसरा वरमुद्रा में बताया गया है। 'नेमिनाथचरित' (जैन आइकोनोग्राफी, पृ० १४२) में अंबिका के दाहिने हाथ में पुत्र और दूसरे मे अंकुश बताया

गया है। इस प्रकार, हम देखते है कि रूपमडन एव नेमिनाथचरित मे बालक का होना बताया है जो कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमा मे है।

पार्श्वनाथ की यक्षी पद्मावती का वाहन अपराजितपृच्छा के अनुसार कुक्कुट, वास्तुसार के अनुसार सर्प एवं प्रतिष्ठासारोद्धार, अभिधान चिंतामणि, अमरकोश, दिगंबर जैन आइकोनोग्राफी एवं हरिवंशपुराण के अनुसार भैसा बताया गया है। परन्तु कारीतलाई से प्राप्त पद्मावती के मस्तक पर वास्तुसार के ही अनुरूप सर्पफण है।

**प्रतीकशास्त्रीय अध्ययन**

भारतीय मूर्तिकला में प्रतीक के रूप मे पशु-पक्षी, मानव, अर्धदेव, लता, वनस्पति, अचेतन पदार्थ, शस्त्रास्त्र आदि को स्थान दिया गया है। इन प्रतीकों के अध्ययन से भारतीय कला के अनेक रूपों को समझा जा सकता है। प्रत्येक प्रतीक के पूर्व और अग्रिम इतिहास को जाने बिना भारतीय कला का मर्म एवं अर्थ समझना कठिन है।

देवी और देवताओ की प्रतिमाओ का लक्षण निश्चित करते समय धार्मिक प्रतीकों की आवश्यकता हुई। इसके लिए धार्मिक आचार्यो और शिल्पियों ने प्राचीन मांगलिक चिह्नों पर ध्यान दिया और उन्हे विभिन्न देवमूर्तियों के लिए स्वीकार किया, जैसे चक्र, सिंह और श्रीवत्स आदि को तीर्थंकर प्रतिमाओं मे। तीर्थकरों के हृदय पर श्रीवत्स अर्थात् चक्रचिह्न रहता है। यह धर्मचक्र है। इनके आसन के नीचे अंकित प्रतीक धारणधर्मा धर्म के प्रतीक है। प्रत्येक जिन की माता ने इनके जन्म के पूर्व स्वप्न मे कुछ-न-कुछ देखा था। यही देखी हुई वस्तु उस जिन का प्रतीक है। प्रत्येक जिन ने किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे केवल-ज्ञान प्राप्त किया था। वह ज्ञानवृक्ष कहलाता है।

उपरिवर्णित ऋषभनाथ एव अजितनाथ की द्विमूर्तिका प्रतिमा में से ऋषभनाथ की चौकी पर उनका लाछन वृषभ अंकित है। वृषभ धर्म का प्रतीक माना जाता है। उनके हृदय पर धर्म का प्रतीक श्रीवत्स अंकित है। दोनों के मस्तक के पीछे लगा हुआ प्रभामण्डल धर्मचक्र का प्रतीक है। यह वेद का कालचक्र है जो काल एवं धर्मचक्र के रूप मे हिन्दू, जैन एव बौद्धधर्म से सम्बद्ध है। दोनों के मस्तक पर तीन छत्रोवाला छत्र है जो त्रिशक्ति या तीन लोक के चक्रवर्तित्व का प्रतीक है। तीर्थकर अजितनाथ की चौकी पर उत्कीर्ण उनका लाछन हस्ति आध्यात्मिक गौरव और वैभव का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रत्येक जिन का लाछन अकित है। प्रतिमा-शास्त्र की दृष्टि से इन लाछनो का विशेष महत्त्व है।

---

(पृष्ठ २१२ का शेषांश)

सूक्ष्म निरीक्षण की पद्धति को विकसित करने के लिए कर्मशास्त्रीय अध्ययन भी बहुत मूल्यवान है। हमारे पौद्गलिक शरीर के भीतर एक कर्म शरीर है। वह सूक्ष्म है। उसकी क्रियायें स्थूल शरीर के प्रतिबिम्बो की सूक्ष्मतम व्याख्या कर सकते है और उनके कार्य-कारण भाव का निर्धारण भी कर सकते है।

मन की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसकी पृष्ठभूमि में रही हुई चेतना के विभिन्न परिवर्तनों और चेतना को प्रभावित करने वाले बाहरी तत्त्वों का अध्ययन कर हम निरीक्षण की क्षमता को नया आयाम दे सकते है।

इस समन्वित अध्ययन की परम्परा को गतिशील बनाने के लिए दार्शनिक को केवल तर्कशास्त्री होना पर्याप्त नहीं है। उसे साधक भी होना होगा। उसे चित्त की निर्मलता भी अर्जित करनी होगी। बहुत सारे वैज्ञानिक भी साधक होते है और वे तपस्वी जैसा निर्मल जीवन जीते है। जो सत्य की खोज मे निरत होते है, उनके मन मे कलुषतायें नही रहती, और यदि वे रहती है तो पग पग पर बाधायें उपस्थित करती है। सत्य की खोज के लिए निरीक्षण पद्धति का विकास आवश्यक है और उसके विकास के लिए चित्त की निर्मलता और एकाग्रता आवश्यक है। आज के वैज्ञानिक वातावरण मे निरीक्षण के द्वारा उपलब्ध प्रमेयो का परीक्षण भी होना चाहिए। विज्ञान को दर्शन का उत्तराधिकार मिला है, अत: दर्शन और विज्ञान मे दूरी का अनुभव क्यों होना चाहिए। निरीक्षण के पश्चात् परीक्षण और फिर तर्क का उपयोग इस प्रकार तीनों पद्धतियो का समन्वित प्रयोग हो तो दर्शन पुन: प्राणवान हो अपने पितृस्थान को प्रतिष्ठापित कर सकता है। इस भूमिका मे न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्र का भी उचित मूल्याकन हो सकेगा।

# कालिदास के काव्यों में अहिंसा और जैनत्व

□ श्री प्रेमचन्द रांवका

संस्कृत वाङ्मय में महाकवि कालिदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा इस महाकवि ने संस्कृत-साहित्य का भण्डार भरकर संस्कृत-जगत् को उपकृत किया और स्वयं भी अमर हो गया। इस अमर कवि के काव्य के माधुर्य-प्रवाह से भारतीयों के सरस हृदय ही परिप्लावित नहीं हुए हैं, अपितु पाश्चात्य पण्डितों के चित्त भी पूर्णरूप से सरसीकृत है।

विद्वान् इतिहासकारों ने कविवर कालिदास का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी—ईसा से लगभग ५०–६० वर्ष पूर्व का माना है। वह सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था। कवि के मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय नाटक इस तथ्य के साक्षी हैं। कालिदास के समय में जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का पर्याप्त प्रभाव था। इस विषय में वागीश्वर विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'कालिदास और उसकी काव्यकला' में लिखा है कि उस समय आर्य लोग प्रकृति की शक्तिरूप अदृश्य परमात्मा, आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास रखते थे। कालान्तर में यज्ञों में धीरे-धीरे पशुहिंसा का समावेश हुआ और जब वह बहुत बढ़ गई तो समाज में उसके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई। उस प्रतिक्रया का एक रूप वह ज्ञान-मार्ग था, जिसकी झाँकी उपनिषदों तथा आस्तिक दर्शनों के चिन्तन में मिलती है। दूसरा रूप अहिंसावादी जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव था। इन धर्मों के आचार्य बड़े प्रतिष्ठित कुलों के क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका व्यक्तित्व आकर्षक एव प्रभावशाली था और उन्होंने अपने प्रचार का माध्यम भी लोक-भाषा को बनाया, अतः उनकी शिक्षायें शीघ्र ही सारे देश में फैल गई।

महाकवि कालिदास शैव होते हुए भी जैनधर्म की शिक्षाओं से बहुत प्रभावित थे। रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तल और कुमारसम्भव आदि कृतियां इस तथ्य की प्रमाण हैं। रघुवंश इस कवि का प्रमुख महाकाव्य है। इस काव्य में राजा रघु का विशेष महत्त्व है। उसी के नाम से आगे चलने वाले वश का नाम रघुवंश पड़ा। उस वंश में उत्पन्न व्यक्ति राघव कहलाये। दिलीप तथा उसकी रानी सुदक्षिणा ने बड़ी साधना तथा व्रत करके रघु-सा पुत्र प्राप्त किया था। दिलीप ने जब अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ा तो उसका रक्षक इस रघु को ही नियुक्त किया। घोड़े को इन्द्र ने हर लिया तो रघु ने उससे भी लोहा लिया और उसके दात खट्टे कर दिए। इन्द्र गुणज्ञ था। वह रघु के पराक्रम से प्रसन्न हुआ और उसने घोड़े के अतिरिक्त कुछ भी मांगने के लिए रघु से कहा। इस पर रघु ने प्रार्थना की कि यदि आप घोड़ा नहीं देना चाहते है तो मेरे पिता को उसके बिना ही अश्वमेध यज्ञ का समग्र फल प्राप्त हो जाए, यह वर दीजिए।

यद्यपि इससे रघु के असाधारण बल-पराक्रम का पता चलता है, किन्तु क्या यह सम्भव नही कि शैव होते हुए भी कवि यज्ञों में होने वाली निरीह पशुओं की निर्मम हत्या को पसन्द नही करता? इसीलिए नायक की प्रतिष्ठा के साथ उसने अपनी अहिंसात्मक भावना को भी प्रकाशित करना अभीष्ट समझा।

कवि ने रघुवश के दूसरे सर्ग मे भी सिंह वाले प्रसग की रचना कर एक गाय (कामधेनु) की रक्षा के लिए दिलीप को अपनी देह प्रस्तुत करने के लिए उद्यत दिखलाया है। रघुवश के ही पांचवे सर्ग में हम पढते है कि स्वयंवर मे भाग लेने के लिए रघु का पुत्र अज विदर्भ जा रहा था। रास्ते मे उसके पड़ाव पर एक जगली हाथी टूट पड़ा। 'हाथी मर न जाए' इस बात का विचार कर, केवल उसे डराने के उद्देश्य से अज ने एक साधारण-सा तीर उस पर छोड़ा। तीर के लगने मात्र से हाथी गन्धर्व का रूप धारण कर अज के सम्मुख उपस्थित हो गया और बोला कि मैं प्रियवद नामक गन्धर्व हूं, जो मातङ्ग नामक ऋषि के शाप से हाथी बन गया था। तुमने क्षत्रिय के कर्तव्य का पालन करते हुए भी दया नहीं छोड़ी और मेरे प्राण नही लिए। अतः मैं आज से तुम्हारा मित्र हूं और इस मित्रता को स्मरणीय बनाने के लिए

तुम्हें यह सम्मोहन नामक अस्त्र देता हू जो बिना हिंसा किए शत्रुओं को पराजित करने वाला है —

**सम्मोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।**
**गांधर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्त ।।**

—रघु० ५.५७

इसी प्रकार, रघुवंश के सातवें सर्ग में अज ने अपने शत्रुओं पर उस सम्मोहन अस्त्र का प्रयोग कर उन्हें हरा दिया, किन्तु मारा नहीं —

**यशोहृतं सम्प्रति राघवेण न जावितं वः कृपयेतिवर्णा ।**

—रघु० ७.६५

इन सब प्रकरणो से कविवर कालिदास की प्राणिमात्र के प्रति दया व अहिसा की उत्कृष्ट भावना प्रकट होती है ।

यही कारण है कि कविवर कालिदास ने दशरथ के उस शिकार खेलने की निन्दा की है, जिसमे उसके हाथो श्रवणकुमार का वध हो गया था। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल के दूसरे अक मे भी माधव्य के मुख से शिकार खेलने को बुरा ठहराया है —**मन्दोत्साहः कृतोस्मि मृगयापवादिना माधव्येन** । इसी नाटक के छठे अंक में कोतवाल ने मछुवे के व्यवसाय को बुरा कह कर उसका मजाक किया है और फिर उसके मुह से यज्ञ में पशु मारने वाले 'श्रोत्रिय ब्राह्मण' के रूप मे व्यग्य से कटाक्ष किया गया है ।

इससे तो इनकार नही किया जा सकता कि उस समय शिकार खेला जाता था । यज्ञो मे पशु-हिंसा की जाती थी । किन्तु यह सब कालिदास को रुचिकर न था । उस युग मे बलात् ठूसी गई अहिसा के प्रति विद्रोह भावना होने पर भी भारतीय नागरिक के हृदय पर अहिंसा की गहरी छाप अवश्य पड़ गई थी । इसमे आश्चर्य नही कि कवि कालिदास की इस अहिंसा, प्रेम और दया की भावना के अन्तस्तल मे जैनधर्म का प्रभाव अन्तर्निहित है ।

कवि ने अनेक स्थानो पर जैनों के आराध्य 'अर्हन्' शब्द का प्रयोग बड़े आदर पूवक किया है जो इस प्रसंग में विचारणीय है—

१. "**तथाहृतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।**

—रघु० ५.११

२. **स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।**
**द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितं त्वदर्थम् ।।**

—रघु० ५.२५

३. **अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ।** —रघु० १.५५

४. **अद्यप्रभृति भूतानामभिगम्योस्मि शुद्धये ।**
**यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ।।**

—कुमारसम्भव, ६.५६

ये सब तथ्य स्पष्ट करते है कि महाकवि कालिदास अहिंसा-अनुरागी थे और जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्तो मे उनका अपना विश्वास एव आदर था । कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग में पार्वती की कठोर तपस्या का जो सुन्दर चित्रण कवि ने किया है और रघुवंश के आठवें सर्ग के अन्त में अज द्वारा आमरण उपवास करते हुए उसके शरीर-त्याग का जो वर्णन किया है, वह उस समय के समाज पर जैन धर्म के प्रभाव को ही सूचित करता है ।

कालिदास के समय जैन धर्म हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि का विरोधी होते हुए भी सुधारवादी था, क्रान्तिकारी नही । उसने आचार की शुद्धता, कठोर तप एव सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा अपरिग्रह पर विशेष बल दिया समाज मे फैली हुई बुराइयो को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न किया कि उसका यह कार्य किसी को खटका नही; जब कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओ ने तात्कालिक समाज के मूल आधार पर ही कुठाराघात कर दिया, जिससे सब सामाजिक बधन टूट गये । समाज इस अवस्था को अधिक न सह सका और उसके विरोध का परिणाम यह हुआ कि भारत से बौद्ध धर्म बिलकुल ही लुप्त हो गया । जैनधर्म मे दीक्षित होने वालो को खान-पान, रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में कठोर नियमो का पालन करना पड़ता था । अतः अवसरवादी अवाछनीय व्यक्तियों के लिए उसमें कोई आकर्षण न था । इसलिए यद्यपि जैन धर्म का प्रचार उतना अधिक नही हुआ, जितना बौद्ध धर्म का, किन्तु वह आज भी जीवित है तथा भारतीय समाज पर उसका प्रभाव चिरस्थायी है । वर्तमान भारतीय समाज मे जो व्रत-उपवास तथा अहिंसा की परंपरा पाई जाती है उसका बहुत कुछ श्रेय जैनधर्म को ही है ।

□□

# मध्य युग में जैन धर्म और संस्कृति

□ कुमारी रश्मिबाला जैन, एम० ए०, नई दिल्ली

मध्य युग में भक्ति का प्राधान्य रहा। सभी धर्मों में भक्ति के कारण अनेक विकासपथ निर्मित हुए। मध्य काल के साहित्य का स्वर धर्म और भक्ति ही था। उस काल के साहित्य में हमें वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के विकास और परिवर्तन के विविध रूप दृष्टिगोचर होते है। मध्य युग में वैदिक धर्म ने विशेषतया से दार्शनिक क्षेत्र मे प्रवेश किया। प्रभाकर और कुमारिल ने मीमासा के माध्यम से और शंकराचार्य ने वेदान्त के माध्यम मे वैदिक दर्शन का पुनरुत्थान किया। पौराणिक और स्मार्त धर्मो का समन्वयात्मक रूप सामने आया। वैष्णव धर्म विविध शाखाओं और उपसम्प्रदायों मे विभक्त हुआ जिसके अनेक भेद और प्रभेद परिलक्षित होते है जिनका विविध रूपों मे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे प्राबल्य रहा।

मध्य काल तक बौद्ध धर्म देश विदेशों मे हीनयान और महायान के रूप मे बट गया था। साधारणतया उत्तर मे महायान और दक्षिण मे हीनयान का जोर था। भारत में इस काल में महायानी परम्परा अधिक फली-फूली। ह्वेनसांग ने इसी काल मे बौद्ध धर्मानुयायी महाराजा हर्षवर्धन के राज्यकाल मे भारत यात्रा की। शाक्त सम्प्रदाय के प्रभाववश उसमे तान्त्रिक साधना के प्रवेश के कारण बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर अप्रिय होता गया।

मध्य युग तक जैन धर्म दो शाखाओं मे विभक्त हो चुका था—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर। इन दोनो परम्पराओं को विकसित होने का पर्याप्त अवसर भी मिला जिससे जैन साहित्य, कला और सस्कृति का पूर्ण रूप से विकास हुआ। उत्तरकालीन आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई०), नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ इसी समय के है तथा इसी काल में गुर्जर-प्रतिहार राजा वत्सराज के राज्य मे उद्योतन सूरि ने ७७८ ई० मे कुवलयमाला, जिनसेन ने स० ७८३ मे हरिवंश पुराण और हरिभद्र सूरि ने समराइच्चकहा आदि ग्रन्थो का निर्माण किया। कला और सस्कृति के क्षेत्र में भी इस काल में उल्लेखनीय प्रगति हुई। दोनो परम्पराओं और उनके आचार्यों को परमार वशी राजाओं ने विशेष राज्याश्रय दिया। अनेक राजा जैन धर्मावलम्बी भी रहे, जिनमें प्रमुख है राजा मुज, राजा भोज तथा राजा नवसाहसांक आदि। इन्होंने ही अनेकानेक जैन कवियों तथा विद्वानों को समुचित आश्रय दिया। उनमे से कवि धनपाल, अमितगति, प्रभाचन्द्र, नयनन्दी, धनञ्जय, आशाधर, माणिकनन्दी तथा महासेन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। हथूडी का राठोर वश जैन धर्म का परम भक्त था तथा इसी वश के आश्रय मे वासुदेव सूरि, शातिभद्र सूरि आदि विद्वान रहे। मेवाड की राजधानी चित्तौड़ जैन धर्म का विशिष्ट केन्द्र थी। ऐलाचार्य, हरिभद्र सूरि, वीरसेन आदि विद्वानों ने यही पर अपने साहित्य का सृजन किया। चित्तौड़ के राजा-महाराजाओ ने अपने महलों के निकट सुविशाल जैन मन्दिरो का निमाण करवाया।

चन्देल वंश के राजा भी जैन धर्म के परम अनुयायी थे। इसी शासनकाल मे खजुराहो के शांतिनाथ दि० जैन मन्दिर मे आदिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा विद्याधर देव ने की। महोबा, देवगढ़, अजयगढ़, अहार, पपोरा, मदनपुरा आदि जैन धर्म के केन्द्र-स्थल थे। ग्वालियर के कच्छपघट राजाओं ने भी जैन धर्म को पूर्ण प्रश्रय दिया।

जैन धर्म के केन्द्र के रूप मे कलिंग राज्य की महत्ता आरम से ही रही है। यद्यपि कलचुरी वश शैव धर्मावलम्बी था तथापि उसने जैन धर्म और कला की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। जैन धर्म के और भी कई केन्द्र थे। उनमें से रामगिरि, जोगीमारा, एलोरा, कारजा, धाराशिव, अचलपुर, कुल्पाद, खनुपद्मदेव आदि प्रमुख है।

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने मे गुजरात का प्रमुख हाथ रहा है। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा जैन

धर्म के प्रति पर्याप्त श्रद्धा रखते थे। गुजरात—अन्हिल-पाटन के सोलंकी वंश ने भी जैन धर्म को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। अमोघवर्ष और कर्क भी जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। राजा जयसिंह ने अन्हिलपाटन को ज्ञान केन्द्र बनाकर आचार्य हेमचन्द्र को उसका कार्यभार सौंपा। इस वंश के भीमदेव प्रथम के मंत्री और सेनानायक विमलशाह ने आबू का कलानिकेतन १०३२ ई० में बनवाया। इसी शासनकाल में हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय काव्य, सिद्धहेम व्याकरण आदि बीसों ग्रन्थ तथा वाग्भट्ट ने अलंकार ग्रंथ की रचना की। कुमारपाल भी निर्विवाद रूप से जैन धर्म का अनुयायी था। कुमारपाल के मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल का सम्बन्ध आबू के सुप्रसिद्ध जैन मन्दिरों से है। उन्होने इन मन्दिरों को बनवाने में विशेष यत्न किया।

दक्षिण में पल्लव राज्य में जैन धर्म थोड़े समय फला-फूला, लेकिन शैव धर्म के प्रभाव से बाद में उसके साहित्य और कला के केन्द्रों को नष्ट कर दिया गया। बाद में, चालुक्य वंश ने जैन साहित्य और कला को लोकप्रिय बनाया। महाकवि जोइन्दु, अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि, रविषेण, पद्मनन्दि, धनञ्जय, आर्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, परवादिमल्ल आदि प्रसिद्ध जैनाचार्य इस काल में हुए है जिन्होंने जैन साहित्य का सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त कन्नड, तमिल आदि भाषाओं मे निर्माण किया। इसी समय में चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोल में ६७८ ई० में गोम्मटेश्वर बाहुबली की सुविशाल प्रतिमा निर्मित करायी।

बंगाल में जैन धर्म का अस्तित्व ११-१२वी शती तक विशेष रहा है। बंगाल मे पाल वंश का साम्राज्य रहा। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसके राजा देवपाल ने जैन धर्म के कलाकेन्द्र नष्ट-भ्रष्ट किये। सिन्ध, काश्मीर, नेपाल आदि प्रदेशो मे भी जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार था।

राष्ट्रकूट वंश ने जैन धर्म को विशेष आश्रय दिया। इसी समय में गुणभद्र, महावीराचार्य, स्वयभू, जिनसेन, वीरसेन, पाल्यकीर्ति आदि ने प्रचुर जैन साहित्य की रचना की। कल्याणी के कल्चुरीकाल मे वासव ने शैव धर्म की कुछ परम्पराओं और जैन धर्म के सिद्धांतों का मिश्रण कर १२वीं शती में लिंगायत धर्म की स्थापना की। उन्होंने जैनों पर कठोर अत्याचार किये तथा बाद में वैष्णवो ने भी जैनों के ग्रंथालयो और मन्दिरों को जलवाया। इसका फल यह हुआ कि अधिकांश जैन धर्मावलम्बी धर्म परिवर्तन कर शैव और वैष्णव बन गये।

अरबों, तुर्कों और मुगलों ने भी जैनों पर भीषण अत्याचार किये। उनके भयंकर आक्रमणों का प्रभाव जैन साहित्य और मन्दिरों पर पड़ा। उन्हे भूमिसात् कर दिया गया अथवा मस्जिदो मे परिणत कर दिया गया। इन्ही परिस्थितियो के कारण भट्टारक-प्रथा का उदय और विकास हुआ। इस काल में मूर्ति-पूजा का भी विरोध हुआ। इस काल मे ही लोदी वश के राज्यकाल में तारण स्वामी (१४४८–१५१५ ई०) हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और 'तारण-तरण" पंथ चलाया। आचार्य सकलकीर्ति, ब्रह्मजय सागर आदि विद्वान इसी समय हुए। इसी काल मे प्रबन्धों और चरितों का सरल हिन्दी और संस्कृत में लेखन कर जैन साहित्यकारों ने साहित्य क्षेत्र मे एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया जिसका उत्तरकालीन हिन्दी साहित्य पर काफी प्रभाव पडा। इस समय तक दिल्ली, जयपुर आदि स्थानों पर भट्टारक गद्दियां स्थापित हो चुकी थी। सूरत, भड़ौंच, ईडर आदि अनेक स्थानों पर भी इन भट्टारकीय गद्दियों का निर्माण हो चुका था।

इस परिस्थिति के कारण जैन साहित्य की अपार एवं अपूरणीय हानि हुई, फिर भी अकबर (१५५६–१६०५ ई०)जैसे महान् शासक ने जैनाचार्यों को समुचित सम्मान दिया। इसी समय अध्यात्म शैली के प्रवर्तक बनारसीदास, कवि परमल्ल, ब्रह्म रायमल्ल, रूपचन्द पांडे राममल्ल पांडे आदि हिन्दी के अनेक जैन कवि हुए। साहु टोडरमल अकबर की टकसाल के अध्यक्ष थे। जहांगीर के समय मे भी अनेक जैन हिन्दी काव्यकार हुए जिनमें से ब्रह्मगुलाल, भगवतीदास, सुन्दरदास, रायमल्ल आदि विशेष प्रसिद्ध है। इस काल मे एक ओर जहा जैनेतर कविगण तत्कालीन परिस्थितियो के वश मुगलों और अन्य राजाओं को शृंगार और प्रेम-वासना के सागर में डुबो कर उनकी दूषित वृत्तियों को निखार रहे थे, वही दूसरी ओर जैन

(शेष पृ० १२२ पर)

# शुंग-कुषाणकालीन जैन शिल्पकला

☐ श्री शिवकुमार नामदेव

प्राचीन भारत के शुंग एवं कुषाण दो राजवंशों का कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शुंगों का काल वैदिक धर्म के पुनरुत्थान एव कुषाणों का काल बौद्धधर्म के लिए स्वर्णकाल था। फिर भी दोनों वशों के नरेशों का दृष्टिकोण संकुचित नही था। वे अन्य धर्मों के प्रति भी काफी उदार और सहिष्णु थे। इसी का यह परिणाम था कि उनके काल मे अन्य मतो के साथ जैन धर्म भी उन्नति के शिखर पर था।

शुंगकाल (१८५ ई० पू० से ७२ ई० पू०) यद्यपि ब्राह्मणधर्म के उत्कर्ष का काल था, तथापि इस युग की कलाकृतियों में जैन-अवशेष भी कम संख्या में उपलब्ध नहीं हुए है। शुगकाल मे जैनधर्म के अस्तित्व की द्योतक कतिपय प्रतिमाएं उपलब्ध हुई है। लखनऊ-संग्रहालय[1] में संरक्षित मथुरा से प्राप्त एक फलक पर ऋषभदेव के सम्मुख अप्सरा नीलांजना का नृत्य चित्रित है। इसका दृष्टांत इस प्रकार है—एक दिन, चैत्र कृष्ण नवमी को राजा ऋषभदेव सहस्त्रों नरेशों से घिरे राजसिंहासन पर आरूढ थे। सर्वसुन्दरी अप्सरा नीलांजना का नृत्य चल रहा था। उस मनोहारी नृत्य को देखकर ऋषभदेव सहित समस्त सभासद विमुग्ध थे। तभी अचानक नीलांजना की आयु समाप्त हो गई। उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसके जैसी ही अन्य देवांगना का नृत्य प्रारम्भ करा दिया। यद्यपि यह सब इन्द्र ने इतनी चतुराई एव शीघ्रता से किया कि किसी को पता भी न चल सका, किन्तु यह सब सूक्ष्मदर्शी ऋषभदेव की दृष्टि से ओझल न रह सका। संसार की नश्वरता का विचार आते ही रस फीका पड़ गया और वे वैराग्य के रंग में सराबोर हो गए। उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा लेने का संकल्प किया। चित्रित फलक में अनेक नरेशों सहित ऋषभदेव को बैठे दिखाया गया है। नर्तकी का दक्षिण पैर नृत्य-मुद्रा में उठा हुआ है तथा दक्षिण हस्त भी नृत्य की भगिमा को प्रस्तुत कर रहा है। संगत करनेवाले निकट बैठे है।

प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई मे जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक प्राचीन कांस्य-प्रतिमा है। प्रतिमा खड्गासन मे है। उसके सर्पफणों का वितान एवं दक्षिण कर खंडित है। ओष्ठ मोटे है एव हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित नही है। श्री यू० पी० शाह ने इस प्रतिमा का काल १०० ई० पूर्व के लगभग माना है।

शुंगकालीन कंकाली टीला (मथुरा) से जैन स्तूप के अवशेष मिले है तथा उसी समय के प्रस्तर के पूजापट्ट भी उपलब्ध हुए है, जिन्हे आयागपट्ट कहा जाता था। यह प्रस्तर अलंकृत है तथा आठ मागलिक चिह्नों से युक्त है। पूजा-निमित्त अमोहिनी ने इसे प्रदत्त किया था।

शुंगकालीन कला का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र उड़ीसा प्रदेश में था। जिस समय पश्चिमी भारत में बौद्ध शिल्पी लेणों (गुफाओं) का निर्माण कर रहे थे, लगभग उसी समय कलिंग मे जैन शिल्पी कुछ गुफाओं का उत्खनन कर रहे थे। ये गुफाएं भुवनेश्वर से ५ मील उत्तर-पश्चिम में उदयगिरि और खण्डगिरि नामक पहाड़ियों में बनाई गई हैं। ये गुफाएँ जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। गुफाओं के संरक्षक कलिंग-नरेश खारवेल (ई० पू० २ री सदी) थे। यद्यपि इस काल के शिल्प-विषयक अवशेष उपलब्ध नहीं होते किन्तु खारवेल के लेख से ज्ञात होता है कि वह मगध के नन्द राजा द्वारा कलिंग से ले जाई गई एक जैन मूर्ति को अपनी राजधानी वापस ले आया था। यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे द्वितीय सदी ई० पू० में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

शुंग एव कुषाण-काल मे मथुरा जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र था। ब्राह्मणो एव बौद्धों के समान जैन धर्मानुयायियों ने भी अपने धर्म और कला के केन्द्र स्थापित किए।

---

१. स्टडीज इन जैन आर्ट—यू० पी० शाह, चित्रफलक २, आकृति ५.

२. जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २, पृ० १३.

कंकाली टीले के उत्खनन से बहुसंख्या में मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। ये मूर्तियां किसी काल में मथुरा के दो स्तूपों मे लगी हुई थीं। अर्हत् नंद्यावर्त की एक प्रतिमा जिसका काल ८९ ई० है, इस स्तूप के उत्खनन से प्राप्त हुई है।

यहां से प्राप्त जैन मूर्तियां बौद्ध मूर्तियों के इतनी सदृश हैं कि दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। यदि श्रीवत्स पर ध्यान न दिया जाए तो ऊपरी अंगों की समानता के कारण जैन मूर्ति को बौद्ध एवं बौद्ध मूर्ति को जैन मूर्ति आसानी से कहा जा सकता है। कारण यह था कि कुषाणयुग के प्रारम्भ में कला के क्षेत्र में धार्मिक कट्टरता नहीं थी।

मथुरा से प्राप्त आयागपट्ट कला की दृष्टि से अतीव सुन्दर हैं। जैनधर्म में प्रतीक-पूजा की सतत प्रवाही धारा इनसे सिद्ध होती है और किस प्रकार मूर्ति-पूजा का समन्वय उस धारा के साथ हुआ, यह ज्ञात होता है। आयागपट्ट पूजा-शिलाएं थे। ये जैन-कला की प्राचीनतम कृतियां है।

कुषाण-युग के अनेक कलात्मक उदाहरण मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए हैं। यहां से प्राप्त एक आयागपट्ट[3] पर महास्वस्तिक का चिह्न बना है जिसके मध्य में छत्र, नीचे पद्मासन में तीर्थङ्कर मूर्ति है, उनके चारों ओर स्वस्तिक की चार भुजाएं हैं। तीर्थङ्कर के मण्डल की चारों दिशाओं में चार त्रिरत्न दिखाए गए हैं। महास्वस्तिक की लहराती चार भुजाओं के मोड़ों में भी चार धार्मिक चिह्न मीन-मिथुन, वैजयंती, स्वस्तिक एवं श्रीवत्स हैं। स्वस्तिक के बाहर मण्डल में वेदिकान्तर्गत बोधिवृक्ष, स्तूप, एक अस्पष्ट वस्तु और सोलह विद्याधर-युगलों से पूजित तीर्थङ्कर मूर्ति ये चार धार्मिक चिह्न हैं। बाहर के चार कोनों में गुह्यक मुद्रा में चार महोरग हैं। चौकोर चौखटे को एक ओर बढ़ाकर अष्ट मांगलिक चिह्नों की पंक्ति का अंकन है जिनमें स्वस्तिक, मीन-मिथुन और श्रीवत्स सुरक्षित हैं।

कला की दृष्टि से लखनऊ संग्रहालय[4] में संरक्षित आयागपट्ट क्रमांक जे २४९ विशेष उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना सिंहवादिक ने अर्हत्-पूजा के लिए की थी। तीर्थङ्कर-प्रतिमा से युक्त होने के कारण इसकी संज्ञा 'तीर्थंकर-पट्ट' हुई। उसके मध्य में पद्मासनस्थ तीर्थङ्कर-मूर्ति है। उसके चारों ओर चार त्रिरत्न है। इस पट्ट के बाह्य चौखट पर अष्ट-मांगलिक चिह्न—मीन-मिथुन, देवग्रह-विमान, श्रीवत्स, रत्नपात्र ऊर्ध्व पंक्ति में एवं अधोपंक्ति में त्रिरत्न पुष्पस्त्रक, वैजयंती तथा पूर्णघट है।

कुषाण संवत् ५४ में स्थापित देवी सरस्वती की प्रतिमा भी प्रतिमा-शास्त्रीय दृष्टि से जैन कला की मौलिक देन है। इसका दक्षिण कर अभय-मुद्रा में है एवं वाम कर में पुस्तक है।

आयागपट्ट पर अंकित मांगलिक चिह्नों की स्थिति से मूर्ति को जैन प्रतिमा मानने में संदेह नहीं रह जाता। चिह्न ये हैं—१. स्वस्तिक, २. दर्पण, ३. भस्मपात्र, ४. बेत की तिपाई (भद्रासन), ५-६. दो मछलियां, ७. पुष्पमाला, ८. पुस्तक। औपपातिकसूत्र में अष्टमांगलिक चिह्नों के नाम इस प्रकार हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, दर्पण तथा मत्स्ययुग्म।

इस युग के अन्य आयागपट्ट पर जो मांगलिक उत्कीर्ण हैं उनमें दर्पण तथा नंद्यावर्त का अभाव है। संभवतः कनिष्क के काल तक (ई० प्रथम शती) अष्टमांगलिक की अंतिम सूची निश्चित न हो सकी थी। दिगम्बर शाखा में निम्नलिखित अष्टमांगलिक चिह्न वर्णित है—भृङ्गार, कलश, दर्पण, चामर, ध्वज, व्यजन, छत्र, सुप्रतिष्ठ।

कुषाण-काल में प्रधानतः तीर्थङ्कर की प्रतिमाएं तैयार की गई जो कि कायोत्सर्ग एवं पद्मासन-अवस्था में है। मथुरा के शिल्पियों के सम्मुख यक्ष की प्रतिमाएं ही आदर्श थीं। अत : कायोत्सर्ग स्थिति में तीर्थंकर की विशालकाय नग्न मूर्तियां बनने लगीं। कंकाली टीले के उत्खनन से उपलब्ध बहुसंख्यक नग्न प्रतिमाएं लखनऊ के संग्रहालय में संरक्षित हैं। नग्न प्रतिमाओं की स्थिति से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में दिगम्बर जैनों की प्रधानता थी ती-कर-प्रतिमाओं में अधोवस्त्र का समावेश कुषाण-युग के

३. भारतीय कला—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २७१-८२, चित्रफलक ३१६.

४. वही, पृ० २८२-८३, चित्रफलक ३१८.

पश्चात् हुआ। इस युग में तीर्थंकरों के विभिन्न प्रतीकों का परिज्ञान न हो सका था। विभिन्न तीर्थंकरों को पहचानने के लिए चौकियों पर अंकित लेखों में नाम का उल्लेख ही पर्याप्त था।

कंकाली टीले[५] के दूसरे स्तूप से उपलब्ध तीर्थंकर-मूर्तियों की संख्या अधिक है, जिनकी चौकियों पर कुषाण संवत् ५ से ६५ तक के लेख हैं। प्रतिमाएं चार प्रकार की हैं—

१. खड़ी या कायोत्सर्ग मुद्रा मे, जिनमें दिगम्बरत्व के लक्षण स्पष्ट हैं, २. पद्मासन में आसीन मूर्तियां, ३. सर्वतोभद्रिका प्रतिमा या खड़ी मुद्रा में चौमुखी मूर्तियां; ये भी नग्न है, एव ४. सर्वतोभद्रिका प्रतिमा बैठी हुई मुद्रा मे।

कुषाणकालीन मथुरा-कला में तीर्थंकरों के लांछन नहीं मिलते हैं, जिनसे कालांतर में उनकी पहचान की जाती थी। केवल ऋषभनाथ के कंधों पर खुले हुए केशों की लटें दिखाई गई है और सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्प-फणों का आटोप है। तीर्थंकर-मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स एव मस्तक के पीछे तेजचक्र या प्रभा-मण्डल मिलता है। फणाटोपवाली मूर्तियों में प्रभाचक्र नहीं रहता। चौकी पर केवल चक्र या चक्रध्वज या जिन-मूर्ति या सिंह का अंकन पाया गया है।

□□□

(पृष्ठ ११६ का शेषांश)

कवि ऐसे राजाओं की दूषित वृत्तियों को अध्यात्म और वैराग्य की ओर मोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे।

मध्य युग का समाज कठोर वर्ण-व्यवस्था में जकड़ा हुआ था। इस काल की स्मृतियों मे सामाजिक नियमो का विधान किया गया। । विदेशी आक्रमणों के कारण सामाजिक कट्टरता और अधिक बढती गई। समाज में धार्मिक स्वतन्त्रता तो विद्यमान थी किन्तु सती प्रथा, बहुपत्नीत्व आदि कुरीतियां प्रचलित थीं। तथापि वैदिक संस्कृति के विपरीत श्रमण संस्कृति मे वर्ण-व्यवस्था 'जन्मना' न मानकर 'कर्मणा' मानी जाती थी। नौवीं शताब्दी में आचार्य जिनसेन ने वैदिक व्यवस्था मे अन्य सामाजिक और धार्मिक संकल्पों का जैनीकरण करके जैन धर्म और सस्कृति को वैदिक धर्म और संस्कृति के साथ लाकर खड़ा कर दिया, जो व्यवस्था कालान्तर में लोकप्रिय भी हो गई। बाद में आचार्य सोमदेव ने भी प्रारम्भ में तो उसका विरोध करने का प्रयत्न किया किन्तु अन्ततः उन्होंने भी आचार्य जिनसेन के स्वर में ही अपना स्वर मिला दिया। बाद के जैनाचार्यों ने आचार्य जिनसेन और आचार्य सोमदेव से द्वारा मान्य वर्ण-व्यवस्था को सहर्ष स्वीकार कर लिया। भट्टारक सम्प्रदाय में विशेष प्रगति हुई। आचार के स्थान पर बाह्य क्रिया-काण्ड बढ़ने लगा। ११वीं और १२वीं शताब्दी से वैदिक समाज व्यवस्था और जैन समाज व्यवस्था में बहुत अन्तर नहीं रहा। जैन समाज मे अनेक सुधारक आन्दोलन भी हुए। समाज में प्रचलित अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों का व्यापक विरोध हुआ। इस काल में जो जैन साहित्य रचा गया उसमें ये सब विविध प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती है।

३, रामनगर, नई दिल्ली-५५

□□□

५. भारतीय कला—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २८३।

# छोहल की एक दुर्लभ प्रबन्ध कृति

☐ श्री अशोककुमार मिश्र

जैन प्रबन्ध-काव्यों[1] की परम्परा का मूल स्रोत अपभ्रंश में विद्यमान है। इसका पूर्ण विकास भक्तिकालीन हिन्दी जैन काव्यों में पाया जाता है। सोलहवीं शताब्दी के जैन कवि छीहल की अब तक प्रायः मुक्तक रचनायें उपलब्ध होने के कारण उन्हें मुक्तक काव्य का रचयिता समझा गया। उल्लेखनीय है कि कवि ने दोनों ही प्रकार की रचनायें की। उनकी एक प्रबन्ध कृति हारवर्ड विश्वविद्यालय अमेरिका के संग्रहालय में उपलब्ध हुई है। यह कृति सर्वथा अज्ञात रही, भारतवर्ष में इसकी पांडुलिपि मिलने की सूचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। इस प्रबन्ध कृति का नाम है—माधवानल कथा। कवि ने अपने समय की सर्वाधिक लोकप्रिय कथा को लेकर इस काव्य की रचना की, जो उनकी अब तक उपलब्ध समस्त रचनाओं की तुलना में अधिक विस्तृत और सरस कही जा सकती है। इसका आदि और अन्त इस प्रकार है—

**आदि**

**गणपति गरुवो गुणह असेस, उंदर वाहन चढ्यो नरेस।**
**घुघुर पाय करें झुणकार, पणऊ सिधि बुधि दातार।१।**
**सुमरें ब्रह्मा रच्यो संसार, फुणि सुमिरें सकर त्रिपुरारि।**
**सुर तैतीस ··· गैतो माह, कर जोरें अर लागें पाहं।२।**
**कासमीर गिरि थानर बन्न, वाहण हंस छत्र सो वर्ण।**
**बीणा पुस्तक नेवर पाय, नमस्कार दुति सारद माय।३।**
**तुम तुण मति होई घणी, कथें कथा नल माधव तणी।**
**थोरी मति तुम तें होई घणी, करी प्रसाद माता भार होण।४।**

**अन्त**

**कथा जु पवल अरथ असेस, नर अबोध मति नही प्रवेस।**
**अगम अभेव कठिण सी खरी,**
**सरस बहुत कवि छीहल करी।१९४।**
**पुरब कथा मति देखी जीसी, लिहि पट तरि मौ जंपो तीसी।**
**पंडित देवी न धरहु विचारी, छोटें पदें लीज्यौ सवारी।१९५।**
**काम कथा रस रसीक पुराण, लहै भेद सो चतुर सुजाण।**
**पठत गुणन जा होई वीस्तार, जयो सवनि कै ऐकाकार।१९६।**

—इति श्री माधवानल की कथा कंदला की कथा संपूर्ण समाप्त॥

**रचनाकाल**—कवि ने कथा के अन्त मे इसका रचना काल इस प्रकार दिया है—

**पन्द्रा सै इकहतरी सार, ओरी पाचें मास कुवार।**
**जया सकति मति सार कही, कवि छीहल जंपी चौपही।१९३।**

अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि ने इसकी रचना संवत् १५७१ (१५१४ ई०) में की है।

**कथानक**—गणपति की वंदना करने के पश्चात् कवि माधवानल-कामकंदला की कथा लिखते हुए कहता है—पुहपावती नगरी का राजा गोविदचन्द अत्यन्त शक्तिशाली तथा वैभव-सम्पन्न था। उसके रनिवास मे सात सौ सुन्दर रानियां थी। उसकी पट्टमहिषी का नाम रुद्र महादेवी था। उसकी नगरी मे सभी लोग सुख से जीवन व्यतीत करते थे। कही पर भी कोई दुःखी अथवा निर्धन नही था। उसी नगरी मे कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक तथा सर्वकलासम्पन्न ब्राह्मण कुमार माधव भी निवास करता था। उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर नगर की स्त्रियाँ व्याकुल होकर अपने तन की सुधि-बुधि भी बिसरा देती थी। किन्ही-किन्ही के तो गर्भपात भी हो जाते थे। यह देखकर नगर निवासियो का एक प्रतिनिधि-मण्डल राजा के पास गया और वहा जाकर उससे माधव को राज्य से निष्कासित करने के लिए विनय की। उन्होंने कहा कि यदि माधव राज्य से बाहर नहीं जायेगा तो वे सभी राज्य को छोड़कर चले जायेंगे। राजा ने परिस्थिति

१. (प्र—बंध् (बांधना)+घञ्) यहाँ प्रबन्ध से हमारा तात्पर्य कथाप्रधान रचना से है, महाकाव्य आदि से नहीं।

की गम्भीरता देखकर माधव को बुलवाया। राजा ने उससे कहा कि तुम अपनी कला प्रदर्शित करो। आदेशानुसार माधव वीणा-वादन करने लगा जिसे सुनकर सारी सभा विमोहित हो गई। उस पंचम नाद को सुनकर दुःखी अपना दुःख भूल गया, सुखी और अधिक सुखी हुआ। किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार माधव की सुन्दरता व कला भी उसके लिए अभिशाप सिद्ध हुई। राजा ने माधव से कहा कि तुम हमारे देश में मत रहो। माधव ने राज-भय से राजा के इस आदेश का पालन किया और सारी सभा को आशीष देकर विदेश की ओर प्रस्थान कर गया।

वन-उपवन, वन-खण्ड तथा गुफा व पर्वतों को पार करता हुआ वह कामावती नगरी में पहुंचा जहाँ कामसेन राजा राज्य करता था। इसी राज्य मे कामकंदला नाम की नर्तकी भी निवास करती थी। कवि ने यहाँ कामकंदला के सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया है—

ता पटतरि रंभा उनहारि, रूप अछंग लखु गुणीत नारि।
सोवा न मंछ कीर गु पीडुरी, जहा सथल कवली समसरी।
गुरु व पीत खीण कटि तीरी, मंडल नाभि कमल गंभीर।
कुच कठोर अम्रत रस भास, मुसि मुह ढलि चानि सो थयों।
मुगफली साम सरी आगुली, कह नुह वणी कणी रह कली।
धो दुरम अहिर डसण जणु हीर, तील सुरग नासिका कीर।
कुटिल भौंह धनहर उपमान, चकोत कुरग नयण जणु सरवाण
बदन सकोमल ऊडपति तोल, काम पासी जाणं सरवण सलोल
हीया तन चंदन ...बर वास, वेणी वीसहर लुपो तास।
इ॰ दिन अवसर दीने राई, कामकंदला हरखीत भई।
चवन मय कंचुक ना सीयो, सीस तीलकु कीस थुरी व दीयो।
मोती माणीक माग भराई, षोडस तन सिंगार कराई।
कुंडल श्रवण झलकहि तास, जाणं रवि किरणि दिपं आकास।
रहट नासिका तुलई साथोर, जणु रस अहि रहटु कं चोर।
कुच ऊपर मोती कं हार, नेवर चलण करं झुणकार।
नेत्र मेखला खंचि विहारी, करि सिंगार चली सुन्दरी॥

एक दिन राज-दरबार में उसका नृत्य हो रहा था। उसकी बहुविध कला को देखकर सभी सभासद हर्षित हो रहे थे। इतने मे माधव राजसभा के सिंहद्वार पर आया। उसने सभा मे हो रहे उस नृत्य तथा संगीत की ध्वनि को जब सुना तो वह समस्त सभा को मूर्ख बताने लगा। प्रतिहारी ने जब यह सुना तो वह राजा के पास गया और उससे बोला कि महाराज! एक परदेशी ब्राह्मण सभा को मूर्ख कहता है। राजा को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। उसने प्रतिहारी से कहा कि माधव से जाकर पूछो कि वह सभा को मूर्ख क्यों समझता है। प्रतिहारी के पूछने पर माधव ने कहा—"..... द्वादश तुर जस न वाजंत। मध्य तुर पुरव मख जासु। कर आगुली नही है तासु।" यह सुनकर प्रतिहारी राजा के पास गया। समस्त वृत्तान्त जान लेने के पश्चात् राजा ने माधव को राजसभा में बुलवाया और उसे अर्द्धसिंहासन पर बैठाकर उसका भव्य स्वागत किया, साथ ही अपने आभूषण भी उसे उपहार मे दे दिये। कामकंदला ने भी यह अनुभव किया कि यह पुरुष सर्व कलाओं का ज्ञाता है, अतः वह पहले से भी कही अधिक उत्साह मे अपना एक विशेष प्रकार का नृत्य प्रस्तुत करने लगी—

जल भरि कुभ सीस लं धरं, ऐक चरण की भावरि फीरं।
दुई कर चक्र फिरावं आणि, करं नीरत राजा आगे वाणि।
ईहो अंतर मधुकर इक दीठ, कुच ऊपर सो आनि बैठ।
वास लुद्ध परमल कं संग, लागे डसन सुकोमल अग।
कला भंग करि छीनो होई, व्याकुल अंग पीडवं सोई।
पवन खंचि पसु विद्या करी, इणी परि भवर उड़ायो तीरी॥

माधव उसकी इस कला पर विशेष प्रसन्न हुआ, लेकिन भ्रमर-रहस्य को उसके सिवाय कोई न जान सका। मूर्ख राजा ने भी यह भेद नही जाना। अतः माधव ने कामकदला की इस कुशलता पर राजा द्वारा दिये गये उपहार कामकदला पर न्यौछावर कर दिये। यह देखकर राजा ने क्रोधित होकर पूछा कि मेरे द्वारा प्रदत्त उपहारों को तूने एक वेश्या को क्यो दे डाला? माधव ने हरिण आदि के उदाहरण देते हुए अपनी बात की पुष्टि की। किन्तु राजा ने क्रोधित होकर उसे निर्वासन का आदेश दे दिया। दुःखी माधव कामावती नगरी छोड़कर जाने लगा, तभी मार्ग में कामकंदला ने उसे रोककर सविनय अपने घर चलने का आग्रह किया। माधव ने उसका

प्रगाढ़ प्रेम देखकर यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वहाँ दोनों ने प्रेमालाप किया तथा दोहा, गाहा, समस्या आदि कहते हुए रति-सुख प्राप्त किया।

प्रभात होने पर माधव विदेश-गमन के लिए प्रस्तुत हो गया। कामकंदला से उसकी विदाई न देखी गई। वह अत्यन्त दुःखी होकर मूर्छित हो गई। मूर्च्छा दूर होने पर माधव के विरह में क्रंदन करने लगी। यहाँ कवि ने उसकी विरहावस्था का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है। विरही माधव भी कामकंदला की स्मृति को संजोए भटकता हुआ उज्जैन पहुंचा। क्या करे ? अपना दुःख किससे कहे ? देखने, सुनने वाला भी कोई नहीं, अतः जब विरह की पीड़ा घनी हो गई तो शिवमन्दिर की दीवार पर ही निम्नलिखित पंक्तियाँ अंकित कर दी—

**कहा करै कहै दुख तास, सुहन कंण देख्यो चोह पास।**
**सोय वीयोग दुख देख्या भारी, सोई व राम नहो संसारी।**
**विरला तप करि कष्टै देह, विरला आरति भंजन हेह।**
**विरला करै सिघ सौ नेह, परदुख विरला भंजन ऐह॥**

प्रातः काल होने पर राजा विक्रम शिवमन्दिर में आराधना करने के लिए आया तो उसने दीवार पर उक्त पक्तियों को पढ़ा और आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगा कि मेरी इस नगरी मे कौन ऐसा दु.खी व विरही व्यक्ति है, जिसका पता मुझे नही। उसने नगर मे यह घोषणा करवा दी—'इस नगरी मे एक विरही व्यक्ति है। उसका पता यदि कोई बतायेगा तो मनवांछित फल पायेगा'। यह घोषणा सुनकर अनेक गुप्तचर तथा गणिकाए विरही को ढूढ़ने के लिए प्रयत्नशील हो गईं। विरही की खोज मे सध्या हो गई, लेकिन कुछ परिणाम न निकला। अत मे रात्रिवेला मे एक गणिका ने एक ब्राह्मण को सोते हुए देखा जो निद्रा में भी दुःखी निश्वास छोड़ रहा था। गणिका ने उसके हृदय पर अपना चरण रखा। यह व्यक्ति माधव ही था जो गणिका को कामकंदला ही समझकर उसे कामकंदला कहकर पुकारने लगा। गणिका समझ गई कि यही विरही व्यक्ति है, जिसकी राजा को तलाश है। वह तुरंत राजा के पास गई और सारी बातें बताई। राजा ने उसे बहुत-सा द्रव्य देकर विदा किया और माधव को बुलवाया। राजा ने वेश्या-प्रेम की असारता बतलाते हुए माधव से कहा कि मेरे नगर में कामकंदला के समान अनेक सुन्दरियां हैं, तुम अपनी रुचि के अनुसार उनका वरण कर लो। यह सुनकर माधव ने कहा कि मेरे हृदय में कामकंदला का ही निवास है, उसे छोड़कर मैं किसी को वरण नहीं कर सकता—

**बोलै माधव संभलि राई, अवर तीरी मोहि न सुहाइ।**
**जिहि रैणी हीर चूण्या असंस, क्यों छालर रति मानै हंस।**
**जाणै सरद संपूर्ण चंद, कमल उघारि पीयो मकरंद।**
**रस भायो केतुकी समीर, सो मनुकर किम रमै करीर॥**

यह सुनकर राजा प्रसन्न होकर बोला—मैं तुम्हें कामकंदला से अवश्य मिलाऊँगा। राजा प्रतिज्ञा करके उज्जैन से चलकर कामावती आया और गुप्त रूप से कामकंदला से मिलने गया। विरहिणी कामकन्दला सो रही थी। राजा ने उसके हृदय पर अपने पैरों का स्पर्श किया जिससे कामकन्दला की निद्रा भग्न हो गई और वह माधव-माधव कहकर बिलखने लगी। राजा ने उससे कहा कि ए वेश्या ! तू नहीं जानती कि मैं कौन हूं ? कामकन्दला बोली—मेरे हृदय मे केवल माधव का ही निवास है, अन्य कोई इस हृदय में विश्राम नही कर सकता। मेरे हृदय को पैर से स्पर्श करने का अर्थ है ब्राह्मण का अनादर करना। अतः हे राजन् ! क्रोध मत करो। राजा ने पूछा—कौन माधव ? क्या वह ब्राह्मण तो नहीं जो कि एक स्त्री के वियोग में उज्जैन में मर गया। इतनी बात सुनते ही कामकन्दला ने आह भरी और वह मर गई। राजा दुःखी होकर वहां से वापस आया और यह दुःखद समाचार माधव को दिया जिसे सुनते ही माधव की मृत्यु हो गई। यह देखकर राजा और अधिक संतप्त हुआ। उसे लगा उसने ही इन दोनों की हत्या की है। प्रायश्चित्त-स्वरूप वह खड्ग लेकर अपना बलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो गया। जब वह खड्ग से अपना मस्तक काटने वाला था तभी महाबली बेताल ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। उसने कहा—हे राजा ! वर माग, मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूं। राजा ने कहा, 'जे सन्तुष्ट हुवो तु भाई। तोरी बंभण वेही जीवाई॥' उसी समय वह वीर पाताल गया और वहा से

अमृत ले आया। माधव और कामकंदला के मुख में अमृत की बूंदें डाली गईं और वे दोनों जीवित हो गये।

राजा यह देखकर हर्षित हो गया। अब उसने ससैन्य कामावती नगरी पर चढ़ाई कर दी। कामावती नगरी के समीप पहुंचकर राजा ने कामसेन के पास संदेश भिजवाया कि वह कामकन्दला को सौंप दे, किन्तु कामसेन ने इसे अपमान समझा और युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो गया। घमासान युद्ध हुआ। इसमे कामसेन की पराजय हुई। विक्रम ने कामकन्दला को प्राप्त कर लिया। कामसेन की याचना पर राजा विक्रम ने उसे भी क्षमा कर दिया। इसके बाद कामकन्दला सहित राजा उज्जैन आया और फिर वहाँ माधव तथा कामकन्दला का पाणिग्रहण करवा दिया। सारी नगरी मे हर्षोत्सव मनाया गया। माधव तथा कामकन्दला भौतिक ऐश्वर्य भोगते हुए सानन्द जीवन यापन करने लगे।

**स्रोत एवं आधार**—इस कथा पर आधारित अन्य रचनायें भी लिखी गई। छीहल के पूर्व भी अन्य दो कवि आनन्दधर तथा नारायनदास ने यह कथा लिखी। इस कथा का मूल स्रोत क्या रहा होगा इस पर विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार इसका मूल स्रोत विक्रम की पहली शती हो सकता है। उनका कथन है कि माधव और कामकन्दला की कहानी सम्भवतः प्राकृत और अपभ्रंश के संधिकाल मे रची गई थी।[1] पं० उदयशंकर शास्त्री से भी इस कथानक के स्रोत पर लेखक ने विचार-विनिमय किया था, जिसके अनुसार इस कथा के मूल मे अपभ्रंश की कोई लोक प्रचलित कथा रही होगी। श्री कृष्ण सेवक ने माधव और कामकन्दला को ऐतिहासिक पात्र बताया है।[2] श्रीकृष्ण सेवक के कथन को ही उद्धृत करते हुए डा० हरिकांत श्रीवास्तव ने इसे ऐतिहासिक घटना माना है। किन्तु इस तथ्य को मानने में दो आपत्तियां हैं—

(१) श्रीकृष्ण सेवक ने जिस खण्डहर को कामकन्दला का महल बताया है उसे 'आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' ने सिद्ध कर दिया है कि वह महल न होकर शिव-मन्दिर था।

(२) कामावती और पुष्पावती के राज्यों के विवरण विक्रमकालीन होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

अतः इस कथा का मूल स्रोत ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। इस परम्परा के प्रथम हिन्दी कवि नारायनदास ने अपने आश्रयदाता का निर्देश करते हुए लिखा है—

**मनि धरि बीरा दीनो राउ, मोहि भेद माधवा सुनाउ।**
**ताहि वियोग कौन विधि भयो, कैसे निकरि दिसंतरि गयो।**
**क्यों सुन्दरी सो भयो मिलाउ, क्यों आराध्यो विक्रम राउ।**
**क्यों दुख सहि बहुरे सुख लहयो, सब समुझाइ बेद यों कह्यो॥**

इन पंक्तियों से यह तो स्पष्ट है कि यह लोक प्रचलित सरस कथा रही होगी, तभी आश्रयदाता ने कवि से इस कथा को लिखने की इच्छा व्यक्त की। इसके पूर्व आनन्दधर भी इस काव्य की संस्कृत में रचना कर चुके थे। अतः कवि छीहल ने संभवतः इन्ही दो कवियों की रचनाओं को अपने इस प्रबन्ध का मूल आधार बनाया होगा।

□ □ □

१. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य (डा० श्रीवास्तव, हरिकांत), पृ० २२०.
२. Seventh Oriental Conference, Baroda, 1933 pp. 995-999.

# जैन वाङ्मय में आयुर्वेद

☐ आचार्य श्री राजकुमार जैन

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से आयुर्वेद की परम्परा चली आ रही है। आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वैद्यक शास्त्र या आयुर्वेद का मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय है। वेदों में आयुर्वेद सम्बन्धी पर्याप्त उद्धरण मिलते है। सर्वाधिक उद्धरण अथर्ववेद में मिलते है। इसीलिए आयुर्वेद को उपवेद माना गया है। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता में प्राप्त वर्णन के आधार पर आयुर्वेद की उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी द्वारा हुई। ब्रह्मा ने आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को उपदेश दिया और अश्विनीकुमारों से देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण किया। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक देव लोक में आयुर्वेद का प्रसार रहा। तत्पश्चात् भूलोक मे व्याधियो से पीड़ित आर्त प्राणियों की रोग मुक्ति करने की दृष्टि से मुनिश्रेष्ठ भारद्वाज देवलोक में गये और वहां इन्द्र से अष्टांग आयुर्वेद का उपदेश ग्रहण कर पृथ्वी पर उसका प्रसार किया। उन्होंने कायचिकित्सा-प्रधान आयुर्वेद का उपदेश पुनर्वसु अत्रेय को दिया, जिससे अग्निवेश आदि छः शिष्यों ने विधिवत आयुर्वेद का अध्ययन कर उसका ज्ञान प्राप्त किया और अपने-अपने नाम से पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण किया। इसी प्रकार, दिवोदास धन्वन्तरि ने सुश्रुतप्रभृति शिष्यो को शल्यतन्त्रप्रधान आयुर्वेद का उपदेश दिया। उन सभी शिष्यो ने भी अपने अपने नाम से पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण किया, जिनमें से केवल सुश्रुतसंहिता ही आज उपलब्ध है। तत्पश्चात् अनेक आचार्यों, विद्वानों और भिषकश्रेष्ठों द्वारा यह परम्परा विस्तार और प्रसार को प्राप्त कर सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त हुई।

जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय और उससे सम्बन्धित साहित्य में आयुर्वेद के बीज प्रकीर्ण रूप से विद्यमान है, उसी प्रकार जैन वाङ्मय और इतर जैन साहित्य मे पर्याप्त रूप से आयुर्वेद सम्बन्धी विभिन्न विषयों का उल्लेख मिलता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक तथ्य यह है कि जैन धर्म के विशाल वाङ्मय के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से आयुर्वेद का विकास हुआ है। बहुत ही कम लोग इस तथ्य से अवगत है कि वैदिक साहित्य और हिन्दू धर्म की भांति जैन साहित्य और जैन धर्म से भी आयुर्वेद का निकटतम सम्बन्ध है। जैन धर्म में आयुर्वेद का क्या महत्व है और उसकी कितनी उपयोगिता है, इसका अनुमान इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का समावेश द्वादशांग वाङ्मय में किया गया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय में अन्य शास्त्रों या विषयों की भांति आयुर्वेद-शास्त्र या वैद्यक विषय की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित है। जैनागम में वैद्यक (आयुर्वेद) विषय को भी आगम के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि भारत में आयुर्वेद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। समय-समय पर विभिन्न जैनेतर विद्वानों द्वारा प्रचुर रूप में आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की गई है। वैद्य समाज उन ग्रन्थों से भली भांति परिचित है। किन्तु अनेक जैन विद्वानों ने भी आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है जिनमें दो चार को छोड़ कर शेष सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों से वैद्य समाज अपरिचित ही है। इसका एक कारण यह भी है कि उनमें से अधिकांश ग्रन्थ आज भी अप्रकाशित ही है। गत कुछ समय से शोधकार्य के रूप में राजस्थान के जैन मन्दिरो में विद्यमान शास्त्र भण्डारों का विशाल पैमाने पर अवलोकन किया गया और उनकी बृहदाकार सूची बनाई गई। यह सूची गत दिनों विशाल ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित की गई है। यह ग्रन्थ चार भागों मे विभक्त है। इस सूची-ग्रन्थ के चारों खण्डों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इनमें अनेक ऐसे ग्रन्थ विद्यमान है जो आयुर्वेद विषयक है और जिनकी रचना जैनाचार्यों द्वारा की गई है।

जैन दर्शन के विभिन्न आगम ग्रन्थों का अध्ययन

करने से ज्ञात होता है कि इनमे भी आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों के पर्याप्त उद्धरण विद्यमान हैं। स्थानांगसूत्र और विपाक-सूत्र में आयुर्वेद के आठ प्रकार (अष्टांग आयुर्वेद), सोलह महारोगों और चिकित्सा सम्बन्धी विषयों का बहुत अच्छा वर्णन है। संक्षेप में, यहां उनका उल्लेख किया जा रहा है।

आयुर्वेद के आठ प्रकार—१. कौमारभृत्य (बाल चिकित्सा), २. काय चिकित्सा (शरीर के सभी रोग और उनकी चिकित्सा), ३. शालाक्य चिकित्सा (गले से ऊपर के भाग में होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा—इसे आयुर्वेद में 'शालाक्य तन्त्र' कहा गया है), ४. शल्य चिकित्सा (चीड़-फाड़ सम्बन्धी ज्ञान जिसे आजकल 'सर्जरी' कहा जाता है—इसे आयुर्वेद में शल्यतन्त्र' की संज्ञा दी गई है), ५. जिगोली विषविघात तन्त्र (इसे आयुर्वेद में 'अगदतन्त्र' कहा जाता है—इसके अन्दर सर्प, कीट, लूता, मूषक आदि विषों का वर्णन तथा चिकित्सा एवं विष सम्बन्धी अन्य विषयों का उल्लेल रहता है), ६. भूतविद्या (भूत-पिशाच आदि का ज्ञान और उनके शमनोपाय का उल्लेख), ७. क्षारतन्त्र (वीर्य सम्बन्धी विषय और तद्गत विकृतियों की चिकित्सा—इसे आयुर्वेद में वाजीकरण की संज्ञा दी गई है), ८. रसायन (इसके अन्तर्गत स्वस्थ पुरुषों द्वारा सेवन योग्य ऐसे प्रयोगों एवं विधि-विधानों का उल्लेख है जो असामयिक वृद्धावस्था को रोक कर मनुष्य को दीर्घायु, स्मृति, मेधा, प्रभी, वर्ण, स्वरोदार्य आदि स्वाभाविक शक्तियां प्रदान करते हैं।)

इसी प्रकार, जैन आगम ग्रन्थों में सोलह महारोग—श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, अलस, भगासीर, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरोचक, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, कण्डू-खुजली, दकोदर-जलोदर, कुष्ट-कोढ़ गिनाए गए हैं। रोगों के चार प्रकार बतलाए गए हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, श्लेष्मजन्य और सन्निपातज। चिकित्सा के चार अंग प्रतिपादित हैं—वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक। जैनागमानुसार चिकित्सक चार प्रकार के होते हैं—स्वचिकित्सक, परचिकित्सक, स्वपर चिकित्सक और सामान्य ज्ञाता। जैन आगमों में प्राप्त विवेचन के अनुसार रोगोत्पत्ति के नौ कारण होते हैं—१. अतिआहार, २. अहिताशन, ३. अति निद्रा, ४. अति जागरण, ५. मूत्रावरोध, ६. मलावरोध, ७. अध्वगमन, ८. प्रतिकूल भोजन और ९ कामविकार। यदि इन नौ कारणों से मनुष्य बचता रहे तो उसे रोग उत्पन्न होने का भय बिलकुल नहीं रहता। इस प्रकार, जैन ग्रन्थों में आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों का उल्लेख प्रचुर रूप में मिलता है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि जैनाचार्यों को आयुर्वेद शास्त्र का भी पर्याप्त ज्ञान रहता था।

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उसमें अहिंसा तत्त्व की प्रधानता है और अहिंसा को सर्वोपरि प्रतिष्ठापित किया गया है। आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति में यद्यपि आध्यात्मिकता को पर्याप्त रूपेण आधार मानकर वही भाव प्रतिष्ठापित किया गया है और उसमें यथासम्भव हिंसा को वर्जित किया गया है, किन्तु कतिपय स्थलों पर अहिंसा की मूल भावना की उपेक्षा भी की गई है, जैसे भेषज के रूप मे मधु, गोरोचन, विभिन्न आसव, अरिष्ट आदि का प्रयोग। इसी प्रकार, बाजीकरण के प्रसंग में चटकमांस, कुक्कुटमांस, हसशुक्र, मकरशुक्र, मयूरमांस आदि के प्रयोग एवं सेवन का उल्लेख मिलता है। कतिपय रोगों मे शूकरमांस, मृगमांस तथा अन्य पशु-पक्षियों के मांस सेवन का उल्लेख मिलता है। ऐसे प्रयोगों से आयुर्वेद में अहिंसा भाव की पूर्णतः रक्षा नही हो पाई है। अतः ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि जैन साधुओं के लिए इस प्रकार का आयुर्वेद और उसमें वर्णित चिकित्सा उपादेय नहीं हुई। जैन साधुओं के अस्वस्थ होने पर उन्हें केवल ऐसे प्रयोग ही सेवनीय थे जो पूर्णतः अहिंसक, अहिंसाभाव प्रेरित एवं विशुद्ध रीति से निर्मित हों। जैनाचार्यों ने इस कठिनाई का अनुभव किया और उन्होंने सर्वांग रूपेण आयुर्वेद का अध्ययन कर उसमें परिष्कारपूर्वक अहिंसाभाव को दृष्टिगत रखते हुए आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। वे ग्रन्थ जैन मुनियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए। जैन गृहस्थों ने भी उनका पर्याप्त लाभ उठाया। इसका एक प्रभाव यह भी हुआ कि जैन साधुओं, साध्वियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं की चिकित्सार्थ जैन साधुओं-विद्वानों को भी चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा।

पहले पहल दिगम्बर भट्टारकों ने वैद्यक विद्या को ग्रहण कर चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। कालान्तर में श्वेताम्बर जैन यतियों ने इसमें अत्यन्त दक्षता प्राप्त की। बाद में ऐसा समय भी आया कि उनमें क्रमशः शिथिलता आती गई। दिगम्बर आचार्यों और विद्वानों ने आयुर्वेद के जिन ग्रन्थो का निर्माण किया है वे अधिकांशत: प्राकृत-संस्कृत भाषा मे है। चूंकि उन ग्रन्थों के रख-रखाव एवं प्रकाशन आदि की ओर समुचित ध्यान नही दिया गया, अतः उनमे से अधिकांश नष्ट या लुप्तप्राय हो चुके है; जो बचे हुए है उनके विषय मे जैन समाज की रुचि न होने के कारण वे अज्ञात है। श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा जो ग्रन्थ रचे गये है वे गत चार सौ वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं है। अतः उनकी रचना हिन्दी मे दोहा, चौपाई आदि छन्दो मे हुई है। इस प्रकार के ग्रन्थो मे योग चिन्तामणि, वैद्यमनोत्सव-विनोद, रामविनोद, गंगयतिनिदान आदि हिन्दी वैद्यक ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है।

संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थो मे पूज्यपाद विरचित वैद्यसार और उग्रादित्याचार्य विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थो का भी हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन हो चुका है। इनमे वैद्यसार के विषय मे विद्वानो का मत है कि वह वस्तुत. पूज्यपाद की मौलिक कृति नही है, किसी अन्य व्यक्ति ने उनके नाम से इस ग्रन्थ की रचना की है।

## हिन्दी में रचित वैद्यक ग्रन्थ

१. वैद्यमनोत्सव—यह ग्रंथ पद्यमय है और दोहा, सोरठा व चौपाई छन्दो में है। इस ग्रन्थ के रचयिता कविवर नयनसुख है जो केशवराज के पुत्र थे। उन्होने इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६४१ में की है। ग्रंथ में प्राप्त उल्लेख के अनुसार, अकबर के राज्य में सीहनन्द नगर में चैत्र शुक्ला द्वितीया (स० १६४१) को उन्होने इस ग्रंथ की रचना पूर्ण की। ग्रन्थ के आरम्भ में 'श्रावककुल ही निवास' लिख कर उन्होंने अपना श्रावक होना प्रतिपादित किया है। ग्रन्थ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य ग्रन्थ का अनुवाद मात्र ही नही है, अपितु मौलिक रूप से इसकी रचना पद्य रूप में की गई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त की रचना की मौलिकता का सहज ही आभास मिलता है इतना अवश्य है। कि कवि ने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन करने के उपरान्त ही इसकी रचना की है। ग्रन्थ के आदि मंगलाचरण से भी यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ रचना से पूर्व कवि ने आयुर्वेद शास्त्र का गहन अध्ययन किया है, अनेक ग्रन्थो का मनन किया है और उनसे अर्जित ज्ञान को अनुभव द्वारा परिमार्जित किया है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सात समुद्देशों में विभक्त है। इसमें कुल ३३२ गाथाए है। इस ग्रन्थ को एक अन्य प्रति में, आद्यन्त मंगलाचरणरहित अनेक आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रमाण सहित १६७ गाथाओ का एक और ग्रन्थ है। उसके अन्त में भी इति वैद्यमनोत्सवे लिखा है। ये दोनों ग्रन्थ दोहा, सोरठा एवं चौपाई में है। इनमें से एक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है, किन्तु वह भी अब सम्भवतः उपलब्ध नहीं है।

२. वैद्यहुलास—इसका दूसरा नाम तिब्बसाहबी भी है। इसका कारण यह है कि लुकमान हकीम ने फारसी में तिब्बसाहबी नामक जिस ग्रन्थ की रचना की है उसी का यह हिन्दी पद्यानुवाद है। तिब्बसाहबी एक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। अतः ऐसे ग्रन्थ का अनुवाद निश्चय ही उपयोगी साबित होगा। हिकमत के फारसी ग्रन्थो का अनुवाद उर्दू भाषा में तो हुआ है, किन्तु हिन्दी में यह कार्य बिल्कुल नही हुआ। ऐसी स्थिति में यह एक साहसिक प्रयास ही माना जायगा कि हिकमत विषयक प्रधान ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो, वह भी पद्यमय शैली में। इस ग्रंथ के अनुशीलन से अनुवादक का फारसी भाषा का विद्वान होना और हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार होना निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। अनुवादक में काव्य प्रतिभा का होना भी असंदिग्ध है।

इस ग्रंथ के रचयिता कविवर मलूकचन्द्र है। 'श्रावक धर्मकुल को नाम मलूकचन्द' इन शब्दो के द्वारा अनुवादक ने अपने नाम का उल्लेख किया है। ग्रंथ के आदि मंगलाचरण के अनन्तर लेखक ने उपर्युक्त रूप से संक्षेपतः अपना उल्लेख किया है, अपना व्यक्तिगत विशेष परिचय कुछ नही दिया। यही कारण है कि कवि का कोई विशेष परिचय प्राप्त नही होता। इस ग्रंथ में अन्य ग्रंथों की भांति अन्त्य प्रशस्ति भी नही है। इससे ग्रंथ रचना का काल और रचना स्थान दोनों अज्ञात हैं।

□□□

R. N. 10591/62

# वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

**पुरातन जैनवाक्य-सूची** : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) मे भूषित है। शोध खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५·००

**आप्तपरीक्षा** : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८·००

**स्वयम्भू स्तोत्र** : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २·००

**स्तुतिविद्या** : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १·५०

**अध्यात्मकमलमार्तण्ड** : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १·५०

**युक्त्यनुशासन** : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

**समीचीन धर्मशास्त्र** : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३·६०

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह**, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना मे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४·००

**समाधितन्त्र और इष्टोपदेश** : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४·००

**श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ** : श्री राजकृष्ण जैन ... ... १·२५

**अध्यात्मरहस्य** : पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १·००

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह**, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२·००

**न्याय-दीपिका** : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७·००

**जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश** : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५·००

**कसायपाहुडसुत्त** : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २०·००

**Reality** : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६·००

**जैन निबन्ध-रत्नावली** : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५·००

**ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित)** : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२·००

**श्रावक धर्म संहिता** : श्री दरयावसिंह सोधिया ५·००

**जैन लक्षणावली (तीन भागों में)** : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५·००; द्वितीय भाग २५·००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध पत्रिका

# अनेकान्त

वर्ष २९ : किरण ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९७६

परामर्श-मण्डल
श्री यशपाल जैन
डा० प्रेमसागर जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य :
१ रुपया २५ पैसा

## विषयानुक्रमणिका

| क्र० | विषय | पृ० |
|---|---|---|
| १. | ज्ञान की गरिमा | १२९ |
| २ | वारंगल के काकातीय राज्य संस्थापक जैन गुरु — श्री मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी | १३० |
| ३. | जैन साहित्य और शिल्प में वाग्देवी सरस्वती — डा० ज्योति प्रसाद जैन | १३३ |
| ४. | उज्जयिनी की दो अप्रकाशित महावीर प्रतिमायें —डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य | १३७ |
| ५. | कर्नाटक में जैन शिल्प कला का विकास —श्री शिव कुमार नामदेव | १३८ |
| ६. | अहिंसा के रूप—श्री पद्मचन्द शास्त्री, | १४१ |
| ७. | गिरनार की ऐतिहासिकता —श्री कुन्दन लाल जैन | १४६ |
| ८. | रेवतगिरि रास | १५० |
| ९. | स्वस्तिक रहस्य —श्री पद्मचन्द शास्त्री | १५३ |
| १०. | हिन्दी के आधुनिक जैन महाकाव्य —कु० इन्दुराय, | १५६ |
| ११. | प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य भारतीय भाषाएँ | १६१ |

प्रकाशक

**वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२**

# वीर सेवा मन्दिर

**समाज के ऐसे धर्मवत्सल १००० विद्यादानियों की आवश्यकता है जो सिर्फ एक बार अनुदान देकर जीवन भर शास्त्रदान के उत्कृष्ट पुण्य का संचय करते रहें।**

**'वीर सेवामन्दिर'** की स्थापना आज से ४७ वर्ष पूर्व स्व० श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्व० श्री छोटेलाल जैन तथा वर्तमान अध्यक्ष श्री शान्तिप्रसाद जैन प्रभृति जाग्रत चेतनाओं के सत्प्रयत्नों से हुई थी। तब से जैनदर्शन के प्रचार तथा ठोस साहित्य के प्रकाशन में वीर सेवा मन्दिर ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं वे सुविदित हैं और उनके महत्त्व को न सिर्फ भारत में बल्कि विदेशों में भी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से माना है।

**'वीर सेवा मन्दिर'** के अपने विशाल भवन में एक सुनियोजित ग्रन्थागार है जिसका समय-समय पर रिसर्च करने वाले छात्र उपयोग करते हैं। दिल्ली से बाहर के शोधकर्ता छात्रों के लिए यहां ठहरकर कार्य करने के लिए छात्रावास की भी व्यवस्था है।

अब तक जो भी कार्य हुए हैं, आपके सहयोग से ही हो पाए हैं। यदि 'वीर सेवा मन्दिर' की कमजोर आर्थिक स्थिति को आपका थोड़ा सम्बल मिल जाए तो कार्य अधिक व्यवस्थित तथा गतिमान हो जाए। **'आप २५१ रु० मात्र देकर आजीवन सदस्य बन जाएँ'** तो आपकी सहायता जीवन भर के लिए 'वीर सेवा मन्दिर' को प्राप्त हो सकती है। सदस्यों को 'वीर सेवा मन्दिर' का त्रैमासिक पत्र "अनेकान्त" निःशुल्क भेजा जाता है तथा अन्य सभी प्रकाशन दो-तिहाई मूल्य पर दिए जाते हैं।

हमें विश्वास है कि धर्म प्रेमी महानुभाव इस दिशा में संस्था की सहायता स्वयं तो करेंगे ही, अन्य विद्या प्रेमियों को भी इस ओर प्रेरित करेंगे।

—**महेन्द्रसेन जैनी**, महासचिव

**'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण**

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय ३, रामनगर, नई दिल्ली-५५
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश, जैन प्रकाशक

स्थापित : १९२९

# वीर सेवा मन्दिर

## २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

**वीर सेवा मन्दिर** उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२९ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूर्ति में संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार हैं:—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थागार, जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४९ वर्ष से निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि:—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य इतिहास एवं पुरातत्व के शोधानुसन्धान में योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—**गोकुल प्रसाद जैन (सचिव)**

**अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।** —**सम्पादक**

ओम् अर्हम्

# अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २९ किरण ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर
वीर निर्वाण संवत् २५०२, वि० सं० २०३३ | १९७६

## ज्ञान की गरिमा

स एव परमं ब्रह्म स एव जिनपुंगवः ।
स एव परमं तत्त्वं स एव परमो गुरुः ।।
स एव परमं ज्योतिः स एव परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानं स एव परमात्मकः ।।
स एव सर्वकल्याणं स एव सुखभाजनं ।
स एव शुद्धचिद्रूप स एव परमं शिवः ।।
स एव परमानन्दः स एव सुखदायकः ।
स एव परमं ज्ञानं स एव गुणसागरः ।।
परमाह्लादसम्पन्नं रागद्वेषविवर्जितम् ।
सोऽहं तं देहमध्येषु यो जानाति स पण्डितः ।।

अर्थ—वह स्वात्मा ही शुद्धावस्थापन्न होने पर परम ब्रह्म है, वही जिनश्रेष्ठ है, वही परम तत्त्व है, वही परम गुरुदेव है, वही परम ज्योति, परम तप, परम ध्यान और वही परमात्मा है। वही सर्व-कल्याणात्मक है, वही सुखों का अमर पात्र है, वही विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वही परम शिव है, वही परम आनन्द है, वही सुख प्रदाता है, वही परम ज्ञान है और गुणसमूह भी वही है। उस परम आह्लाद से सम्पन्न, रागद्वेषवर्जित आत्मा को, जिसके लिए 'सोऽहं' का व्यवहार किया जाता है और जो देह में स्थित है, जो जानता है वह पण्डित है ।।

आकाररहितं शुद्धं स्वस्वरूपे व्यवस्थितम् ।
सिद्धमष्टगुणोपेतं निर्विकारं निरंजनम् ।।
तत्सदृशं निजात्मानं यो जानाति स पडितः ।
सहजानन्दचैतन्यप्रकाशाय महीयसे ।।
पाषाणेषु यथा हेम दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं देहमध्ये तथा शिवः ।।
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः ।।

अर्थ—यह आत्मा निराकार, शुद्ध, स्वस्वरूप में स्थित, सिद्ध, अष्टगुणयुक्त, विकारनिरस्त और निरजन है। अपने आत्मा में विद्यमान महान् सहजानन्द स्वरूप चैतन्य के प्रकाशनार्थ जो सिद्ध आत्मा के सदृश अपने आत्मा को जानता है, वह पण्डित है, जैसे पाषाण में सुवर्ण, दुग्ध में घृत तथा तिलों में तैल है वैसे इस देह में शिव है, आत्मा विद्यमान है। और जैसे काष्ठ में अग्नि है उसी प्रकार शक्तिरूप में इन शरीरों में आत्मा का निवास है इसे जानने वाला ही विद्वान है ।।

# वारंगल के काकातीय राज्य संस्थापक जैन गुरु

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

जैन साधु प्रायः निवृत्तिमार्गी, निस्पृह, निष्परिग्रह, और ज्ञान-ध्यान-तपोरत वीतरागी होते रहे हैं। किन्तु कभी-कभी वे सद्वृत्तियों के भी पोषक रहे है और धर्मसंरक्षणार्थ किन्ही सुराज्यों की स्थापना में भी प्रेरक हुए हैं। विशुद्ध इतिहासकाल मे सुप्रसिद्ध मौर्य साम्राज्य के संस्थापक वीर चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पथप्रदर्शक, राजनीति गुरु एवं मन्त्रीश्वर आर्य चाणक्य दोनों ही जैन धर्मानुयायी थे।[1] वीर विक्रमादित्य द्वारा उज्जयिनी मे शकों का उच्छेद करके मालवगण की पुन: स्थापना में आर्य कालक प्रेरक रहे थे।[2] दूसरी शती ई० के अन्त के लगभग गंगवाड़ि (मैसूर) के गंग राज्य की स्थापना दड्डिग एव माधव नामक भ्रातृद्वय ने मुनीन्द्र सिंहनन्दि के आशीर्वाद, प्रेरणा और सहायता से की थी[3]। यह राजवंश हजार-बारह सौ वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। आठवीं शती में संस्थापित हुमच्च के सान्तर-वंश के प्रथम पुरुष जिनदत्तराय के धर्मगुरु एवं राजगुरु जैनाचार्य सिद्धांतकीर्ति थे,[4] और ९वी शती में सौन्दत्ति के रट्ट राज्य का संस्थापक पृथ्वीराम रट्ट इन्द्रकीर्ति स्वामी का विद्या-शिष्य था।[5] गुजरात-सौराष्ट्र में ७४५ ई० चापोत्कट (चावड़ा) राज्यवंश की स्थापना वनराज चावड़ा ने स्वगुरु शीलगुरुसूरि के आशीर्वाद, उपदेश और सहायता से की थी।[6] ग्यारवीं शती के प्रारम्भ में वीर सल (पोयसल या होयसल) ने द्वारसमुद्र के होयसल राज्य की स्थापना स्वगुरु सुदत्त वर्धमान के आशीर्वाद, प्रेरणा और सहायता से की थी।[7] अन्य भी कई उदाहरण हैं, जिनमे से एक का आगे वर्णन किया जायेगा। यों जैन धर्म की अल्पाधिक प्रवृत्ति तो पूर्व मध्यकाल के अनेक छोटे-बड़े राज्य वंशो मे रही।[8]

१४वी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में दिल्ली मे खिलजी और तुगलुक सुल्तानों के भीषण एवं विध्वंसक प्रहारों को दक्षिणापथ की जिन राज्यसत्ताओ को झेलना पड़ा उनमें देवगिरि के यादव, द्वारसमुद्र के होयसल और वारंगल के काकातीय प्रमुख थे। इन तीनों ही राज्यों का उदय कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य सम्राटो के रूप में १०वीं शती के अन्त अथवा ११वी शती ई० के प्रारम्भ के आसपास हुआ था। १२वी शती के अन्त के लगभग उक्त साम्राज्य की समाप्ति के कुछ पूर्व ही ये तीनों राज्य स्वतन्त्र हो गए थे। अतएव दक्षिणापथ पर मुसलमानों के आक्रमण के समय उस क्षेत्र मे यही तीन राज्य सर्वोपरि, स्वतन्त्र, वैभवसम्पन्न, शक्तिशाली और विस्तृत थे। मुसलमानो द्वारा इनमे से सर्वप्रथम देवगिरि का यादव राज्य समाप्त किया गया, तदन्तर द्वारसमुद्र के होयसलों की बारी आई और अन्त मे वारंगल के काकातीय भी समाप्त कर दिए गए।[9] किन्तु अन्तिम दो

---

१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, (द्वि० सं), पृ० ७६ ६१; प्रमुख ऐति० जैन, पृ० ३४-४४।
२. वही, पृ० ६०-६२
३. वही, पृ० ७१-७२; भा० इ० ए० दृ० पृ० २५६-२५८
४. प्रमुख ऐति० जैन, पृ० १७१
५. वही, पृ० १७७
६. वही, पृ० २२८-२२६
७. वही, पृ० १३४-१३५
८. देखिए हमारी उपरोक्त दोनो पुस्तकें तथा साल्तोर-कृत मेडीवल जैनिज्म, प० कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत 'दक्षिण भारत मे जैनधर्म', देसाई कृत 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया', शेषगिरि राव कृत 'आन्ध्र कर्नाटक जैनिज्म', इत्यादि,
९. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ३६२, ४१०, ४१३

के अवशेषों में से ही प्रायः तत्काल सुप्रसिद्ध विजयनगर साम्राज्य का उदय हुआ था।[१०]

पूर्व मध्यकालीन दक्षिणापथ के उक्त तीन प्रमुख भारतीय राज्यों मे से देवगिरि के यादव जैन धर्म के अनुयायी नही थे, किन्तु उसके अच्छे प्रश्रयदाता रहे। होयसल राज्यवंश में प्रारम्भ से प्रायः अन्त पर्यन्त जैन धर्म की अल्पाधिक प्रवृत्ति रहती रही, राज्य परिवार के अनेक सदस्य परम जैन और जैन बन्धुओ के भक्त भी होते रहे। इस राज्य एवं वंश की स्थापना का श्रेय ही, जैसाकि ऊपर कथन किया जा चुका है, एक जैनाचार्य को है।[११]

जहा तक वारंगल के काकातीय राज्यवंश का प्रश्न है, उसके विषय मे आधुनिक इतिहासकार प्रायः यही प्रतिपादित करते है कि वह हिन्दू या शैवमत का अनुयायी था। किन्तु ऐसे संकेत भी मिलते है कि काकातीय नरेश गणपतिदेव (११९८–१२६१ ई०) के शासन काल मे तेलुगु महाभारत का रचयिता टिक्कन सोमय्य नामक हिन्दू विद्वान ने राजसभा मे जैनो को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। परिणामस्वरूप राजा कट्टर शैव बन गया और जैनो पर उसने भारी अत्याचार किये तथा तभी से इस राज्य मे जैन धर्म की अवनति प्रारम्भ हुई।[१२] इससे यह भी विदित होता है कि उसके पूर्व वहां जैनधर्म उन्नत अवस्था मे था, और राज्यवंश मे भी जैन धर्म की प्रवृत्ति थी। वस्तुतः इस प्रान्त से सम्बन्धित पुरानी 'कैफियतों' (निबद्ध अनुश्रुतियो) के आधार पर प्रो० शेषगिरिराव ने, जो स्वयं आन्ध्र प्रदेशवासी थे, यह प्रमाणित किया था कि वारंगल एक समय जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा था।[१३] उस काल मे उक्त प्रदेशो के जैन सम्बन्धो और वहाँ जैनो द्वारा किए गये कार्यकलापों का हमने अन्यत्र उल्लेख किया है।[१४]

अभी हाल मे, श्री भंवरलाल नाहटा द्वारा अनुवादित 'विविध-तीर्थकल्प'[१५] की प्रस्तावना लिखते समय हमारा ध्यान एक ऐसे विवरण की ओर आकर्षित हुआ, जिसकी ओर संभवतया अभी तक किसी अन्य इतिहासविद्वान का ध्यान नहीं गया प्रतीत होता, और जिससे सिद्ध होता है कि पूर्वोल्लिखित होयसल प्रभृति कई राज्यों की भांति वारंगल के काकातीय की स्थापना का श्रेय भी एक जैनाचार्य को ही था।

'कल्पप्रदीप' (अपरनाम 'विविध तीर्थकल्प') को श्वेताम्बराचार्य जिनप्रभसूरि ने वि० सं० १३८९ (सन् १३३२ ई०) को भाद्रपद कृष्ण दशमी बुधवार के दिन श्री हम्मीर मुहम्मद (सुलतान मुहम्मद बिन तुगलुक) के शासनकाल में योगिनीपत्तन (दिल्ली) मे रचकर पूर्ण किया था।[१६] इस ग्रन्थ मे कुल कल्प या प्रकरण संकलित है, जिनमे से अधिकांश स्वयं जिनप्रभसूरि द्वारा रचित है – कई एक ऐसे भी है जो अन्य विद्वानो द्वारा रचित है। अधिकतर कल्प किसी न किसी पवित्र जैन तीर्थ, अतिशय क्षेत्र आदि से सम्बन्धित है, और भिन्न-भिन्न समयों मे रचे गये है। कुछ एक कल्पो के अन्त मे उनकी रचना तिथि भी दी हुई है, जिनमे से सर्वप्रथम तिथि[१७] वि० सं० १३६४ (सन् १३०७ ई०) कल्प नं० ११—वैभारगिरिकल्प के अन्त मे प्राप्त होती है, और अन्तिम वि० सं० १३८९ (सन् १३३२ ई०) कल्प नं०३९—श्री महावीर गणधरकल्प के अन्त में सूचित की गई है।[१८] कल्प नं० ६३ मे जो वास्तव मे ग्रन्थ की अन्त्य प्रशस्ति है, ग्रन्थ समाप्ति की तिथि भी सन् १३३२ ई० प्राप्त होती है। उक्त ६३ कल्पो में से ४० प्राकृत भाषा मे रचित है और शेष २३ संस्कृत में।

---

१०. वही, पृ० ३६२-३६३; विन्सेंट स्मिथ-आक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया, पृ० ३०१
११. देखिए हमारी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें।
१२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ३३५
१३. वही, पृ० ३३५-३३६; शेषगिरि राव : आन्ध्र-कर्नाटक जैनिज्म
१४. प्रमुख ऐति० जैन, पृ० १९१
१५. 'विविध तीर्थकल्प', मुनि जिन विजय द्वारा सम्पादित तथा सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९३४ ई० में विश्वभारतीय सिंघी जैन ज्ञानपीठ शांति निकेतन द्वारा प्रकाशित।
१६. वही, पृ० १०९
१७. वही, पृ० २३
१८. वही, पृ० ७७

ग्रंथ का कल्प संख्याक ५३, 'आमरकुण्ड पद्मावती देवी कल्प'[१९] है जो संस्कृत भाषा मे निबद्ध है और स्वयं ग्रन्थकार आचार्य जिनप्रभसूरि विरचित है, किन्तु इस कल्प के रचनाकाल का कोई सकेत उसमे नही है। ग्रथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप मे 'तिलङ्ग'[२०] नामक जनपद के आभूषण, अमरकुण्ड नामक सुन्दर नगर मे गिरिशिखर पर स्थित भवन (देवालय) के मध्य भाग मे विराजमान पद्मिनीदेवी (पद्मावती देवी) की जय मनाई है। तदनन्तर समस्त गुणगणों के आकर, आन्ध्रदेश के आमरकुण्ड नगर के सौन्दर्य का वणन किया है। अनेक रमणीक भवनों एव प्रासादों की सुव्यवस्थित पंक्तियो से सुसज्जित, नानाविध वृक्षों से भरे उद्यानो एवं वाटिकाओं से अलंकृत, निर्मल जलपूरित सरोवरों से शोभित, शत्रुओं को शोभित करने वाले दुर्गम दुर्ग से युक्त इस उत्तम नगर का कहां तक वर्णन करें ? उसकी पण्यबीथिया (बाजार) करवीर आदि सुगन्धित पुष्पों से, मीठे इक्षुदण्डों, मोटे-मोटे केलों, चङ्ग नारङ्ग, सहकार, पनस, पुन्नाग, नागवल्ली, पूग, उत्तम नारिकेल आदि स्वादु खाद्य फलों से जो ऋतु-ऋतु मे फलते है और दशो दिशाओं को सुवासित करते थे, उत्तम शालि-धान्यादि, पट्टांशुक (रेशमी वस्त्रों) मुक्ताओ एव नानाविध रत्नों से भरी हुई थी। इस देश की यह राजधानी 'मुरंगल'[२१] तथा 'एकशिलापत्तन' नामो से प्रसिद्ध थी। नगर के निकट सब ओर से रमणीक; अपने सौन्दर्य से पर्वराज सुमेरु का गर्व खर्व करने वाला, पृथ्वी का अलकार विष्णुपदचुम्बिशिखर ऐसा एक पर्वत था। उसके ऊपर ऋषभ, शान्तिनाथ आदि जिनेन्द्रो की प्रतिमाओ से अलंकृत, मनुष्यो के हृदयो को आह्लादित करने वाले जिनालय विद्यमान थे। उस पवित्र जिनालय मे, सर्व प्रकार के छद्म से मुक्त जिनका मन था, जिनका हृदय विषयसुख वांछा से क्षुभित नहीं था, जो सहृदय जनों के हृदयों को आह्लादित करते थे, कामविजेता थे, जिन्होंने विस्मयकारी चरणचर्या से पद्मावती देवी को स्ववश करके सिद्ध कर लिया था—उसका इष्ट प्राप्त कर लिया था, ऐसे मेघचन्द्र नाम के अनेकान्ती दि० व्रतिपति अपने शिष्य समुदाय के साथ निवास करते थे। एकदा श्रावकगोष्ठी की प्रार्थना पर उन्होने किसी अन्य स्थान के लिए विहार किया। कुछ ही दूर चले थे कि अपने हाथ में अपनी पुस्तक (जो हस्ताभरण रूप ही थी) न देखकर बोले कि अहा ! प्रमादवश वह अपनी पुस्तक पीछे मन्दिर में ही भूल आए है। अस्तु, उन्होंने माधवराज नामक अपने एक क्षत्रियजातीय छात्रशिष्य को उक्त पुस्तक को लाने के लिए भेजा। वह छात्र दौड़ा-दौड़ा मठ मे गया, किन्तु भीतर पहुचने पर उसने देखा कि अद्भुत रूपवती कल्याणी स्त्री उक्त पुस्तक को अपनी गोद मे रखे बैठी है। उस अक्षुब्धचेता निर्भीक युवक ने स्त्री की जघा पर से पुस्तक उठानी चाही तो क्या देखा कि पुस्तक तो स्त्री के कंधे पर रखी है। तब उस छात्र ने उक्त स्त्री को माता मानकर पुत्रवत् उसकी गोद मे पैर रक्खा और पुस्तक उसके कन्धे पर से उतार ली। देवी ने यह जानकर कि यह युवक राज्यारोहण करेगा, उससे कहा कि 'वत्स ! मैं तेरी साहसिकता को देखकर सन्तुष्ट हुई। जो चाहे, वर मांग।' छात्र ने उत्तर दिया 'मेरे जगद्वन्द्य गुरुदेव ही मेरे समस्त मनोरथो को पूर्ण करने मे समर्थ है, फिर मैं और क्या चाहूं ? और पुस्तक लेकर वह गुरु की सेवा मे आ उपस्थित हुआ, तथा मन्दिर मे जो घटा था वह भी कह सुनाया। तब उन क्षपणक गणाधिपति ने कहा 'भद्र ! वह

१९. वही पृ० ६८-६६

२०. आन्ध्रदेश का यह भाग—तेलंग—तेलगाना कहलाता रहा है, किन्तु इस नाम का प्राचीन मूलरूप त्रिकलिंग रहा प्रतीत होता है। एक त्रिकलिंगाधिपति की पूर्वी समुद्रतट पर स्थित राजधानी रत्नसंचयपुर मे अकलक देव का बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ हुआ था।

२१. ग्रन्थ मे नगर का नाम पाठ 'मुरगल' मिलता है, जबकि उसका सुप्रसिद्ध नाम वार .ल है। सम्भव है विविधतीर्थकल्प का मूलपाठ 'उरंगल' रहा होगा। स्वय वारंगल भी मूल नाम 'ओरुक्कुल' का अपभ्रष्ट रूप है (ओरुक्कुल-उरुकुल-उरगल-ओरगल-वारगल) और उसका अर्थ तेलुगु भाषा में एकाकी पर्वत होता है, जैसाकि स्मिथ साहब ने लिखा है (आक्सफोर्ड हि० इ०, पृ० २८६ फुटनोट); सम्भवतया इसी कारण उक्त नगर का अपर नाम 'एकशैलगिरि', एकशिलापत्तन या एकशैलपुर प्रसिद्ध रहा।

कोई सामान्य स्त्री नहीं थी, वरन् वे तो स्वयं भगवती पद्मावती देवी थीं जो तुझे प्रत्यक्ष हुईं। मैं तुझे एक पत्र लिखकर यह पत्र देता हूं तू तुरन्त वापस जा और देवी को वह पत्र दिखाना।' गुरु का आदेश मानकर वह पत्र सहित फिर मठ में पहुचा और पत्र देवी को समर्पित कर दिया। उसमे लिखा था कि 'मुझे अष्ट सहस्र हाथी, नव कोटि पदाति, एक लक्ष रथाश्व और विपुल कोश प्रदान करो।' भगवती ने पत्र पढ़कर उस युवक को एक अत्यन्त तेजस्वी अश्व दिया और कहा कि 'तुझे जो पत्र में लिखा है, प्राप्त होगा, यदि तू घोड़े पर चढ़कर द्रुतवेग से चला जाएगा और पीछे मुड़कर नहीं देखेगा।'' उसने ऐसा ही किया, किन्तु बारह योजन ही जा पाया था कि पीछे घटे-घड़ियाल आदि का तुमुलरव सुना और कौतूहल-वश पीछे मुड़कर देखने लगा। घोड़ा वहीं स्थिर हो गया। यही उसके राज्य की अन्तिम सीमा हो गई।

तदनन्तर उस परम जैन माधवराज ने नगर में प्रविष्ट होकर देवी के भवन मे जाकर उसकी पूजा की। फिर आनमत्कुण्ड या आमरकुण्ड[२२] नगर मे आकर राज्यलक्ष्मी का उपभोग और प्रजा का पालन न्यायपूर्वक किया। उसने इष्टदेवी पद्मावती का स्वर्णमयी दण्ड-कलश-ध्वजादि से चमचमाता, ऊचे शिखर वाला मनोरम प्रासाद बनवाया और भक्तिपूर्वक देवी की नित्य पूजा होने लगी।

जिनप्रभसूरि कहते है कि भुवनव्यापी महात्म्य और अमन्द तेजवाला भगवती का वह मन्दिर आज भी वहां विद्यमान है और भव्यजन उसकी पूजा भी करते है। किन्तु मन्दिर तक पहुंचने के लिए पर्वत की एक गंभीर गुफा को पार करना पड़ता है। गुफाद्वार पर एक भारी विशाल शिलापट्ट लगा है जिसके कारण हर कोई उसमें प्रवेश नहीं पा सकता। जो विशिष्ट बलशाली एवं साहसी है वे ही शिलाद्वार खोलकर भीतर जाते है और देवी सदन में भगवती की भक्तिपूर्वक उपासना करते है। अन्य गुफाद्वार पर ही देवी की पूजा करके अपने मनोरथ सिद्ध करते है।

उक्त माधवराज कंकति ग्राम[२३] का निवासी था। उसके वंशज-पुरटिरित्तमराज-पिण्डिकुण्डिराज-प्रोल्लराज रुद्रदेव-गणपतिदेव की पुत्री रुद्रमहादेवी, जिसने पैंतीस वर्ष राज्य किया, उसके पश्चात् प्रताप-रुद्रये प्रसिद्ध काकतीय नरेश हुए हैं। यह आरामकुण्ड की पद्मावती का जिन-प्रभसूरि ने जैसा सुना (*यथाश्रुतम्*) वैसा ही लिखा है।

सम्भव है कि उल्लेखित गुफाद्वार के शिलापट्ट पर देवी के अतिशय का उपरोक्त विवरण अंकित रहा हो।

अंतिम राजा प्रतापरुद्र ने १२९६ से १३२६ ई० तक राज्य किया था और उसके पूर्व उसकी मातामही रुद्र महादेवी ने १२६१ से १२९६ तक राज्य किया था। सन् १३०८-९ मे अलाउद्दीन खिलजी की सेनाओ ने वारंगल पर आक्रमण किया और लूटपाट की थी और १३२१-२२ मे जूनाखाँ (मुहम्मद बिन तुगलक) ने तो राजा को हराकर बन्दी बना लिया था, किन्तु फिर राज्य का कुछ भाग और बहुत-सा धन लेकर छोड़ दिया था। इससे लगता है कि जिनप्रभसूरि ने इस कल्प की रचना १३०० और १३०८ ई० के बीच किसी समय की थी। अतएव उनका यह विवरण बहुत कुछ समसामयिक है। एक जीवित समकालीन राज्य एवम् राज्यवंश के सम्बन्ध में ततःप्रचलित एव लोकप्रसिद्ध अनुश्रुति को आचार्य ने निबद्ध किया है, अतएव उसकी ऐतिहासिकता

(शेष पृ० १३६ पर)

२२. आरामकुण्ड—आमरकुण्ड—आनमकुण्ड से अभिप्राय आन्ध्रदेश के प्रसिद्ध एवं अतिप्राचीन जैन केन्द्र रामकोण्ड अपरनाम रामतीर्थ या रामगिरि से रहा प्रतीत होता है। तेलुगु भाषा की अनभिज्ञता से 'कोण्ड' का कुण्ड हो गया और प्रतिलिपिकारों ने 'राम' का आराम, आमर, आममत् आदि कर दिया। 'रामकोण्ड' के लिए देखें हमारी जैना सोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेंट इण्डिया, पृ० २०३

२३. भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित भारतीय इतिहास (भाग ५, पृ० १९८) मे इस ग्राम का नाम काकतिपुर दिया है और कारिकलचोल को इसका मूल निर्माता बताया है; काकातीय वंश का अपर-नाम दुर्जय वंश दिया है और उसे शूद्रजातीय बताया है; जो वंशावली ही उसमे भी विविधतीर्थकल्प में उल्लिखित प्रथम तीन नाम नही है, शेष है, बल्कि कुछ अतिरिक्त भी।

# जैन साहित्य और शिल्प में वाग्देवी सरस्वती

□ श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

संगीत, विद्या और बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती भारतीय देवियों में सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। भारतीय देवियों मे केवल लक्ष्मी (समृद्धि की देवी) एवं सरस्वती ही ऐसी देवियां है जो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों प्रमुख धर्मों में समान रूप से लोकप्रिय रही है। ब्राह्मण धर्म में सरस्वती को कभी ब्रह्मा की (मत्स्यपुराण) और कभी विष्णु की (ब्रह्मवैवर्तपुराण) शक्ति बताया गया है। ब्रह्मा की पुत्री के रूप में भी सरस्वती का उल्लेख किया गया है। बौद्धों ने प्रारम्भ में सरस्वती की पूजा बुद्धि की देवी के रूप मे की थी, पर बाद में उसे मंजुश्री की शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया। ज्ञातव्य है कि मंजुश्री बौद्धदेव-समूह के एक प्रमुख देवता रहे है। जैनों में भी सरस्वती प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रही है, जिसके पूजन की प्राचीनता के हमें साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त होते है।

प्रारंभिक जैन ग्रन्थो मे सरस्वती का उल्लेख मेधा और बुद्धि की देवी के रूप में किया गया है, जिसे अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करने वाली बताया गया है। संगीत, ज्ञान और बुद्धि की देवी होने के कारण ही संगीत ज्ञान और बुद्धि से सम्बधित लगभग सभी पवित्र प्रतीकों (श्वेत रंग, वीणा, पुस्तक, पद्म, हंसवाहन) को उससे सम्बद्ध किया गया था। जैन ग्रन्थों में सरस्वती का अन्य कई नामों से स्मरण किया गया, यथा श्रुतदेवता, भारती, शारदा, भाषा, वाक्, वाक्देवता, वागीश्वरी, वाग्वाहिनी, वाणी और ब्राह्मी। उल्लेखनीय है कि जैनों के प्रमुख उपास्य देव तीर्थंकर रहे है, जिनकी शिक्षाएँ 'जिनवाणी', 'आगम' या 'श्रुत' के रूप में जानी जाती थीं। जैन आगम ग्रंथों के संकलन एवं लिपिबद्धीकरण का प्राथमिक प्रयास लगभग दूसरी शती ई० पू० के मध्य में मथुरा में प्रारम्भ हुआ था। ऐसी धारणा है कि मथुरा में प्रारम्भ होनेवाले सरस्वती-आन्दोलन के कारण ही जैन आगमिक ज्ञान का लिपिबद्धीकरण प्रारम्भ हुआ था और उसके परिणामस्वरूप ही आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे सरस्वती को उसका प्रतीक बनाया गया और उसकी पूजा प्रारम्भ की गई। आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी होने के कारण ही उसकी भुजा मे पुस्तक के प्रदर्शन की परम्परा प्रारम्भ हुई। मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त सरस्वती की प्राचीनतम जैन प्रतिमा मे भी देवी की एक भुजा मे पुस्तक प्रदर्शित है। कुषाणयुगीन उक्त सरस्वती मूर्ति (१३२ ई०) सम्प्रति राजकीय सग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे-२४) मे संकलित है।

**साहित्य में** :

अंगविज्जा, पउमचरिउ और भगवतीसूत्र जैसे प्राचीन जैन ग्रंथों मे सरस्वती का उल्लेख मेधा और बुद्धि की देवी के रूप मे है। **एकाणसा सिरी बुद्धी मेधा कित्ती सरस्वती।** (अंगविज्जा, अध्याय ५८)।

देवी के लाक्षणिक स्वरूप का निर्धारण आठवीं शती ई० में ही पूर्णता प्राप्त कर सका था। आठवी शती ई० के ग्रन्थ चतुर्विंशतिका (बप्पभट्टिकसूरिकृत) मे हंसवाहना सरस्वती को चतुर्भुज बताया गया है, और उसकी भुजाओ में अक्षमाला, पद्म, पुस्तक एवं वेणु के प्रदर्शन का निर्देश है। वेणु का उल्लेख निश्चित ही अशुद्ध पाठ के कारण हुआ है। वास्तव में इसे वीणा होना चाहिए था।

**प्रकटपाणितले जपमालिका कमलपुस्तकवेणुवराधरा।**
**धवलहंससमा श्रुतवाहिनी हरतु मे दुरितं भुविभारती ॥**
—**चतुर्विंशतिका**

दशवी शती ई० के ग्रन्थ निर्वाणकलिका (पादलिप्तसूरिकृत) मे समान विवरणों का प्रतिपादन किया गया है। केवल वेणु के स्थान पर वरदमुद्रा का उल्लेख है। १४१२ ई० के ग्रंथ आचारदिनकर (वर्धमानसूरिकृत) में

भी समान विवरणों का उल्लेख है। केवल वरदमुद्रा के स्थान पर वीणा के प्रदर्शन का निर्देश है।

**भगवती वाग्देवते वीणापुस्तकमौक्तिक क्षवलयश्वेताब्ज-**
**मण्डितकरे।** —**आचारदिनकर**

श्वेताम्बर ग्रंथो के विपरीत दिगम्बर ग्रन्थ प्रतिष्ठा-तिलकम् (१५४३ ई०) में सरस्वती का वाहन मयूर बताया गया है। प्रतिमानिरूपण सम्बन्धी ग्रंथो के अध्ययन से स्पष्ट है कि हंसवाहना (कभी-कभी मयूरवाहना) सरस्वती चतुर्भुजा होंगी और उनके करो मे मुख्यत: पुस्तक, वीणा तथा पद्म प्रदर्शित होगा।

**मूर्त अंकनों में :**

जैन परम्परा मे सरस्वती की मूर्तियों का निर्माण कुषाण-युग से निरन्तर मध्ययुग (१२वी शती ई०) तक सभी क्षेत्रों मे लोकप्रिय रहा है। मूर्त चित्रणो मे सरस्वती को मुख्यत तीन स्वरूपो मे अभिव्यक्त किया गया है—द्विभुज, चतुर्भुज और बहुभुज। ग्रथों के निर्देशों के अनुरूप ही मूर्त अंकनो मे सरस्वती का वाहन हंस (या मयूर) है और उनकी भुजाओं मे मुख्यत: वीणा, पुस्तक एवं पद्म प्रदर्शित है। सरस्वती को या तो पद्म पर एक पैर लटकाकर ललित मुद्रा मे आसीन निरूपित किया गया है, या फिर स्थानक मुद्रा मे खड़े रूप मे।

सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कुषाणकाल (१३२ ई०) की है, जो मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त हुई है। जन परम्परा की यह सरस्वती-मूर्ति भारतवर्ष मे सरस्वती-प्रतिमा का प्राचीनतम ज्ञात उदाहरण है। द्विभुज सरस्वती को दोनों पैर मोडकर पीठिका पर बैठे दर्शाया गया है। देवी का मस्तक और दक्षिण भुजा भग्न है। देवी की वामभुजा मे पुस्तक प्रदर्शित है। भग्न दक्षिण भुजा मे अक्षमाला के कुछ मनके स्पष्ट दिखाई पड़ते है। सरस्वती के दोनों पार्श्वों मे दो उपासक आमूर्तित है, जिनमे से एक की भुजा मे घट प्रदर्शित है और दूसरा नमस्कारमुद्रा मे अवस्थित है। उल्लेखनीय है कि इस मूर्ति के बाद आगामी लगभग ४५० वर्षों तक, यानी गुप्तवश की समाप्ति तक, जैन परम्परा की एक भी सरस्वती-मूर्ति प्राप्त नही होती। सरस्वती-मूर्ति का दूसरा उदाहरण सातवी शती ई० का है। राजस्थान के वसतगढ़ नामक स्थान से प्राप्त मूर्ति में द्विभुज सरस्वती को स्थानक मुद्रा मे पद्मासन पर आमूर्तित किया गया है। पद्मासन के दोनो ओर मंगल-कलश उत्कीर्ण हैं। सरस्वती की भुजाओ मे पद्म और पुस्तक प्रदर्शित है। सरस्वती भामण्डल, हार, एकावली एव अन्य सामान्य अलंकरणो से सज्जित है। द्विभुज सरस्वती की एक अन्य मूर्ति राजस्थान के ही राणकपुर जैन मन्दिर (जिला पाली) से प्राप्त है। इसमे सरस्वती को दोनों हाथो से वीणावादन करते हुए दर्शाया गया है। समीप ही हंसवाहन उत्कीर्ण है।

सरस्वती की संगमरमर की एक मनोहारी प्रतिमा राजस्थान के गगानगर जिले के पल्लू नामक स्थान में है। १०वी-११वी शती ई० की इस मूर्ति मे चतुर्भुज सरस्वती को साधारण पीठिका पर खड़ा दर्शाया गया है। पीठिका पर हंसवाहन और हाथ जोड़े उपासक आकृतियां निरूपित है। अलंकृत कांतिमण्डल से युक्त देवी के शीर्ष भाग मे तीर्थंकर की लघु आकृति उत्कीर्ण है। देवी ऊर्ध्व दक्षिण और वाम करो मे क्रमश: सनालपद्म और पुस्तक प्रदर्शित है, जब कि निचले करों में वरद-अक्षमाला और कमण्डल स्थित है। सरस्वती के दोनों पार्श्वों में वेणु और वीणावादिनी स्त्री आकृतियाँ आमूर्तित हैं। सरस्वती मूर्ति के दोनों पार्श्वों और शीर्ष भाग मे अलंकृत तोरण उत्कीर्ण है, जिस पर जैन तीर्थकरों, महाविद्याओ, गन्धर्वों और गज-व्यालो की आकृतियाँ उत्कीर्ण है। देवी कई प्रकार के हारों, करण्डमुकुट, वनमाला, धोती, बाजूबन्द, मेखला, कगन और चूड़ियो जैसे अलंकरणो से सुशोभित है। मूर्ति सम्प्रति बीकानेर के गगा गोल्डेन जुबिली संग्रहालय (क्रमांक २०३) मे है। समान विवरणो वाली कई मूर्तियाँ खजुराहो (मध्यप्रदेश), तारगा (गुजरात) एव विमल-वसही और सेवाड़ी (राजस्थान) जैसे जैन स्थलो मे है। ऐसी एक मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (क्रमांक-१।६।२७८) में भी शोभा पा रही है।

झांसी जिले के अन्तर्गत देवगढ़ मे भी ग्यारहवी शती ई० की एक मनोज्ञ सरस्वती-मूर्ति है। जटामुकुट से सुशोभित चतुर्भुज सरस्वती स्थानक मुद्रा मे सामान्य पीठिका पर खड़ी है। सरस्वती की भुजाओ मे अक्षमाला-व्याख्यानमुद्रा, पद्म, वरदमुद्रा और पुस्तक प्रदर्शित है।

मूर्ति के शीर्ष भाग मे तीन लघु तीर्थंकरमूर्तियां और पार्श्वों मे चार सेविकाएँ ग्रामूर्तित हैं। सरस्वती की दो मूर्तियां ब्रिटिश संग्रहालय मे भी संकलित है। राजस्थान से प्राप्त ११वी-१२वी शती ई० की पहली मूर्ति मे चतुर्भुज सरस्वती त्रिभंग मे खडी है। देवी की दो अवशिष्ट वाम भुजाओं में अक्षमाला और पुस्तक प्रदर्शित है। शीर्ष भाग में पांच लघु तीर्थंकर-मूर्तियां एव पीठिका पर सेवक और उपासक ग्रामूर्तित है। दूसरी मूर्ति संवत् १०६१ (१०३४ ई०) मे तिथ्यकित है। लेख मे स्पष्टत. वाग्देवी का नाम खुदा है। बड़ोदा-सग्रहालय की ११वीं-१२वी शती ई० की हसवाहना चतुर्भुज सरस्वती-मूर्ति मे देवी के हाथों मे वीणा वरद-अक्षमाला, पुस्तक एव जलपात्र प्रदर्शित है। पार्श्ववर्ती चामरधारिणी सेविकाओं से सेव्यमान सरस्वती विभिन्न अलकरणों से सज्जित है।

राणकपुर की चतुर्भुज मूर्ति में देवी को ललित मुद्रा में आसीन दिखाया गया है। देवी की भुजाओं मे अक्षमाला, वीणा, अभयमुद्रा और कमण्डलु है। एक अन्य उदाहरण मे चतुर्भुज सरस्वती हस पर आरूढ़ हैं और उनकी एक भुजा मे अभयमुद्रा के स्थान पर पुस्तक है। चतुर्भुज सरस्वती की एक सुन्दर प्रतिमा राजपूताना संग्रहालय, अजमेर में है। बासवाडा जिले के अर्थुणा नामक स्थान से प्राप्त मूर्ति मे देवी वीणा, पुस्तक, अक्षमाला और पद्म धारण किए है। समान विवरणों वाली मूर्तियां कुंभारिया के नेमिनाथ एवं पाटण के पचासर मन्दिरों (गुजरात) और विमलवसही में है। विमलवसही की एक चतुर्भुज मूर्ति मे हसवाहना सरस्वती की तीन अवशिष्ट भुजाओं में पद्म, पद्म और पुस्तक है। चतुर्भुज सरस्वती की १३वीं शती ई० की एक स्थानक मूर्ति हैदराबाद संग्रहालय में है। हंसवाहना देवी के करों मे पुस्तक, अक्षमाला, वीणा और अंकुश (या वज्र) है। परिकर मे उपासक और तीर्थंकर पार्श्वनाथ की आकृतियां उत्कीर्ण है। राजस्थान के भरतपुर जिले के बयाना नामक स्थान से प्राप्त चतुर्भुज मूर्ति में देवी का वाहन मयूर है। देवी के करों में पद्म, पुस्तक, वरद और कमण्डलु है।

सरस्वती की बहुभुजी मूर्तियों के उदाहरण मुख्यतः गुजरात (तारंगा) और राजस्थान (विमलवसही एवं लूणवसही) के जैन स्थलों में है। षड्भुज सरस्वती की दो मूर्तियां लूणवसही मे है। दोनो उदाहरणों मे सरस्वती हंस पर आसीन है। एक मूर्ति में देवी की पांच भुजाएँ खण्डित हैं और अवशिष्ट एक भुजा में पद्म है। दूसरी मूर्ति में दो ऊपरी भुजाओ में पद्म प्रदर्शित है, जब कि मध्य की भुजाएं ज्ञानमुद्रा में है। निचली भुजाओं में अभयाक्ष और कमण्डलु चित्रित है। अष्टभुज सरस्वती की हंसवाहना मूर्ति तारंगा के अजितनाथ मन्दिर में है। त्रिभग में खड़ी देवी के ६ अवशिष्ट करों मे पुस्तक, अक्षमाला, वरदमुद्रा, पद्म, पाश एव पुस्तक प्रदर्शित है। सरस्वती की एक षोडशभुज मूर्ति विमलवसही के वितान पर उत्कीर्ण है। नृत्यरत पुरुष आकृतियो से आवेष्टित देवी भद्रासन पर आसीन है। देवी के अवशिष्ट हाथों में पद्म, शंख, वरद, पद्म, पुस्तक और कमण्डलु प्रदर्शित हैं। हंसवाहना देवी के शीर्ष भाग में तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण है।

□ □ □

(पृ० १३३ का शेषांश)

में सन्देह नही होना चाहिए—विस्तारों और घटनाओं के वर्णन में कथंचित् पौराणिकता या अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु वारंगल के काकातीय राज्य के संस्थापक माधवराज के, जिसका अपरनाम सम्भवतया बेतराज था,[24] परम जैन होने और स्वगुरु दिगम्बराचार्य मेघचन्द्र के आशीर्वाद, प्रेरणा एवं सहायता से राज्य स्थापन करने वाला तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विश्वसनीय है।

□ □

२४. भा० वि० भवन वाले इतिहास में वंश के सर्वप्रथम ज्ञात नरेश का नाम 'बेत' दिया है और उसका समय १०२५ ई० के लगभग अनुमान किया है। अतएव या तो माधवराज का ही अपरनाम बेत होगा, अथवा वह बेत का पूर्वज होगा, और इस प्रकार आचार्य मेघचन्द्र, माधवराज, काकातीय और उक्त राज्य की स्थापना सन् १२०५ ई० के आसपास होनी चाहिए।

# उज्जयिनी की दो अप्रकाशित महावीर प्रतिमाएं

□ डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन

भगवान् महावीर के जीवन-काल मे ही उज्जयिनी पश्चिमी भारत के एक महान् सांस्कृतिक नगर के रूप मे प्रमुख व्यापारिक स्थल बन चुका था। जैन ग्रन्थों मे कहा गया है कि भगवान् महावीर ने उज्जयिनी मे कठोर तपस्या की थी और रुद्र ने अपनी पत्नी सहित इनकी तपस्या भंग करने का निष्फल प्रयास किया था। यद्यपि विद्वानों का मत है कि भगवान महावीर अपने भ्रमण मे कभी भी उज्जैन नहीं आये थे, फिर भी यदि प्रतीकात्मक अर्थ लिया जाय तो यह स्पष्ट है कि महावीर के चलाये जैन धर्म को यहां बड़ी साधना से प्रस्थापित किया गया और पूर्व के प्रचलित शैव धर्म ने बाधा डाली, पर वह इस धर्म के चतुर्दिक प्रसार में रोक न लगा सका और जैन धर्म निर्बाध प्रसारित हुआ। मौर्यकाल में संप्रति द्वारा इसे राज्याश्रय में मिलकर और फैलाव मिला और यहीं से वह दक्षिण भारत की ओर बढ़ा व दक्षिण भारत मे भी पर्याप्त विकसित हुआ।

जैन परम्पराओं मे उज्जैन के शासक चंडप्रद्योत को जैन धर्मानुयायी व जैन धर्म का कुसुम कहा गया है। डा. एस. बी. देव के अनुसार, मौर्य सम्राट् संप्रति ने पूर्ण उत्साह लेकर जैन धर्म का विस्तार पूर्वी भारत से हटाकर मध्य व पश्चिमी भारत मे किया और एक प्रकार से उज्जयिनी को ही उसका केन्द्र-बिंदु बनाया और दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रसारित होने का मार्ग खोल दिया[1]। संप्रति ने आचार्य सुहस्तिन के मार्गदर्शन मे उज्जयिनी से जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया। उज्जयिनी के ही परम्पराश्रुत एवं अनेक कथाओं के नायक विक्रमादित्य ने सिद्धसेन दिवाकर के द्वारा जैन-धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् जैन धर्म के प्रसार में विशेष योगदान दिया। संपूर्ण प्राचीन मालवा मे जैन धर्म का प्रसार उज्जयिनी से ही सम्पन्न हुआ। और यह समृद्ध काल ९वी से १३वी शताब्दी तक अपनी चरम सीमा पर रहा। १३वी शताब्दी में उज्जयिनी का देवधर जैन-संघ का प्रधान था। इससे पुष्टि होती है कि उस समय उज्जैन जैन प्रचार का प्रधान केन्द्र था। उज्जैन जिले के लगभग ४० स्थल मैंने व पुरातत्त्ववेत्ता पद्मश्री डा० विष्णु श्रीधर वाकणकर ने खोजे हैं। जहां जैन मंदिर व तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं, प्रायः सभी प्रतिमाएं अप्रकाशित हैं। इन स्थानों में जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से निम्नलिखित स्थान महत्त्वपूर्ण हैं:—

१. उन्हेल २. रुणीजा ३. महतपुर ४. झारड़ा ५. धुलेद ६. कायदा ७. खाचरोद ८. विक्रमपुर ९. हासामपुरा १०. इंदोख ११. मक्सी १२. सोढ़ंग १३. करेड़ी १४. सुंदरसी १५. इंगोरिया १६. दंगवाड़ा १७. खरसोद १८. नरवर. १९. ताजपुर. २०. टुकराल. २१. जैथल. २२. पानबिहार[2]।

उज्जैन में अखिल भारतीय दिगम्बर सभा के तत्वावधान में एक जैन-मूर्ति संग्रहालय की स्थापना सन् १९३० में की गई और निकटवर्ती स्थानो से जैन अवशेष एकत्रित किये गये। इसमें प० सत्यंधर कुमार जी सेठी का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। अब यह संग्रहालय ५८० मूर्तियों से सम्पन्न है। यहां की दो अप्रकाशित भगवान् महावीर प्रतिमाओं का विवरण यहा पर दिया जा रहा है।

संग्रहालय की मूर्ति क्रमांक ८३ में प्रथम प्रतिमा है। संपूर्ण संग्रहालय की तीर्थंकर प्रतिमाओं में यह विशेष कलात्मक है। भगवान् महावीर पद्मासन मे बैठे है। नेत्र उन्मीलित हैं और मुखाकृति पर सौम्य भाव व गहन

(शेष पृ० १४० पर)

१. डा. एस. बी. देव: हिस्ट्री आफ जैन मोनाकिज्म, पृ. ९२.

२. प्राच्य विद्या निकेतन, बिड़ला म्यूजियम, भोपाल द्वारा आयोजित जैन सेमिनार में पढ़ा गया डा. वाकणकर का शोधलेख।

# कर्णाटक में जैन शिल्पकला का विकास

□ श्री शिवकुमार नामदेव

कर्णाटक मे जैन धर्म के अस्तित्व का प्रमाण प्रथम सदी ई० पू० से ११वी सदी ई० तक ज्ञात होता है। तत्पश्चात् वहाँ वीरशैव मत का प्रचार हुआ। होयसल आदि वंश के नरेश इस मत के प्रबल समर्थक थे। पूर्वकालीन जैन देवालय एवं गुफाएँ ऐहोल, बादामी एव पट्टडकल आदि स्थलो मे उपलब्ध होती है। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त लकुण्डी (लोकिगुडी), बंकपुर, बेलगाम, हल्शी, बल्लिगवे, जलकुण्ड आदि मे भी जैन देवालय है। ये देवालय विभिन्न देव-प्रतिमाओ से विभूषित है। इन देवालयों में श्रवणबेलगोल का शांतिनाथ मदिर, हलेविद का पार्श्वनाथ मंदिर एवं अगदि का मल्लिनाथ मदिर उल्लेखनीय है। इस काल की बृहदाकार प्रतिमाएं श्रवणबेलगोल, कार्कल एवं बेनूर मे है।

कर्णाटक के हायलेश्वर देवालय से दो फर्लांग की दूरी पर जैनों के तीन मदिर है जिनमे चौबीस तीर्थकरो की प्रतिमाएँ संरक्षित है।

कर्णाटक में पद्मावती सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षी रही है।[1] यद्यपि पद्मावती का सम्प्रदाय काफी प्राचीन रहा है, परन्तु दसवीं सदी के पश्चात् के अभिलेखीय साक्ष्यों में निरंतर पद्मावती का उल्लेख प्राप्त होता है। कर्णाटक के विभिन्न स्थलों से ग्यारहवीं सदी से तेरहवी सदी के मध्य की कई प्रतिमाएँ उपलब्ध होती है।[2] धारवाड जिले मे ही मल्लिसेन सूरि ने 'भैरव-पद्मावतीकल्प' एवं 'ज्वालिनीकल्प' जैसे तांत्रिक ग्रन्थों की रचना की थी, जो पद्मावती एवं ज्वालिनी की विशेष प्रतिष्ठा की सूचक है।[3]

कन्नड क्षेत्र से प्राप्त पार्श्वनाथ-मूर्ति (१०वी-११वीं सदी) मे एक सर्पफण-युक्त पद्मावती की दो भुजाओ में पद्म एव अभय प्रदर्शित है।[4] कन्नड शोध संस्थान संग्रहालय की पार्श्वनाथ-मूर्ति मे चतुर्भुज पद्मावती पद्म, पाश, गदा या अंकुश एव फल धारण किए हुए है।[5] उक्त संग्रहालय मे चतुर्भुजी पद्मावती की ललितमुद्रासीन दो स्वतंत्र मूर्तियाँ भी सुरक्षित है। प्रथम प्रतिमा (के० एम० ८४) मे सर्पफण से मडित यक्षी का वाहन कुक्कुट-सर्प है। यक्षी की दोनो दक्षिण भुजाएं खडित है एवं वाम मे पाश एवं फल प्रदर्शित है। प्रतिमा के किरीट (मुकुट) मे लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है।[6] द्वितीय प्रतिमा मे पांच सर्पफणों से सुशोभित पद्मावती की भुजाओं मे फल, अंकुश, पाश एवं पद्म प्रदर्शित है। यक्षी का वाहन हंस है।[7] बादामी की पाँचवी गुहा के समक्ष की दीवार पर भी ललितमुद्रा में आसीन चतुर्भुज यक्षी आमूर्तित है। आसन के नीचे उत्कीर्ण वाहन सभवत हस या क्रौच है। सर्पफण से विहीन यक्षी के करों मे अभय, अंकुश, पाश एवं फल प्रदर्शित है।[8]

कर्णाटक से उपलब्ध तीन चतुर्भुजी पद्मावती की प्रतिमाएँ सम्प्रति प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बंबई मे हैं।[9] तीनों उदाहरणो मे एक सर्पफण से सुशोभित पद्मावती ललितमुद्रा मे विराजमान है। पहली मूर्ति मे यक्षी की तीन अवशिष्ट भुजाओ मे पद्म, पाश एव अंकुश प्रदर्शित है।

१. जैनिज्म इन साउथ इडिया—देसाई, पी० बी०, पृ० १६३।

२. वही, पृ० १६३। ३. वही, पृ० १०।

४. नोट्स आन टू जैन मेटल इमेजेज : हाडवे, डब्ल्यू. एस., रूपम., अक १७, जनवरी १९२४, पृ० ४८-४९

५. ए गाइड टू द कन्नड रिसर्च इंस्टिट्यूट म्यूजियम, धारवाड़, १९५८, पृ० १९—अन्निगेरी

६. वही, पृ० १९ ७. वही

८. जैन यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, बुलेटिन डेक्कन कॉलेज—रिसर्च इंस्टिट्यूट, खंड १, १९४०, पृ० १६१ एच. डी. सांकलिया।

९. जैन यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, पृ० १५८-५९

दूसरी मूर्ति की एक अवशिष्ट भुजा में अंकुश तथा तीसरी मूर्ति में आसन के नीचे उत्कीर्ण वाहन संभवतः कुक्कुट या शुक है। यक्षा वरद, अंकुश, पाश एव सर्प से युक्त है।

बादामी में तीन ब्राह्मण गुफाओं के साथ पूर्व की ओर एक जैन गुहा भी है, जिसका निर्माण काल ६५० ई० के लगभग है। उक्त गुफा में पीछे की दीवाल में सिंहासन पर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर विराजमान हैं। उनके दोनों ओर दो चवरधारी है और बरामदे के दोनों छोरों पर क्रमशः पार्श्वनाथ एवं बाहुबली ७ फुट ऊँचे उत्कीर्ण है। इसी प्रकार, स्तंभो पर तीर्थंकर मूर्तियां उत्कीर्ण है।[१०]

बादामी की ही तरह ऐहोल में भी जैन गुफाएँ है। इसमें सहस्त्र फणयुक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण है। पार्श्वनाथ के अतिरिक्त भगवान् महावीर की भी आकृति यहाँ दृष्टिगोचर होती है। उपर्युक्त दोनो स्थल—बादामी एवं ऐहोल चालुक्य नृपतियों की राजधानी रहे है। इससे ज्ञात होता है कि चालुक्यों के काल मे निर्मित जैनकला उनके जैन धर्मावलम्बी अथवा धर्म-सहिष्णु होने का परिणाम था।

कर्णाटक मे गोम्मट की अनेक मूर्तियाँ है। चालुक्यो के काल मे निर्मित ई० सन् ६५० की गोम्मट की एक प्रतिमा बादामी मे स्थित है। तलकाडु के गग राजाओ के शासनकाल में गगराज रायमल्ल सत्यवाक्य के सेनापति व मत्री चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल मे ई० सन् ९८२ मे स्थापित विश्व-प्रसिद्ध गोम्मट मूर्ति है। यह ५७ फुट ऊँची है। मैसूर के समीप गोम्मट गिरि मे १४ फुट ऊँची एक गोम्मट प्रतिमा है जो १४वीं सदी की है। इसके समीप ही कन्नंबाड़ी (कृष्णसागर) के उस पार १२ मील की दूरी पर स्थित बसदि होस-कोटे हल्ली मे गग-कालीन गोम्मट की एक अन्य १८ फुट ऊँची प्रतिमा है। कार्कल में ४२ फुट ऊँची १५६२ ई० में वीरपाण्ड द्वारा निर्मित गोम्मट प्रतिमा है। श्रवण-बेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति की प्रेरणा से तिम्मराज अजिल ने वेणूर मे ई० सन् १६०८ मे ३५ फुट ऊँची गोम्मट मूर्ति की स्थापना कराई।

कार्कल की गोम्मट मूर्ति का निर्माण पहाड़ी शिला से हुआ है। अनुमान है कि मूर्ति का वजन करीब ४०० टन है। मूर्तिकार का असली नाम अज्ञात है। कार्कल की इस मूर्ति के निर्माण के सम्बन्ध मे 'चन्द्रम कवि' ने अपने 'गोम्मटेश्वरचरित' मे बहुत कुछ लिखा है। कार्कल के गोम्मटेश्वर प्रतिष्ठापन समारोह मे विजयनगर ने तत्का-लीन राजा द्वितीय देवराज उपस्थित थे। मूर्ति के दाहिनी ओर अकित सस्कृत लेख से ज्ञात होता है कि शालिवाहन शक १३५३ (ई० सन् १४३१-३२) में विरोधिकृत संवत् की फाल्गुन शुक्ला ११ बुधवार को, कार्कल के भैररसो के गुरु मैसूर के हनसोगे देशी गण के ललितकीर्तिजी के आदेश से चन्द्रवश के भैरव राजा के पुत्र वीर पांड्य ने इसे स्थापित किया।

वेणूर स्थित गोम्मट-मूर्ति को वहा के समीपवर्ती कल्याणी नामक स्थल की शिला से निर्मित किया गया है। श्रवणबेलगोल मे चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मट मूर्ति को देखकर तिम्मण अजिल ने अपनी राजधानी में ऐसी ही एक मूर्ति स्थापित करने का निश्चय किया और यह मूर्ति खुदवाई। मूर्ति के दाहिनी ओर उत्कीर्ण संस्कृत लेख में बताया गया है कि चामुण्डराय के वश के तिम्मराज ने श्रवणबेलगोल के अपने गुरु भट्टारक चारुकीर्ति के आदेशानुसार शालिवाहन शक १५२५ शोधकृत सवत् के गुरुवार १ मार्च १६०४ को इसका प्रतिष्ठापन कराया। मूर्ति के बायी ओर कन्नड पदो मे भी यही बात उल्लि-खित है।[११]

श्रवणबेलगोल के उत्तराभिमुख स्थित मूर्ति विश्व की प्रसिद्ध आश्चर्यजनक वस्तुओ मे से एक है। लम्बे बड़े कान, लम्बबाहु, विशाल वक्षस्थल, पतली कमर, सुगठित शरीर आदि ने मूर्ति की सुन्दरता को और अधिक बढ़ा दिया है। कायोत्सर्ग मुद्रा मे ५७ फुट ऊची तपोरत यह प्रतिमा मीलो दूर से ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

इस विशालकाय प्रतिमा के निर्माण के विषय में हमे एक अभिलेख से जानकारी उपलब्ध होती है, जो मूर्ति के पार्श्वभाग मे उत्कीर्ण है। अभिलेख से यह ज्ञात होता

१०. आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, भाग १, पृ० २५

११. कर्नाटक की गोम्मट मूर्तियां—प० के० भुजबली शास्त्री, अनेकान्त अगस्त १९७२

है कि इस प्रतिमा का निर्माण चामुण्डराज ने कराया था। चामुण्डराज गगनरेश राजमल्ल (रायमल्ल) चतुर्थ (६७४–६८४ ई०) के मंत्री और सेनापति थे। चामुण्डराज ने कन्नड भाषा में 'चामुण्डरायपुराण' की रचना की थी जिसमें उन्होंने २४ तीर्थंकरों का चरित्र वर्णित किया। इस प्रतिमा के निर्माता शिल्पी अरिष्टनेमि हैं। उन्होंने मूर्ति के निर्माण में अंगों का विन्यास ऐसे नपे-तुले ढंग से किया है कि उसमे किसी प्रकार का दोष निकालना संभव नहीं है; जैसे कर्ण का अधोभाग, विशाल स्कंध एवं आजानुबाहु। प्रतिमा के स्कंध सीधे हैं, उनसे दो विशाल भुजाएं अपने स्वाभाविक ढंग से प्रलंबित हैं। हस्त की अंगुलियां सीधी एवं अंगूठा ऊर्ध्व को उठा हुआ अंगुलियों से विलग है।

इस विशालकाय प्रतिमा का निर्माण श्रवणबेलगोल के इन्द्रगिरि के कठोर हल्के भूरे प्रस्तर से हुआ है। उत्तराभिमुख सीधी खड़ी इस दिगम्बर प्रतिमा के जानु के ऊपर का भाग बिना किसी सहारे के अवस्थित है। प्रतिमा का निर्माणकाल लगभग ६८० ई० के निकट है।

विश्व की सर्वोच्च ५७ फुट ऊँची प्रतिमा के विभिन्न अंगों के विन्यास से इसकी विशालता का स्वतः अनुमान लगाया जा सकता है—

| | फुट | इंच |
|---|---|---|
| चरण से कर्ण के अधोभाग तक ··· | ५० | ०० |
| कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक ··· | ६ | ०६ |
| चरण की लम्बाई ··· | ६ | ०० |
| चरण के अग्रभाग की चौड़ाई ··· | ४ | ०६ |
| चरण का अंगूठा ··· | २ | ०६ |
| वक्ष की चौड़ाई ··· | २ | ०६ |
| पांव की उंगली की लम्बाई ··· | २ | ०६ |
| मध्य की उँगली की लम्बाई ··· | ५ | ०३ |
| एड़ी की ऊंचाई ··· | २ | ०६ |
| कर्ण का पारिल··· ··· | ५ | ०६ |
| कटि ··· ··· | १० | ०० |

इस प्रकार प्रतिमा-निर्माण के क्षेत्र में शिल्पी ने अपूर्व सफलता पाई है। इतने भारी व कठिन पत्थर पर चतुर शिल्पी ने अपनी जो निपुणता दिखाई है उससे भारतीय शिल्पियों का चातुर्य प्रदर्शित होता है।

□□□

(पृ० १३७ का शेषांश)

चिंतन है। अलकावली सुचिक्कण व वर्तुलाकार है और ओष्ठ-भाग मे प्रस्तर के कटाव की बरीकी देखते ही बनती है। ऊपर माला लिए विद्याधर है व हर्ष व्यक्त करते किन्नर व दुंदुभिक है। मृदंग, झांझ व तुरही लिए वादक-वृंद सजीव जान पड़ते है। ऊपर कोनो मे दो तीर्थङ्कर पद्मासन मे, छोटे आकार मे उत्कीर्ण है। चंवर-धारी चवर डुला रहे है। वाहन शेर है व नीचे के दोनों कोनों मे क्रमशः मातंग यक्ष और सिद्धायिका यक्षिणी अंकित है। मूर्तिशिल्प के आधार पर यह प्रतिमा दसवी से ग्याहरवी शताब्दी के मध्य की है जबकि परमार शासक यहां के राजा थे। आकार ७५×४५×२२ से० मी०। लाल पत्थर मे निर्मित यह महावीर प्रतिमा मालवा की जैन तीर्थङ्कर मूर्तिकला का प्रतिनिधित्व करती है।

दूसरी प्रतिमा मे भगवान महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड्गासन में अंकित है। विद्याधर व दुंदुभिक प्रथम प्रतिमा की भाति ही है। ऊपर व पार्श्वभाग मे २३ तीर्थङ्कर अकित है, पर सभी दिगम्बर प्रतीक या वाहनों पर आसीन है। मूर्तिशिल्प की दृष्टि से यह प्रतिमा भी अभूतपूर्व है। यह विक्रम संवत् १०५० में निर्मित हुई थी जैसा कि उसकी पाद-पीठ पर अकित अभिलेख से पुष्ट होता है। इस प्रतिमा का आकार ६८×४३×२२ से. मी. है। प्रतिमा थोड़ी-सी भग्न है। मूर्ति क्रमांक ३ है। इसमें भी मातंग यक्ष व सिद्धायिका यक्षिणी स्पष्ट है।

उपरोक्त दोनों महावीर प्रतिमाएं श्रेष्ठ मूर्तिकला का ज्ञापन करती है और प्राचीन मालवा के जैनधर्म के गौरवशाली पक्ष को प्रकट करती है।

विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (मध्य प्रदेश)

□□□

# अहिंसा के रूप

## (आध्यात्मिक और व्यावहारिक)

— श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम० ए० दिल्ली,

**आध्यात्मिक**—स्वानुभूति रूपी स्वानुभाविकी परिणति में लीन सम्यग्दृष्टि समस्त-वैभाविकी-बन्धरूप अर्थात् आत्मानुभूति में विघ्नभूत क्रियाओं के प्रति सर्वथा मौन है। आत्माभिमुखी की रुचि पर-पदार्थों में न हो, सर्वथा स्वभाव में ही है। प्रकारान्तर से इस तथ्य को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्माभिमुखी एक ऐसा मौनी मुनि है जिसके आत्मानुभूति के सिवाय बाह्य (सावद्य) का लेश नहीं।

मुनि और मौनी दोनों शब्द आध्यात्मिक और भाव अभिन्न तो है ही, साथ ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बतलाने में भी समर्थ है, अर्थात् मुनि वह है जो मौनी (पर से निवृत्त) हो। जो मौनी नहीं वह मुनि भी नहीं। कोषकारों ने मौन शब्द का व्युत्पत्तिपुरस्सर जो विश्लेषण किया है वह मनन योग्य है। वे लिखते हैं—

"मुनेरयं मौन"। मुनेर्भावः वा मौनम्। मौनं चाशेष सर्वदयानुष्ठानवर्जनम्। मौनमविकल मुनिवृत्त तन्नैश्चायिकं सम्यक्त्वम्"।

इसका भाव ऐसा हुआ कि अशेष (सम्पूर्ण) सावद्य[1] (पापसहित) के अनुष्ठान का त्याग करना मौन है और यह मौन पूर्णरूप से मुनि का चारित्र है और यह निश्चय सम्यक्त्व है। जैसे लौकिक व्रती जन को समस्त लौकिक सावद्य क्रियाओं के प्रति मौनी होना लाभदायक है। आत्माभिमुखी मुनि और सम्यग्दृष्टि को भी आत्मसाधक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सभी विभावो से मौन (विमुखता) आवश्यक है। जिसने आत्मातिरिक्त समस्त रुचियों (प्रमाद, कषाय और पापरूप) का परिहार किया वही सम्यग्दृष्टि (लब्धिरूप मे ही क्यों न हो) है।

स्मरण रहे कि आध्यात्मिक प्रकरण में मौन का भाव केवल वाचिक मौन तक ही सीमित नहीं रहता। वहां तो मन और काय भी गर्भित हो जाते है, और जब मौन की सीमा मन-वचन-काय तीनों के व्यापार रुद्ध करने तक पहुंच जाती है तब "सावद्य" के अर्थ की सीमा भी विस्तृत क्षेत्र को घेर लेती हैं। लोक में "सावद्य" शब्द प्रायः पर-पीडन, हिंसा आदि पापाचार और लोकगर्हित क्रियाओं के भाव में लिया जाता है। परन्तु जहां आत्माभिमुखता संबंधी मौन प्रकरण है" सावद्य" का अर्थ उक्त न लें। मन-वचन-काय तीनो की उन सभी प्रवृत्तियों में लिया जायेगा तो पर-रूप हैं, फिर वे लोक-विरुद्ध अथवा लोक विरोधातीत जैसी भी हों।

आचार्य कहते है—

*तत्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वयं सिद्धम्।*
*तस्मादनादिनिधनं स्वः सहायं निर्विकल्पम्।। पंचाध्यायी०।।*

तत्व सत् लक्षणवाला है, सत् मात्र और स्वयंसिद्ध है, इसलिए वह अनादि है, अनिधन है, स्व-सहाय और निर्विकल्प है।

उक्त प्रमाण के आधार से सभी द्रव्य स्वतन्त्र और लक्षण भिन्नत्व को लिये हुए है एतावता अपने में ही हैं। कोई "पर" अन्य किसी "पर" का कर्त्ता या हानि-लाभ दाता नहीं।

यदि प्रमाद है तो वह अशुद्ध जीव का अनादि संसार रूप अपना, और हिंसा है तो वह अपनी। जब जीव अपनी स्वाभाविकी मौनवृत्ति को छोड़कर प्रमाद भाव जन्य दोष से आत्मानुभूति के विमुख होता है तब वह अपनी ही हानि—अपने ही हिंसा रूपकर्म (पाप) सावद्य-कर्म को करता है, उसका मुनित्व भग होता है। पर का अहित तो व्यवहार से कहा जाता है—निश्चिय में जीव का स्वयं का ही बिगाड़ होता है।

इसी प्रसग में जब हम हिंसा आदि पापों पर विचार करते है तब यही फलित होता है कि वहा भी आचार्य का अभिप्राय पर.घात आदि की प्रमुखता से नहीं, अर्थात् हिंसा का मूलभूत अभिप्राय आत्मघात से रहा है और पर

---

१. *अवद्यं पाप सह तेन वर्तते। पांशयति मलिनयति जीवमिति पापम्।* कर्मबन्धो अवज्जं सहतेण सोसावज्जो जोगोत्ति वा वावारो"—अभि० राजेन्द्र कोष।

घात को गौण कर दिया गया है। पाठक इसका अभिप्राय ये न लें कि व्यवहारिकी हिंसा हिंसा नहीं। अपितु ऐसा भाव लें—कि वह भी अपना घात किये बिना नही हो सकती। एतावता अपने परिणाम शुद्ध रखें। आचार्य कृत (प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपम् हिंसा) सूत्र द्वारा प्रतिपादित हिंसा का लक्षण पारमार्थिक और लौकिक दोनों ही दृष्टियों से युक्तिसगत है। जब हम प्राणों का घात करने से लौकिक दश प्राणों (५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास) का भाव लेते है तब इन प्राणों का छेद होने से प्राण व्यपरापण (पर-पीडन आदि) व्यवहार में सावद्य नाम पाते है और जब हमारी दृष्टि तत्व (तत्वं सल्लाक्षणिकं) की ओर होती है, तब प्रमाद को सावद्य संज्ञा दी जाती है, यतः जीव अपना ही घात करता है।

आत्मरसरसिक निश्चयावलम्बी अहिंसा आदि महाव्रत इसलिए तो धारण करता नही कि वह इनके कारण पर-घात आदि को कर पुण्य उपार्जन करेगा। वह तो अपनी दृष्टि "निज" में केन्द्रित करने के लिए "पर"—प्रमाद का परिहारमात्र करता है, और प्रमाद का परिहार होने मे आत्म-हिंसा का अभाव होने पर, उसके लिए पर-हिंसा का प्रश्न ही नही उठता। फिर व्यावहारिकी हिंसा मे भी तो अपनी हिंसा (प्रमाद) की ही प्रमुखता है। इसीलिए कहा है—" प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाऽधर्माय इति ज्ञापनार्थम् अर्थात् केवल प्राण व्यपरोपण अधर्म हेतु नहीं है, अपितु प्रमाद विशेषण ही अधर्म हेतु है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्माभिमुखी का प्रमाद ही उसकी स्वयं की हिंसा है और इसी के प्रति पूर्ण मौन होना अहिंसा—सावद्य का त्याग है।

शास्त्रों में जहां प्रमाद के भेदों को गिनाया है वहां भी किसी मे कोई ऐसी झलक नही मिलती जिससे पर में कृत-कर्म मात्र हिंसा सिद्ध हो। सभी स्थानों पर स्व-हिंसा (प्रमाद जन्य) को ही मुख्य बतलाया है। यदि हिंसा में मात्र प्राणव्यपरोपण अभीष्ट होता तो आचार्य प्रमाद विशेषण का समावेश नही ही करते। वे कहते हैं—"ननु च प्राण व्यपरोपणाऽभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते", अर्थात् प्राण घात के न होने पर भी प्रमाद योग मात्र में ही हिंसा है। वे स्पष्ट लिखते हैं—" स्वयमेवात्मात्मानमात्मना हिनस्ति प्रमादवान्'—प्रमादी आत्मा स्वयं ही अपने से अपना घात करता है। वे कहते है—

"अत्रापि प्राणव्यपरोमणमस्ति भावलक्षणम्"—प्राण व्यपरोपण भावरूप है। इसलिए आत्मदर्शी मुनि—सम्यग्दृष्टि के प्रमाद के प्रति मौनी होने के कारण मन-वचन-काय की क्रिया रोककर आत्मालीन होने की स्थिति मे हिंसा आदि (सावद्य) का स्वय ही त्याग है। सच्चे मुनि कहो, सम्यक्त्वी कहो, वे ही है।

जिनवाणी मे जहा हिंसादि पच पापों संबंधी रौद्र-ध्यानों का वर्णन है वहा इन अशुभ ध्यानों के सद्भाव का विधान पंचम गुणस्थान तक ही है। मुनि (षष्ठम्गुणस्थान) में सर्वथा ही नहीं। कहा भी है—तद्रौद्रध्यानमविरत देश-विरतयोर्वेदितव्यं" अर्थात् रौद्र ध्यान अविरत और देश विरत गुण स्थानो में ही होता है। मुनि के अर्थात् षष्ठम गुण स्थानवर्ती के नही होता। इससे यह भी समझना चाहिए कि मुनि में जोमहाव्रत रूप मे व्रत का विधान है वह मुख्यतः अभ्यन्तर संभाल की दृष्टि से ही है और वास्तव में मुनि प्रमत्त विरत होने के कारण हिंसा आदि से रहित ही है, अर्थात् जब प्रमाद नही तब हिंसा कैसी? यदि कदाचित् कहा जाय कि अपने व्रतो मे दोष आने पर मुनिगण को भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है तो वहां भी दोष (हिंसा) की उत्पत्ति प्रमाद जन्य ही है और इसलिए (प्रमाद टालने के हेतु) आचार्यों ने अहिंसा महाव्रत की भावनाओ मे सर्वप्रथम वाङ्मनो गुप्तियो का विधान कर बाद मे कायगुप्ति को अगभूत ईर्यादि समितियो का उल्लेख किया है—वाङ्० मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपण—समित्यालोकित पानभोजनानि पच"।

उक्त सभी प्रसगो से स्पष्ट होता है कि निश्चय दृष्टि से मुनि—मौनी व सम्यग्दृष्टि पर के प्रति अशुभ व शुभ दोनों मे पूर्ण मौन है—वह अपने में ही जागरुक है। इसीलिए "मौनमविकलमुनिवृत्तं तन्नश्चयिकं सम्यक्त्वम्" ऐसा विधान किया गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सच्चा मुनि सम्यक्त्वी ही होता है और सम्यक्त्वी ही मुनि हो सकता है। शास्त्रों में मुनियो के भेदों मे द्रव्य-लिंगी का जो पाठ आया है वह केवल जनसाधारण के बोध को बाह्यलिंग मात्र की अपेक्षा से दिया गया मालूम

होता है, वास्तव में "द्रव्यलिंगी मुनि" शब्द नहीं केवल "द्रव्यलिंगी" समझा जाना चाहिए।

**जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है: जिसको तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है—**

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी आत्म-हिंसा को ही प्रमुखता दी है। वे कहते है—

"आत्मपरिणामहिंसन् हेतुत्वात् सर्वमेवहिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय।। ४२।।

अर्थात् आत्म परिणामो (स्वभाव) की हिंसा होने के कारण ही अन्य प्रवृत्तियां हिंसा नाम पाती है। अनृत आदि का विधान भी केवल शिष्यों के बोध के लिए है—सभी हिंसा में गर्भित हो जाते है। और भी अन्य अनेकों दिगम्बर-श्वेताम्बर शास्त्रों मे इसी भाव के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें हिंसा को ही प्रमुखता दी गई है। यथा—

आयाचेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छयो एमो।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ इयरो।। ओ० नि० ७५४।।"

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।"

"नय हिंसा मेत्तेण सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती अफलाभणिया जिणवरेहि।। ओ० नि० ७५८।।"

केवल बाहर मे दृश्यमान पाप रूप हिंसा से कोई हिंसक नहीं हो जाता। यदि साधक अन्दर में राग-द्वेष रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवों ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबंध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।"

"जा जयमाणस्सभवे, विराहणा सुत्त विहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थ विसोहि जुत्त स्स।।७५६।।"

जो यातानावान् साधक अन्तरा विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (हिंसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है।"

"मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो, हिंसा मेत्तेण समिदस्स।। प्रवचन० ३/१७।"

बाहर से प्राणी मरे या जिये, अयताचारी—प्रमत्त को अन्दर मे हिंसा निश्चित है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समिति वाला है, उसको बाहर से प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबंध नहीं है, अर्थात् वह हिंसा नहीं है।"

"वीरतो पुण जो जाणं कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थ वि अज्झत्थसमा संजायति णिज्जरा ण चओ।।
बृ० हु० भा० ३६३६।।"

अप्रमत्त संयमी (जागृत साधक) चाहे जान में (अपवाद स्थिति में ?) हिंसा करे या अनजान मे, उसे अंतरंग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नहीं।

"अज्झत्थ विसोहिए, जीवनिकाएहि संथडे लोए।
देसियमहिंसं गत्त, जिणेहि तेलोक्क दरसीहि।।
ओ० नि० ७४७।।"

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेकानेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं।"

"उच्चालियम्मि पा, इरियासमियस्स सकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्जतं जोगमासज्ज।। ओ० नि० ७४८।।

यदा कदा ईर्यासमिति लीन साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतंग आदि क्षुद्रप्राणी आ जाते है और मर जाते हैं। परन्तु—

"न य तस्स तन्निमित्तो, बन्धो सुहुमोवि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा।। ओ० नि० ७४६।।"

उक्त हिंसा के निमित्त मे उग साधु को सिद्धांत मे सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नही बताया है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन उस हिंसा व्यापार में निर्लिप्त होने के कारण अनवद्यनिष्पाप है।

"जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स या जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जते नियमा, तेसि सो हिंसओ होई।।
ओ० नि० ७५२।।"

जे बिन वावज्जती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सोउ।
सावज्जो उ पओगेण, सत्वभावेण सो जम्हा।।
ओ० नि० ७५३।।

जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो

भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। परन्तु जो प्राणी नहीं मारे गये हैं वह प्रमत्त उनका भी हिंसक है क्योंकि वह अन्तर में सर्वतो-भावेन हिंसावृत्ति (प्रमाद) के कारण सावद्य है।

"तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमसि नाम तं चेव जं परियावेमव्वं ति मन्नासि॥
अ० चा० १/५/५॥

जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है; जिसको तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है।

"जे ते अप्पमत्त संजया ते णं नो आयारंभा,
नो परारंभा, जाव अणारंभा॥ (भग० १११)

आत्मसाधना में अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरों की हिंसा करते है। वे सर्वदा अनारंभ—अहिंसक रहते है।

"अज्झत्थ विसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्त जिणेहिं तिलोक्क दरसीहिं॥
ओ० नि० ७४७॥

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेका-नेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर से अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं।

उक्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अध्यात्म में हिंसा-अहिंसा के कथन का साक्षात् सम्बन्ध आत्म-लक्ष्य से ही रहा है, बाह्य पर-लक्ष्य से नही। साथ ही यह भी तो विचारणीय है कि क्या अध्यात्मरसिक—मौनी या मुनि के लिये जिस चारित्र का विधान किया गया है वह आत्म-कल्याण—मोक्ष की दृष्टि से किया गया है या सांसारिक-पुण्य-शुभप्राप्ति को दृष्टि से किया गया है? जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न है, मुनिव्रत—वीतरागरूपचरित्र धारण का उद्देश्य, परनिवृत्ति—स्व-प्रवृत्ति रूप है और स्व-प्रवृत्ति में पर-हेतुक प्रयत्न कैसा? यदि कोई जीव 'पर-रक्षारूप' अपनी प्रवृत्ति करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि अपने मार्ग में पूर्ण स्वस्थ नहीं। कहा भी है—भूतवृत्तनुकंपा च सद्वेद्यास्रव हेतवः—(तत्वार्थसार आश्रवप्रकरण), अर्थात् पर मे अनुकम्पा—दया (अहिंसा) साता वेदनीय कर्म के आश्रव का कारण है, यानी उस दया से निर्जरा नही, अपितु पुण्यबन्ध होता है; और जब बन्ध होता है तब विचार उठता है कि क्या मुनिव्रत का उद्देश्य बन्ध करना था, या संवर-निर्जरा? और भी 'जीवेसुसाणकम्पो उवओगो सो सुहोतस्स, अर्थात् जीवों मे अनुकम्पा करना शुभोपयोग है।

यह तो माना जा सकता है कि जब तक साधु निवृत्ति में नहीं तब तक अशुभ-प्रवृत्ति न कर के शुभ-प्रवृत्ति करता है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह उसका कार्य कर्त्तव्य रूप नहीं अपितु शिथिलता-जन्य है, क्योंकि मुनि को चारित्र-धाम कहा है और वह चारित्र 'स्वरूपेचरणं चारित्रं' रूप है। जब तक स्वरूप में रमण नही तब तक उसका मुनिपद किसी भी दृष्टि से कहो, सदोष ही है, क्योंकि सम्यक् चारित्र का उत्कृष्ट स्वरूप ही इस श्रेणी का है कि वह पर-आश्रित बाह्य-अभ्यन्तर दोनो प्रकार की क्रियाओं से विरक्त-विराम रूप है। कहा भी है—संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तर क्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्', यानी संसार की निवृत्ति के प्रति उद्यत ज्ञानवान जीव का बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार की (शुभ-अशुभ) क्रियाओं से विराम लेना सम्यक् चारित्र है। व्रत संज्ञा भी विरति को दी गई है प्रवृत्ति को नहीं। कहा भी है—'विरत्तिर्व्रतम्।'

यदि कोई जीव व्यवहार मे हिंसा से 'विरत' होता है तो उसे कहा जाता है कि अहिंसा मे प्रवृत्त हुआ, अर्थात् जो पहिले हनन् रूप क्रिया कर रहा था वह उससे विरत होकर अहनन् रूप क्रिया मे प्रवृत्त हो रहा है। पर यह व्यवहार ही है। वास्तव मे तो वह क्रिया कर ही नहीं रहा। जो हिंसा रूप क्रिया मे उसका उपयोग था वह हिंसा से हटा अर्थात् तत्क्रिया से विरमित हो गया। उसे उसका विकल्प ही नहीं रहा, और जब विकल्प नही रहा तब हिंसा रूप क्रिया की विरोधी 'अहिंसा' रूप क्रिया से भी उसे क्या सरोकार रहा। वह तो अपने भाव में आ गया। जहां तक प्रवृत्ति और निर्वृत्ति का सम्बन्ध है दोनों ही परस्परापेक्षी-विरुद्ध होने से एक के विकल्प में दूसरे के प्रादुर्भाव की सिद्धि करते है। जहां एक है वहां दोनों (अपेक्षा दृष्टि से) ही है। एक स्थल पर चारित्र के 'वर्णन में' 'पचिंदिय संवरणं' पद आया है। पाठक विचारेंगे कि

वहां भी 'संवरणं' पद को चारित्र रूप महत्त्व दिया गया है, न कि पंचेन्द्रियों की प्रवृत्ति को चारित्र रूप दिया गया हो, फिर चाहे वह प्रवृत्ति शुभ रूप ही क्यों न हो ? बंध में कारण-भूत होने से त्याज्य ही है। यदि आचार्य को प्रसंग (चरित्र पाहुड २७) में प्रवृत्ति इष्ट होती तो वे स्पष्ट लिखते कि पंच-इन्द्रियों को शुभ से सम्बद्ध करना चारित्र है। पर ऐसा उन्होंने लिखा नहीं। उन्होंने तो शुभ-अशुभ दोनों प्रवृत्तियों से विमुख 'संवरण' पद दिया। अन्यत्र एक स्थान पर भी 'रायादीपरिहरणं चरणं'—समय-१५५ ; द्वारा परिहार को ही चारित्र बतलाया न, कि उनमें बिहार को। यदि राग है, चाहे वह शुभ ही है तो भी वह परिहार नहीं, बिहार ही है। अतः अध्यात्म में उस शुभ को भी स्थान नहीं दिया गया क्योंकि वह पर से ही सबन्धित होगा।

कहा जाने में आता है कि यदि व्रत में प्रवृत्ति निषिद्ध है तो अणुव्रती की अपेक्षा महाव्रती के असख्यात गुनी निर्जरा सिद्धान्त में क्यों कही गई है ? यह तो व्रत का ही प्रभाव है कि उसके असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। पर इस स्थल में भी हमें विचार रखना चाहिये कि उक्त असंख्यातगुनी निर्जरा मे भी 'विरति' रूप व्रत ही कारण है 'प्रवृत्ति रूप' नहीं। जैसी-जैसी प्रवृत्ति का अभाव है वैसी-वैसी और उस रूप में निर्जरा है। वास्तव में तो जैन दर्शन में प्रवृत्ति सर्वथा ही निषिद्ध है। साधु व्रत ग्रहण करता है यह तो व्यवहार में कहा जाता है अन्यथा करता तो वह निवृति ही है। किसी साधु ने 'अहिंसा महाव्रत' धारण किया इस कथन में भी विचारा जाय तो अहिंसा नामक कोई पदार्थ नहीं—स्वभाव नहीं : वह तो हिंसा क्रिया और हिंसा भाव के अभाव का ही नाम है और अभाव को क्या, कैसे ग्रहण किया जायेगा ? ये सब प्रश्न हैं, जो हमें अन्ततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि निर्वृत्ति ही चारित्र है, प्रवृत्ति चारित्र नहीं।

उक्त सभी बातों से स्पष्ट है कि अध्यात्म में महाव्रती—मुनि, मौनी व सम्यग्दृष्टि में भेद-बुद्धि का सर्वथा अभाव है, पर निर्वृत्ति ही है प्रवृत्ति नहीं। इतना ही क्यों एक स्थान पर तो आचार्य महाव्रत और तप आदि को (पर-सापेक्ष होने के कारण) भार तक घोषित कर देते है। वे कहते है—'क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्''—अमृत० ॥ १४२ ॥ अर्थात्···महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश करें तो करो। भाव ऐसा है कि जब तक पर-निवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति रूप महाव्रत व तप नहीं तब तक दुःख से छुटकारा नहीं, क्योंकि जब सर्वपरिग्रह-बाह्याभ्यन्तर विकल्प मात्र के त्याग में दीक्षा का विधान है तबदीक्षा से संभावित मुनि और मौनी अथवा सम्यग्दृष्टि के विकल्प कैसा ? वहां तो सर्व परिग्रह का त्याग होना ही चाहिये। कहा भी है—'पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता' अर्थात् सर्व संग (परिग्रह-पर-ग्रह, विकल्प भी) का त्याग ही 'प्रव्रज्या' है। एतावता जहां मौन का सम्बन्ध है, मौनी, मुनि, सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में अहिंसा आदिक महाव्रतों का भाव आत्मभाव से ही है पर-शुभाशुभ विकल्पों से नहीं।

आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ति तो चारित्र के लक्षणों में स्पष्ट उल्लेख कर रहे हैं। उनका भाव है कि अध्यात्म में चारित्र का जो स्थान है वह व्यवहार में नहीं है और व्यवहार में चारित्र का जो स्थान है वह अध्यात्म में नहीं है। जब एक ओर समस्त क्रियाओं की निर्वृत्ति चारित्र है तो दूसरी ओर प्रवृत्ति को चारित्र समझा जाता है। वे लिखते है व्यवहार में—

'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ॥ द्रव्य ४५।

अशुभ से निर्वृत्ति शुभ मे और में प्रवृत्ति—व्रत-समितिगुप्तिआदिरूप व्यवहार चारित्र है। फलितार्थ यह हुआ कि उक्त प्रवृत्ति रूप चारित्र उन जीवों की अपेक्षा से है जो अध्यात्म स्वरूप मे नहीं पहुंच पाये है और पर-वश हों, जिन्हें प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं मिल सका है। जिन जीवों ने पर को पर समझा और अनुभवा है, ऐसे सम्यग्दृष्टि की दृष्टि (आध्यात्मिक दृष्टि) में तो प्रवृत्ति, प्रवृत्ति ही है—पर-रूप और विकल्पात्मक है, वहां मौन अथवा मुनित्व नहीं है। उनके लिए तो आचार्य कहते है—

'वहिरब्भन्तरकिरिया रोहो भव कारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तम् ॥ द्रव्य ४६ ॥

बहिरंग और आभ्यंतर दोनों प्रकार की क्रियाओं का

रोध संसार के कारणों—आश्रव-बंध को नष्ट करने वाला है और वह जिनेन्द्र देव ने ज्ञानी को बतलाया है। वही पूर्ण और सच्चा चारित्र है। एतावता ऐसे चारित्र को धारण करना अपना कर्तव्य मान आध्यात्मिक दृष्टि, प्रवृत्ति मार्ग में सर्वथा दूर—मौनी रहता है और इसीलिए वह सम्यग्दृष्टि और मुनि भी है और इसीलिए मुनित्व में मुक्ति भी है। वह निर्ग्रन्थ है, परिग्रह और सांसारिक वासनाओं से विरक्त है। उसमे जो कुछ भी आश्रव-बंध की छटा होती है वह सब प्रवृत्ति रूप की ही है—मुनि अथवा मौन रूप की नही। इससे स्पष्ट है कि अध्यात्म में अहिंसा आदि, स्वकी अपेक्षा से ही है पर की अपेक्षा से नहीं। कहा भी है—

**'परमट्ठो खलु समओ'**—समय सार १५१।—निश्चय से आत्मा ही परमार्थ है। अतः आत्मा के ही सन्मुख होना चाहिए। यदि कोई जीव आत्मा का लक्ष्य तो करे नहीं और पाप निवृत्ति कर पुण्य रूप शुभ कर्म में प्रवृत्त हो, उसे ही कल्याण—परमपद मोक्ष—का हेतु मानने लग जाय—जिन वचनों का लोपकर स्वच्छन्द हो जाय—तो उसके व्रत-तप आदि बाह्याचार बालतप ही कहलायेंगे, क्योंकि—

'परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वद च धारेई।
सव्वं बाल-तवं बाल-वदं विति सव्वण्हू ॥'
—समयसार, १५२॥'

'जो जीव परमार्थ—आत्मा मे स्थिर नही रहते और बाह्य में व्रत-तप को धारण करते है, उनकी समस्त व्रत-तप रूप क्रियाओं को सर्वज्ञ देव ने बाल-तप और बाल-व्रत कहा है।' अर्थात् ऐसा तप शुभ मे प्रवृत्तिरूप होने से संसार का ही कारण है। यदि कोई जीव ऐसा मानें कि पुण्य की प्राप्ति मे भी मोक्ष हो तो उसका मानना भ्रम ही है। आचार्य कहते है कि—

"परमट्ठि वाहिराजे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति।
संसार गमण हेदु विमोक्ख हेदुं अजाणन्ता॥
—समयसार, १५४॥'

जो जीव परमार्थ से विमुख है वे अज्ञानी होने के कारण पुण्य की इच्छा करते हैं। वास्तव मे पुण्य तो ससार गमन—परिभ्रमण का ही हेतु है। ऐसे जीवों को मोक्ष-मार्ग से अज्ञ ही समझना चाहिये।' जिन व्रतों को अशुभ निवृत्ति और शुभ-प्रवृत्ति रूप में लिया जाने का चलन सा चल चुका है। वास्तव में उनकी स्थिति संसा-रलाभ प्रदान करने तक ही सीमित है और इसीलिये आचार्यों ने उन व्रतादिकों को आश्रव-अधिकार-रूप सप्तम अध्याय में ही प्रदर्शित किया है, संवर और निर्जरा रूप नवम अधिकार मे नही। पंचाध्यायी कार भी व्रतादि को सर्वथा बन्ध का कारण ही घोषित करते है। वे लिखते हैं—

'सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रत बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा॥ ७५२॥'

प्राणियों में दया—अहिंसा भाव करना बाह्य (लौकिक-व्यवहार) व्रत है। वास्तविक व्रत तो अंतरंग की कषायों (रागद्वेषादि विकल्पों) का त्याग ही है।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मोव्रतच्युतिः।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल॥ ७५४॥'

अर्थात् रागादिभाव ही हिंसा है, रागादिभाव ही अधर्म है, और रागादिभाव ही व्रत-च्युति हैं और रागादि-भावों का त्याग ही अहिंसा है, रागादिभावों का त्याग ही धर्म है, रागादि भावों का त्याग ही व्रत है।

'रूढे शुभोपयोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसज्ञया।
स्वार्थं क्रियामकुर्वाणः सार्थनामास्ति दीपवत्॥ ७५९॥

यद्यपि रूढ़ि से शुभोपयोग भी चारित्रनाम से प्रसिद्ध है परन्तु ऐसा चारित्र निवृत्ति रूप न होने के कारण निश्चय से चारित्र नहीं है।

"किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं, वरं यः स नापकारोपकारकृत्॥ ७६०॥'

रूढ़ि के वश से चारित्र सज्ञा को धारण करने वाला चारित्र, बन्ध का हेतु होने के कारण श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ तो वह है जो अपकार अथवा उपकार कुछ भी न करे अर्थात् श्रेष्ठता परापेक्षीपन मे न होकर स्वाश्रय में ही है और शुभ-अशुभ दोनों पर होने से सर्वथा हेय है।

'नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतु रंजसा।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभोनाप्यशुभा वहः॥ ७६२॥'

बुद्धि विभ्रम से ऐसा भी विचार नही करना चाहिए कि ऐसा शुभोपयोग रूप चारित्र एकदेश निर्जरा का

कारण है, क्योकि न तो शुभोपयोग ही अबन्ध का हेतु है और न अशुभोपयोग ही अबन्ध हेतु है।

आचार्यकुन्द कुन्द प्रवचनसार मे लिखते है—

'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध सपश्रोगजुदो।
पावदि णिव्वाण सुहं सुहोवजुत्तो व सग्गमुहं ।। प्रव० ।।'

'धर्म (निश्चय और व्यवहार) से परिणत आत्मा जब शुद्धोपयोगी होता है तब निर्वाण पद को प्राप्त करता है और जब शुभोपयोग युक्त होता है तब स्वर्ग (आदि) के सुखों को प्राप्त करता है।' इसमे भी निश्चय (अध्यात्म) मार्ग मे निर्वृत्ति (शुभ से भी) को ही प्रमुखता दी है। आचार्य अमृतचन्द्र जी लिखते है—

'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणतया संगच्छते तदा स प्रत्यनीक शक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्त-पुरुषोदाहदुखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति। अतः शुद्धो-पयोगः उपादेयः शुभापयोगो हेयः।

अर्थात् धर्मपरिणत स्वभाव वाला यह आत्मा जब शुभोपयोग परिणित से परिणत होता है तब विरुद्ध (बाधक) शक्ति के उदय मे कथचित् विरुद्ध कार्यकारी चारित्र के कारण स्वर्ग सुख के बधन को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे अग्नि से तप्त घृत से स्नान करने पर पुरुष उसके दाह से दुखी होता है; अर्थात् इसके सवरनिर्जरा के विरोधी आश्रव और बन्ध होते है। अतः ज्ञानी जीवों को मात्र शुद्धोपयोग (आत्मरूप) उपादेय और शुभ उपयोग हेय है।'

इसी प्रसंग मे श्री जयसेनाचार्य का अभिमत भी देखिए—

'···यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिण-मति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमा-कुलोत्पादक स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्री सद्भावे मोक्ष च लभते इति सूत्रार्थ. हेय.।

अर्थात् जब शुभ योग रूप सराग चारित्र में परिणमन करता है तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख के स्थान पर उससे विपरीत अर्थात् आकुलता को उत्पन्न करने वाले स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है। बाद मे परम समाधि सामग्री के सद्भाव मे मोक्ष भी प्राप्त करता है। भाव ऐसा है कि इसे शुभ से आत्म-लाभ त्रिकाल मे भी नही होता। क्योंकि इस प्रकार के शुभ तो ये अनादि काल से अनन्तों बार करता रहा। अतः निष्कर्ष ऐसा लेना चाहिए कि इस जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिये परम समाधि लेने मे सम्यग्दृष्टि का विश्वास होता है। अतः सम्यग्दृष्टि वस्तुतः शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, परापेक्षीव्रत-अव्रत आदि परकृत भावों मे समता भाव रखकर उनके प्रति मौनी है। एतावता सम्यग्दृष्टि को मौनी और मुनि भी कहा जाता है।

प्रकृति के विभिन्न रूपो की समष्टि ससार है और इस समष्टि के आधार पर ही यह चर-अचर जगत् अपने विभिन्न रूपो मे दृष्टिगोचर हो रहा है। थोड़ी देर के लिये हम ऐसी कल्पना करें कि ससार का प्रत्येक पदार्थ हमें अपने-अपने शुद्ध—एकाकी रूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है और किसी से किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी हमारी कल्पना हमे अन्ततोगत्वा ससार से दूर पहुंचाने की साधन ही बनेगी। इसका भाव ऐसा है कि जब प्रत्येक पदार्थ के शुद्ध रूप की झलक ससार, शरीर और भोगों से विरक्त करा मुक्त पद प्राप्त कराती है तो इससे विपरीत अर्थात् अशुद्ध रूप अवस्था की कल्पना हमे ससार करायेगी। तात्पर्य ऐसा है कि मिलाप का नाम संसार और पृथक्त्व का नाम मोक्ष है।

जब हम ससार मे हे और संसार व्यवहार मे आये बिना हम इस संसार मे सुखी नही रह सकते, तब यह आवश्यक है कि हम अपने ससार-व्यवहार को सही बनाने का प्रयत्न करें। जब हम पर के सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का ध्यान नही रखते तब हमे भी अधिकार नही कि अपने सुखदुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का ध्यान रखने की दूसरो से अपेक्षा करें।

स्वभावतः ही प्राणी मे चार सज्ञाये पाई जाती है। इन्हें पूर्व जन्म के संस्कार कहो, या जीव का अपना मोह-अज्ञान कहो, इनसे सभी ससारी प्राणी बद्ध है, चाहे वे मनुष्य हों या तिर्यच। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा जीव आहार करता है—यहां तक कि दृष्टव्य भौतिक शरीर छोड़ने (मरने) पर, जब यह जीव जन्मातर मे नवीन शरीर को धारण करने जाता है, तब भी इसे अधिक से अधिक तीन समय तक निराहारी रहने का अधिकार है, अन्यथा सर्वकाल और सब-स्थितियों मे इसका आहार से छुटकारा नही। शेष तीन सज्ञायें इसी आहार पर अवलम्बित है।

लोक में (स्थूल रीति से) मुख द्वारा अन्न-पान, खाद्य-अखाद्य का ग्रहण करना 'आहार' रूढ़ि में प्रचलित हो गया है। परन्तु वास्तव में यदि हम आहार की परिभाषा करें तो ऐसा कह सकते हैं कि उन सब पदार्थों का, जो इस 'स्व'—जीव से 'पर' है, ग्रहण करना आहार है।

संसारी जीव आहार पर आश्रित है। यदि आहार नही तो उसका संसार भी नही। यह आहार विभिन्न रूपों का है, अतः इसके ग्रहण करने के साधन भी विभिन्न है और वे हैं—इन्द्रियां (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण), मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छवास। इस प्रकार ये दश प्राण कहलाते है। क्योंकि जीव को संसार-धारण में कारण ये ही है। इनके द्वारा जीव अपने योग्य आहार (वर्गणाओं) का ग्रहण करता है और जीता है। अतः जीवन के कारण-भूत आहार ग्रहण कराने वाले इन साधनों से किसी जीवधारी को वंचित करना हिंसा कहलाता है, क्योंकि आहार संसारी जीव की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। इसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता।

जीव के द्वारा अनुभव किये जाने वाले ऐसे ससारी सुख-दुख भी जिनका संबंध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, चिन्तन, आयु और श्वास से है, एक प्रकार के आहार ही हैं, क्योंकि ये जीव की स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य रूप परिणति से भिन्न है और जीव इनका आहार—हरण, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास आदि के द्वारा करता है, और पर को ग्रहण करना ही आहार है। कहा भी है—आ—समन्तात् हरणं, आहारः। अर्थात् संसार मे अनेको प्रकार की वर्गणाएं भरी हुई है। आकाश मे कोई एक प्रदेश भी ऐसा नही, जो इन वर्गणाओं से शून्य हो। जब यह जीव विभिन्न प्रकार की इन वर्गणाओं मे से अपने संसारानुकूल किन्ही स्व-विजातीय वर्गणाओ को ग्रहण करता है तब कहने मे आता है कि जीव ने आहार ग्रहण किया। ऐसे जीव के आहार में बाधा देने की क्रिया हिंसा है, क्योंकि आहार की कमी मे उसका वर्तमान सामान्य संसारी जीवन सन्देह मे पड़ जाता है।

यदि कोई जीव किसी अन्य जीव के आहार में बाधा उपस्थित करता है—उसके साधनभूत प्राणों का नाश करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि वह उसके सांसारिक रूप को दुखी बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसे अनधिकार को प्रयत्न लोक में हिंसा नाम दिया गया है और विवक्षा भेद से इसके अनेकों भेद हो जाते हैं।

आहार की व्याख्या के प्रसंग मे एक स्थान पर इसी लक्षण को अनुसरण करने वाला उल्लेख मिलता है। वहाँ कहा गया है—'औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तीन शरीर तथा छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते है।' ऊपर गिनाये गये दश प्राण उक्त आहार-ग्रहण में कारण है। अतः उक्त दश प्राणों का हरण करना लोक मे हिंसा कहलाता है। जैन धर्म ने इस प्रकार की हिंसा के त्याग का उपदेश दिया है।

यद्यपि साधारणतया भारतीय-सस्कृति और आचार मे सर्वत्र ही अहिंसा को स्पर्श किया गया गया है तथापि इसमे अवगाहन करने वाले अनेकों ऋषि, महर्षि अहिंसा के स्थूल अश को भी स्पर्श नही कर पाये है। यदा-कदा तो उनकी दृष्टि, स्वार्थपरक होने के कारण, हिसा मे ही अहिंसा की मान्यता करने को वाध्य हो, विपरीत मार्ग का अनुसरण कर गई है। 'याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसे सिद्धान्तों की उपज निजी स्वार्थ—स्वर्ग-सुख की कामना नहीं, तो और क्या है? यह सत्य है कि प्राणी स्वार्थ में लीन होकर दूसरो के सुख-दुख का ध्यान नही रखता, अथवा अपने स्वार्थों के सन्मुख होने पर वास्तविकता से अपनी दृष्टि हटा लेता है; अन्यथा 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं' जैसे विशद और निर्मल तथ्य मानने से कौन इन्कार कर सकता है?

आहार के भेदों के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है—

'णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

—नोकर्म आहार, कर्म आहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मनसाहार।

१. नोकर्म आहार—नो कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करना।
२. कर्माहार—कर्म वर्गणाओ को ग्रहण करना।
३. कवलाहार—मुख द्वारा पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करना।

(क्रमशः)

# गिरनार की ऐतिहासिकता

□ श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

गिरनार जी जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। यहा से २३वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया था। कुछ और ऋषि मुनियों ने यहां घोर तपस्या कर मुक्ति प्राप्त की, अतः यह सिद्धक्षेत्र भी कहलाता है। गिरनार जी भारत के पश्चिम मे काठियावाड़ प्रान्त में स्थित है जो पहले सोरठ प्रदेश कहलाता था। इतिहास में गिरनार रैवतक पर्वत, उर्जयन्त गिरि, रेवन्तगिरि आदि नामों से विख्यात है।

यो तो प्राकृतिक सम्पदा के रूप में गिरनार की प्राचीनता हजारो-लाखों वर्ष पुरानी है, पर नेमि प्रभु के निर्वाण के कारण इसकी ऐतिहासिकता लगभग तीस हजार वर्ष प्राचीन तो सुनिश्चित ही है।

नेमि प्रभु अब केवल पौराणिक कथा नायक ही नही रह गए हैं अपितु प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों और शोधों के आधार पर वे भी भ० महावीर और बुद्ध की भांति एक सुनिश्चित एव प्रामाणिक इतिहास पुरुष सिद्ध हो गए है। अतः नेमि प्रभु के साथ गिरनार क्षेत्र की ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता सुस्पष्ट और सुनिश्चित है।

हाल ही में नागेन्द्रगच्छीय विजयसेन सूरि (सम्वत् १२८७) कृत रैवन्तगिरि रास नामक रचना देखने को मिली। इस रचना से गिरनार जी पर सीढ़ियों का निर्माण, मंदिरों की रचना तथा उनके जीर्णोद्धार सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन होता है।

चालुक्यराज महाराज जयसिंह सिद्धराज तथा उनके उत्तराधिकारी सम्राट् कुमारपाल के समय मे गिरनारजी के विकास में बड़े-बड़े कार्य हुए थे। पोरवाड़-वंशी आसाराज के पुत्र वास्तुपाल तेजपाल ने यहां पर्वत की तलहटी में तेजलपुर नगर बसाया था। ये वही वास्तुपाल तेजपाल प्रतीत होते है जिन्होंने देलवारा (आबू) का आदिनाथ जिनमंदिर बनवाया था जो अपनी कलात्मक विभूति के लिए जगत्प्रसिद्ध है।

महाराज जयसिंह सिद्धराज के जो सं० ११६० में राज्यासीन हुए थे 'दण्डनायक खंगार साजन ने यहा के नेमि प्रभु के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था तथा सम्राट् कुमारपाल के, जिसने सं० १२०६ मे अजयमेरु पर आक्रमण किया था और सं० १२२६ मे जो स्वर्गवासी हुए थे दण्डनायक की माता ने स० १२४२ में इस क्षेत्र की सीढ़ियों का निर्माण कराया था और वास्तुपाल ने आदि प्रभु ऋषभ देव का मंदिर भी बनवाया था।

कहते है कि इन्ही दिनों काश्मीर से अजित और रत्न नामक दो सघाधिपति नेमि प्रभु की वंदनाहेतु गिरनार पधारे थे। उन्होंने जब मूर्ति का अभिषेक किया तो वह तुरन्त ही गल गई। इससे दोनों व्यक्ति आन्तरिक वेदना एवं आत्मग्लानि से पीड़ित हो उठे और उन्होंने प्रायश्चितस्वरूप अन्नजल का परित्याग कर आमरण अनशन व्रत धारण कर लिया। उनकी इस घनघोर तपस्या के जब २१ दिन बीत गए तो अम्बिका देवी ने उन्हे दर्शन दिए और उनसे नेमि प्रभु की मणिमय प्रतिमा ग्रहण करने का अनुरोध किया। दोनो सघाधिपतियो ने प्रसन्नता पूर्वक देवी प्रदत्त प्रतिमा स्वीकार की और उसे यथास्थान प्रतिष्ठित कर स्वदेश लौट गए।

उपर्युक्त घटना से आश्चर्य होता है कि अब से हजार वर्ष पूर्व जबकि यातायात के साधनों का सर्वथा अभाव था, लोग काश्मीर जैसे दूर-दराज प्रदेश से भी गिरनारजी की यात्रा करने आया करते थे। इतना अधिक आकर्षण था गिरनार जी के प्रति। गिरनार (रैवतक) के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन संस्कृत के विख्यात कवि माघ ने अपने 'शिशुपाल वध' नामक काव्य में भी बड़ी रोचकतापूर्वक किया है। इस तरह गिरनार प्राकृतिक दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण है उतना ही धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक पूजनीय एवं आदरणीय है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में यह अत्यधिक अभिनन्दन एवं गौरव का केन्द्र है।

उपर्युक्त रेवंतगिरि रास इस प्रकार हैं :—

# रेवंतगिरि रास

## नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरिकृत (सं० १२८७)

### प्रथम कडवम्

परमेसर तित्थे सरह पय पंकय पणमेवि ।
भणि सुरासु रेवत गिरे अंबिक दिवि सुमरेवि ।। १ ।।
गामागर पुरवण गहण सरि सरवरि सुपएसु ।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ।। २ ।।
जिणु (जणु) तहि मंडल मंडणउ मरगय मउड महंतु ।
निम्मल सामल सिहर भरे रेहइ गिरि रेवंतु ।।३
तसुसिरि सामिउ सामलउ सोहग सुन्दर सारु ।
जाइव निम्मल कुल तिलउ निवसइ नेमि कुमारु ।। ४ ।।
तसु मुह दसण दए दिसि विदेस देसंतरु संघ ।। ५ ।।
आवइ अब रसाल भण, उट्टलि (?) रंग तरग ।
पोरवाड कुल मडणउ नंदणु आसाराय ।
वस्तुपाल वरमंति तहि तेजपालु दुइ भाय ।। ६ ।।
गुरजरधर धुरि धवलकि वीरधवलदेव राजि ।
बिहु बंधवि अवयारिऊ सुरायु दूसमु माँझि ।। ७ ।।
नायल गच्छह मडणउ विजय सेण सूरिराऊ ।
उवएसिहि बिहुनर पवरे धम्मि धरिउ दिटु भावु ।। ८ ।।
तेजपाल गिरनार तले तेजलपुरु नियनाभि ।
कारिउ गढ गढपव पवरु मणहरु धरि आरामि ।६
तहि पुरि सोहिउ पास जिणु आसाराय विहारु ।। ६ ।।
निम्मिउ नामिहि निज जणणि कुमर सरोवरु कारु ।। १० ।।
तहि नयरह पूरब दिसिहि उग्रसेण गढ़ दुग्गु ।
आदि जिणेसर पमुह जिण मदिरि भरिउ समग्गु ।।११ ।।
वाहिरिगढ़ दाहिण दिसिहि चउरिउ वेहि विसालु ।
लाडुकलह (?) हिय ओरडिय तडि पसुठाइ(?)करालु ।
तहि नयरह उत्तर दिसिहि विसाल थंभ संभार ।। १२ ।।
मंडण महि मंडल सयल मंडप दसह उसार ।। १३ ।।
जोइउ जोइउ भविय यण, पेमि गिरिहि दुयारि ।
दामोदरु हरि पचमउ सुवन्नरेह नई पारि ।। १४ ।।
अगुण अंजण अंबिलीय अबाउय अंकुल्लु ।
उंबरु अंबरु आमलीय अगरु असोय अहुल्लु । १५ ।।
करवर करपट करुणतर करवंदी करवीर ।
कुडा कडाह कयंब कड करय कदल कंपीर ।। १६ ।।
वेयलु वंजलु वडल बडो वेडस वरण विडंग ।
वासंती वीरिणि विरह वंसियालि वण वंग ।। १७ ।।
सीसमि सिंबलि सिरस समि सिंधु वारि सिरखंड ।
सरल सार साहार सय सागुसिगु (?) सिणदड ।। १८ ।।
पल्लव फुल्ल फलुल्लसिय रेहइ ताहि (?) वणराइ ।
हिउज्जिल तलि धम्मियह उलटु अंग न माइ ।। १६ ।।
बोलावी संघहतणीय कालमेधन्तर पंथि (?) ।
मेल्हविय (?) तहि दिढ्धणीय वस्तुपाल वरमंति ।। २० ।।

### द्वितीयम् कडवम्

दुहविहि गुज्जर देसे रिउराय विहंडणु ।।
कुमारपाल भूपाल जिण सासण मंडणु ।
तेण मंठाविम्रोसुरठ दंडाहिवो अंब ओसिरे सिरिमाल
कुल संभवो ।
पाज सुविसाल तिणि नठिय अंतरे धवल पुणुपरव मराविय ।।
धनु सुधवलह भीड जिणि पाग पयासिय ।
बार विसोतर वरसे जसु जसिदिसि वासिय ।।
जिम जिम चढ़इ तडि कडणि गिरनारह ।
तिम तिम ऊडइ जण भवण सतारह ।।
जिम जिम सेउजलु अगि पालाट एं ।
तिम तिम कलिमलु सयल ओट्टह ए ।
जिम जिम वायइ वाऊं तहि निज्भर सीयलु ।
तिम तिम भव दुह दाहो तरकणि तुट्टइ निच्चलु ।।
कोइल कलयलो मोर केकाओ सुमए महयरु महुरु गुंजाओ ।
पाजचडतह सावयालोयणो लाखारामु (?) दिसि दीसए
दाहिणी ।
जलद जाल बंबाले नीभरणिरमाउलु ।
रेहइ उज्जिल सिहरु अलि कज्जल सामलु ।।
बहल वहु धातु रस भेडणी जत्थ उल दलइ सोवन्नमइ मेडणी
जत्थ दिप्पंति दिवोसही सुंदरा गुहिरवर गरुय गंभीर
गिरि कंदरा ।।
जाइ कुदुं विहसन्तो जं कुसुमिहि संकुलु ।
दीसई दसदिसि दिवसो किरि तारा मंडलु । ।
मिलिय नवलवलि दल कुसुम झलहालिया ।
ललिय सुरमहिवलय चलणकल तालिया ।
गलिय थल कमल मयरंद जल कोमल ।

विडल सिलवट्ट सोहंति तहि संमला ॥
मणहर घणवण गहणे रसिरहसिय किनरा ।
गेड मुहुरू गायतो सिरि नेमि जिणेसरा ॥ ५ ॥
जत्थ सिरि नेमि जिणु अच्छय अच्छरा ।
असुर सुर उरग किंनरयं विज्जाहरा ॥
मउडमणि किरण पिंजरिय गिरि सेहरा ।
हरसि बहु आवंति बहुभलि भर निब्भरा ।
सामिय नेमि कुमार पय पंकय लंबिउ ।
धरधूलिविजिण धन्न मन पूरइ वंछिउ ॥ ६ ॥
जोभव कोडा कोडि अनु सोवन्नु धणुदाणु जडदिज्जए ।
सेवउ जड़कम्मघण गंठि जड तिज्जए ।
तउ उज्जित सिहरु पाविज्जए ॥
जम्मणु जोव जाविय तसि तहि कयत्थू ।
जेनर उज्जित सिहरु पेक्खइ वर तित्थू ॥
आसि गुरजर धरय जेण अमरेसरु ।
सिरि जयसिंध देउ पवर पुहवी सरु ।
हणकि सोरठु तिणि राउ खंगारउ रविउ साजण उवंडाहि व सारइ ।
अहिणवु नेमि जिणिंद तिण भवण कराविउ ।
निम्मल चंदरु बिंबे निय नाऊं लिहाविउ ॥ ८ ॥
थोर विरकंभ वायभरमाउलं ललिय पुभालिय कलसनुमकुल ।
मंडपु वंड धकु तुंगतर तोरणं ।
धवलिय वज्झिरुण भणिरि किंकणिघणं ।
इक्कारसम सहोउ पंचासीय वच्छरि ।
नेमि भुयणु उद्धरिउ साजणि नर सेहरि ॥ ९ ॥
मालव मंडले गुहगुह मंडणु भावउ साहु दालिघु खंडणु ।
आमलसार सोवन्नु तिणि कारिउ ।
किरि गमणगण सूरु अवयारिउ ।
अवर सिहर वरणकलस भलहलइ मनोहर ।
नेमि भुयण तिगि दिट्ठइ दुह गलइ निरंतर ॥ १० ॥

## तृतीय कडवम्

दिसि उत्तर कसमीर देसु नेमिहि उज्झहिय ।
अजिउ रतन दुइ बंधु गरुय संघाहिव आविय ।
हरसवसिण घण कलस भरिवि तिहन्हवणु करंतह ।
गलिउ लेवमु नेमि बिंबु जलधार पडंतह ।
संघाहिवु संघेण सहिय निय मणि संतविउ ।
हा हा धिगु धिगु मह विमल कुल गंजण आविउ ।
सामिय सामल धीर चरण मह सरणि भवंतरि ।
इभ परिहरि आहार नियमु लइउ संघ धुरंधरि ।
एक बीसि उपवासि तासु अंबिक दिवि आविय ।
पभणइ सपसन्न देवि जय जय सद्दाविय ।
उह विणु सिरि नेमि विवुलिउ तुरंतउ ।
पच्छल मन जोएसि वच्छतुं भवणि वलतउ ।
णइवि अंबिक देवि कंचण बलाणउ ।
सिरिनेमि बिंबु मणिमउतहि आणइ ।
पठम भवणि देह लिहि देउ छुडि पुंडि आरोबिउ ।
संघा विहि हरिसेण तम दिसि पच्छलु जोइउ ।
ठिउ निच्चलु वेहलिहि देवु सिरि नेम कुमारो ।
कुसुम वुद्धि मिल्हेवि देवि किउ जइ जइ कारो ।
वइसाहि पुंनिमह पुंनवतिण जिणु थप्पिउ ।
पच्छिम दिसि निम्मविउ भवणु भव दुह तरु कप्पिउ ।
न्हवण विलेवण तणीयवंछ भवियण जणपूरिय ।
संघाहिवि सिरि अजितु रतनु निय देसि पराइय ।
सयल विपति कम्हि कालि काल कलुसे जाणविछाहिउ ।
भुलहलति मणि बिंब कलि अबि कुरु आइय ।
समुद्दविजय सिवदेवि पुत्र जायव कुल मडणु जरासिंध दल ।
मलणु मयणु भंड माण विहडणु ।
राइ मइ भण हरणु रमणु सिव रमणि मणमेहरु ।
पुन्नवंतपण मंति नेमि जिणु सोहग सुंदरु ।
वस्तुपाल वरमति भूयणु कारिउ रिसहे सरु ।
अट्ठावय समेय सिहर वर मंडपु मणहरु ।
कउडिजक्खु (रकु) मरुदेवि दुह वितुंगु पासाइउ ।
धम्मिय सिरु धूणंति देव वलिवि पलोइउ ।
तेजपालि निम्मविउ तत्थ तिहुवण जणु रजणु ।
कल्याणउ तउ तुंगु भुयणु लघिउ गयणंगयु ।
दीसइ दिसि दिसि कुंडि कुंडि नीभरण उमालो ।
इन्द्र मंडप देपालि मंत्रि उद्धारिउ विसालो ।
अइ राव ग गय राय पाय मुद्दा समटकिउ ।
विहु गयंद मुकुंड विमलु निज्भर समलंकिउ ।
गउण गग जयसल तित्थ अवमार भणिज्जइ ।
पक्खा लिवि तहि अंगु डुक्ख जल अजलि दिज्जइ ।

सिंदुवार मंदार कुरवक कुंविहि सुंदरु ।
जाइ जूह सयवन्नि विन्नि पुलेहि निरंतरु ।
विट्ठय छत्र सिल कडगि अवबणि सह सारामु ।
नेमि जिणेसर विक्ख नाण निव्वाण हठायु ।

## चतुर्थ कडवम्

गिरि! गरु आ(ए) सिहरि चडेवि अब जंवाहि बबालिउए ।
संमिणि णिए अवि देवि देउल कडु रम्माउलंए ।। १ ।।
वज्जइ एताल कंसाल वज्जइ मदल गुहिर सर ।
रंगिहि नच्चइ बाल पेरिवत्ति अंबिक मुहकमलु ।। २ ।।
सुमकरु एक ठविउ उछंगि विमकरो नंवणु पासिकए ।
सोहइ एऊजिलि सिगि सामिणिसीह सिंघासणीए ।। ३ ।।
दावइ ए दुक्खहं मगु पुरइए वंछिउ भविय जण ।
रक्खइ ए उविहु संघु सामिणि सीह सिंघासणीए ।। ४ ।।
दस दिसि ए नेमि कुमारि आरोही अवलोइ पडंए ।
बीजइ एतहि गिरिनारि गयणांगणु अवलोण सिहरो ।। ५ ।।
पहिलइ ए सांव कुमारु बीजड सिहरि पज्जून पुण ।
पणभइं ए पामइं पारु भवियण भीसणभव भमण ।। ६ ।।
ठामिहि ए ठामि रयण सोवन्न बिंबजिणेसुरतहिं ठविय ।
पणभइ ए ते नर धन्न जेन कलिकान्नि मल भयलियए ।।७।।
जं फलु ए सिहर सभेय अट्ठावय नंदी सरिहिं ।
तं फलु ए भवि पामेइं पोवेविणु रेवंत सिहरो ।। ८ ।।
गहगण एमाहि जिम भाणु पव्वय माहि जिम मेरुगिरि ।
त्रिहुभुवणे तेय पहाणु तित्थं माहि रेवंतगिरि ।। ९ ।।
धवले धय चमर सिगार आरत्ति मंगल पईव ।
तिलव मऊड कुंडलहार मेघाडंबर जाविये ए ।। १० ।।
विर्यहि नर जो पवर चन्द्रोय नेमि जिणेसरि वर भुयभि ।
इह भविए भुंजवि भोय सो तित्थे सर सिरि लहइए ।।११।।
चहु विहए संघु करेइ जो आवह उज्जित गिरि ।
विविसवहू रागुकरेइ सो मुंचइ चउगहे गयणि ।। १२ ।।
अहविहएज्जय करति अट्ठाई जो तहिं करइ ए ।
अट्ठ विहए करम हणंति सो अट्ठभाव सिज्झइ ।। १३ ।।
अंबिल एजो उपवास एगासण नीवी करइं ए ।
तसुमणिए अच्छइं आस इह भव परभव विहव परे ।। १४ ।।
पेमिहि मुनि अन्नहदाणु धम्मियबच्छलुकरइं ए ।
तसु कही नहीं उपमाणु परभाति सरण तिणउ ।। १५ ।।
आवइ ए जेन उज्जितिघर घरह धंधोलियाए ।
आविहीए हीयइ न जं संतिनिफल जीविउसासतणऊं ।।१६।।
जीविउ ए सोजि परघन्नु तासु समच्छर निच्छणु ए ।
सोपरिए मासु परिधन्नु वलिहीजइ नहिं वासर ए ।। १७ ।।
ज(जि)ही जिणुए उज्जिलठामि सोहग सुंदर सामलु ए ।
दीसइ ए तिहुवण सामिनयण सलूणऊं नेमिजिण ।। १८ ।।
नीझरण ए चमर ढुलंति मेघाडंबर सिरी धरीइं ।
तित्थह ए सउ रेवदी सिंहासणि जयइ नेमि जिण ।। १९ ।।
रंगिहि ए रमइ जो रासु (सिरि)विजयसेण सूरि निमविउए ।
नेमिजिणतूसह तासु अबिक पूरह मणिरलीए ।। २० ।।
।। समत्तुरेवंतगिरि रासु ।।

(पृ० १५३ का शेषांश)

पाठ के मूलभूत अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म के विशेष गुण पढ़ने पड़ते है । यथा—

'स्वस्ति' त्रिलोकगुरुवे जिनपुंगवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदयसुस्थिताय ।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भूतवैभवाय ।।
स्वस्त्युच्छलद्विमलबोधसुधाप्लवाय,
स्वस्ति स्वभावपरभावविभासकाय ।
स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ।।'—
इत्यादि ।

उक्त प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी श्लोकों में ग्रहीत पद 'स्वस्ति' ही है, जो हमें 'स्वस्तिक' नाम में मिलता है, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'स्वस्ति एवं स्वस्तिकम्' में ऊपर के वर्णन में हमें देव (अरहंत-सिद्ध) और धर्म (बोध) की स्पष्ट झलक मिल रही है और इनको मंगल कहा गया है ; तथा 'स्वस्ति' और स्वस्तिक दोनों का अर्थ मंगल है। आगे चलकर इसी पूजा प्रसंग मे हम साधुओं की 'स्वस्ति-रूपता' उनकी ऋद्धियों के वर्णन में पढते है । अरहंत रूप में तीर्थंकरों की 'स्वस्ति'-रूपता पढ़ने को मिलती है। अरहंत और साधुओ के लिए निम्न 'स्वस्ति' विधान है—
अरहंत स्वस्ति—

श्री वृषभो नः स्वस्ति, स्वति श्री अजितः ।
श्री संभवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनंदनः ।।

इत्यादि । —क्रमशः

# स्वस्तिक रहस्य

☐ श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम. ए.

आस्तिक भारतीयो में, चाहे वे वैदिक मतावलम्बी हों या सनातन जैन मतावलम्बी, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी की मांगलिक क्रियाओं में (जैसे विवाह आदि षोडश संस्कार, चूल्हा-चक्की स्थापना, दुकानदारों के खाता-बही, तराजू-बांट के मुहूर्त में) तीन परिपाटियां मुख्य रूप से देखने को मिलती है। कुछ लोग 'ॐ' लिखकर कार्य प्रारम्भ करते है और कुछ स्वास्तिक अंकित कर कार्य का श्री-गणेश करते है। इसके सिवाय कुछ लोग ऐसे भी है, जो दोनों को प्रयोग मे लाते है। वे 'ॐ' भी लिखते है और स्वस्तिक भी अंकित करते है। ग्रामीण अनपढ़ स्त्रियां भी इन विधियो को सादर अपनाती है। जैनियों के आगमो मे 'ॐ' और 'स्वस्तिक' को प्रमुख स्थान दिया गया है। वेदों मे भी ऊँकार को 'प्रणव' माना गया है, और प्रत्येक वेद मन्त्र का उच्चारण ॐकार से प्रारम्भ होता है। 'स्वस्ति' शब्द भी वेदों मे अनेक बार आता है जैसे— 'स्वस्ति न इन्द्रः' इत्यादि। जब एक ओर भारत मे इनका इतना प्रचार है, तब दूसरी ओर जर्मन देश भी 'स्वस्तिक' से वंचित नही है। वहा स्वस्तिक चिह्न को राजकीय सन्मान मिला हुआ है। गहराई से खोज की जाय तो अंग्रेजो के क्रास चिह्न मे भी 'स्वस्तिक' की मूलक झलक मिल सकती है। सम्भावना हो सकती है कि ईसा की फाँसी के बाद चिह्न का नामान्तर या भावान्तर कर दिया गया हो।

'ॐ' के सम्बन्ध में विविध मतावलम्बी विविध-विविध विचार प्रस्तुत करते है और विचार प्रसिद्ध भी है यथा 'ॐ' परमात्मा वाचक है, 'मंगल स्वरूप है' इत्यादि। जैनियों की दृष्टि से 'ॐ' पंचपरमेष्ठी वाचक एक लघु संकेत है। इसे पंचपरमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। वह इस प्रकार जिन शासन मे णमोकार मन्त्र की अपार महिमा है। प्रत्येक जैन, चाहे वह किसी पन्थ का हो, हिमालय से कन्याकुमारी तक इस मन्त्र को एक स्वर से पढ़ता है। मन्त्र इस प्रकार है—

'णमो अरहंताण णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्व साहूण ॥'

अरहन्तो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार और लोक में सर्व साधुओ (श्रवण जैन) मुनियों को नमस्कार।

### ॐ में परमेष्ठी

यदि उक्त मन्त्र को सर्वगुण सम्पन्न रखते हुए, एकाक्षर मे उच्चारण करना हो तो 'ॐ' मात्र कह देने से निर्वाह हो जाता है, क्योंकि 'ॐ' को शास्त्रों में बीजाक्षर माना गया है। जिस प्रकार छोटे से बीज मे वृक्षरूप होने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार 'ॐ' मे पूरे णमोकार मन्त्र की सामर्थ्य है, क्योंकि 'ॐ' में पांचो परमेष्ठी गर्भित है। तथाहि—

'अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो
पढ़मक्खर णिप्पण्णो ऊँकारो पंचपरमेष्ठी ॥"

अरहन्त, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि, इन पांचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर से सम्पन्न 'ऊँ' है, और यह 'ऊँ' परमेष्ठी वाचक है। तथाहि—

अरहन्त, का अ, अशरीर (सिद्ध) का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनि का म्।

अ+अ=आ (अकः सवर्ण दीर्घः) +
आ+आ=(,, ,, ,,) +
आ+उ=ओ (आद्गुणः)
ओ+म्=ओम्=अनुस्वारयुक्त रूप=ॐ

पंच परमेष्ठियों के आद्यक्षरों से निष्पन्न 'ॐ' की महिमा इस प्रकार निर्दिष्ट है—

ऊँकारं बिन्दुसंयुक्त नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ऊँकाराय नमो नमः॥

बिन्दु सहित ऊँकार का योगीजन नित्य ध्यान करते

हैं। यह ऊँकार इच्छित पदार्थ-दाता और मोक्षप्रदाता है। उस ऊँकार को नमस्कार हो।

उपनिषद्कार के शब्दो मे- ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढ़ामैकाग्र्यलक्षणां मति सन्तनुयात-छांदोग्योपनिषद् शांकर भाष्य।' १ १, १। इसे 'प्रणव' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि यह कभी भी जीर्ण नही होता। इसमें प्रतिक्षण नवीनता का संचार होता है और यह प्राणों को पवित्र और संतुष्ट करता है। 'प्राणान् सर्वान् परमात्म निप्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः।'

ऊपर कहे गये णमोकार मन्त्र की मंगल-रूपता मन्त्र के साथ पढ़े जाने वाले माहात्म्य से निर्विवाद सिद्ध होती है। आगमों मे अन्य अनेकों मन्त्रों की मगलरूपता प्राप्त है, पर मुख्यत: दो ही प्रसग ऐसे आते है, जिनमे मंगल शब्द का स्पष्टत: उल्लेख है—'णमोकार मन्त्र' और 'मंगलोत्तमशरणपाठ।' णमोकार मन्त्र के सबन्ध मे कहा गया है—

'एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसि पढ़मं हवइ मंगल॥'

यह पच नमस्कार सर्व पापो को नाश करने वाला और सर्व मगलो मे प्रथम मगल है।

उक्त विवरण के प्रकाश मे, मंगल कार्यों मे 'ॐ' का प्रयोग किया जाना स्पष्टत. परिलक्षित होता है, जो उचित ही है। पर 'स्वस्तिक' के सबन्ध मे अभी तक निर्णय नही हो पाया है। कोई इसे चतुर्गति भ्रमण और मुक्ति का प्रतीक मानता चला आ रहा है तो कोई ब्राह्मी लिपि के 'ऋ' वर्ण के समाकार मानकर इसे ऋषभदेव का प्रतीक सिद्ध करने के प्रयत्न मे है। मत ऐसा भी है कि यह 'सस्थापक' के भाव मे है। तात्पर्य यह कि अभी कोई निष्कर्ष नही मिल रहा है। अत उसकी वास्तविकता पर विचार करना श्रेयस्कर है।

## स्वस्ति, स्वस्तिक या सांथिया

'स्वस्तिक' सस्कृत भाषा का अव्ययपद है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इसे वैयाकरण कौमुदी मे ५४ वे क्रम पर अव्यय पदों मे गिनाया गया है। यह 'स्वस्तिक' पद 'सु' उपसर्ग तथा 'अस्ति' अव्यय (क्रम ६१) के सयोग मे बना है, यथा— सु+अस्ति=स्वस्ति। इसमें 'इकोयणचि' सूत्र से इकार के स्थान में वकार हुआ है।

बहुत से लोग 'अस्ति' को क्रियापद मानकर उसका 'है' या 'हो' अर्थ करते हैं, जो उचित नही है, क्योंकि यहां 'अस्ति' पद क्रियारूप में नही है, अपितु 'तिनत प्रतिरूपक अव्यय' है। जैसे कि 'अस्तिक्षीरा' में तिनत प्रतिरूपक अव्यय' है। वैसे 'स्वस्ति' मे भी 'अस्ति' को अव्यय माना गया है, और 'स्वस्ति' अव्यय पद का अर्थ कल्याण, मगल, शुभ आदि के रूप मे किया गया है। प्रकृत में उच्चरित 'स्वस्तिक' शब्द भी इसी 'स्वस्ति' का वाचक है। जब 'स्वस्ति' अव्यय से स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय हो जाता है, तब यही 'स्वस्ति' प्रकृत में 'स्वस्तिक' नाम पा जाता है। परन्तु अर्थ में कोई भेद नही होता। 'स्वस्ति एवं स्वस्तिक' की इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो 'स्वस्ति' है वही 'स्वस्तिक' है और जो 'स्वस्तिक' है वही 'स्वस्ति' है। उक्त प्रसंग से ऐसा फलित हुआ कि सभी 'स्वस्ति' 'स्वस्तिक' है और सभी 'स्वस्तिक' 'स्वस्ति' है, अर्थात् 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' मे कोई भेद नहीं है। यतः—'स्वस्ति एवं स्वस्ति'।

प्राकृत भाषा मे 'स्वस्ति' या 'स्वस्तिक' के विभिन्न रूप मिलते है। जिन रूपो का प्रयोग मंगल, क्षेम, कल्याण जैसे प्रशस्त अर्थो मे किया गया है, उनमे कुछ इस प्रकार है—

(१) सत्थि (स्वस्ति) 'सत्थि करेई कविलो'।
--पउमचरिउ, ३५।६२.

(२) सत्थि (स्वस्ति क्षेम, कल्याण, मंगल, पुण्य आदि), हे० २।४५, स० २१।

(३) सत्थिअ (स्वस्तिक) प्रश्न व्याकरण, पृ० ६८, सुपासनाह चरिअ ५२, श्रा. प्र. सू २७।

(४) सत्थिक, ग (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पंचासक प्रकरण ४।२३।

(५) सोत्थय (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पचासक प्रकरण।

(६) सोवत्थिअ (स्वस्तिक) उववाई सूत्र, ज्ञातृ धर्मकथा, पृष्ठ ५४।

उक्त सभी शब्द-रूपों में मंगल भाव ध्वनित है। अतः यह निश्चय सहज ही हो जाता है कि 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' का प्रयोग भी 'ॐ' की भांति मगल निमित्त होना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि जैसे 'ॐ' को पंच परमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वैसे स्वस्तिक को किसका प्रतिनिधित्व प्राप्त है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि:—

जब यह निश्चय हो चुका कि 'स्वस्तिक' निर्माण मे मंगल कामना निहित है, तो यह भी आवश्यक है कि इसमें भी 'ॐ' की भांति कोई मगल निहित होना चाहिए। इसकी खोज के लिए जब हम णमोकार मन्त्र से आगे चलते है, तब हमे उसी पाठ परम्परागत चतुःशरण पाठ मिलता है और इस पाठ को स्पष्ट रूप से मंगल घोषित किया गया है, यथा —'चत्तारिमगल' इत्यादि। इस पाठ को आज सभी जैन आबालवृद्ध पढ़ते है। पूरा पाठ इस भांति है—

'चत्तारि मंगलं'। अरहन्ता मगलं। सिद्धा मंगलं, साहू मगल, केवलि पण्णत्तो धम्मो मगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा। अरहन्ता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारिसरण पवज्जामि। अरहते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरण पवज्जामि। साहूसरणं पवज्जामि। केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

उक्त पूरा पाठ 'मंगलोत्तमशरण' या 'चतुःशरण' पाठ के नाम से प्रसिद्ध है और णमोकार मन्त्र के क्रम से उसी के बाद बोला जाता है। यह मगल अर्थात् 'स्वस्ति पाठ' णमोकार मन्त्र की भाति प्राचीनतम प्राकृत भाषा मे निबद्ध और मंगल शब्द के निर्देश से युक्त है। अन्य स्थलो पर हमें बहुत से अन्य मंगल भी मिलते है। पर वे न तो प्रतिदिन नियमित रूप से सर्व साधारण मे पढ़े जाते है और न ही मूल मन्त्र—णमोकारगत पच परमेष्ठियो का बोध कराते है। अतः 'मंगल' मे चत्तारि-पाठ की प्रमुखता णमोकार मन्त्र की भाति सहज सिद्ध हो जाती है।

स्थानकवासी संप्रदाय मे 'चत्तारिमंगलं' पाठ 'मगली' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यतः जब कोई श्रावक मगल कामना में साधु-साध्वियों से प्रार्थना करता है कि महाराज ! 'मंगली' सुना दीजिए, तो वे सहर्ष 'चत्तारिपाठ' द्वारा उसे आशीर्वाद देते है। इस मंगल पाठ का भाषान्तर (हिन्दी रूप) भी बहुत बहुलता से प्रचारित है, यथा—

'अरिहंत जय जय, सिद्ध प्रभु जय जय।
साधु जीवन जय जय, जिन धर्म जय जय॥
अरिहंत मंगलं, सिद्ध प्रभु मगल।
साधु जीवन मंगलं, जिन धर्म मगल।
अरिहंत उत्तमा, सिद्ध प्रभु उत्तमा।
साधु जीवन उत्तमा, जिन धर्म उत्तमा॥
अरिहंत शरणा, सिद्ध प्रभु शरणा।
साधु जीवन शरणा, जिन धर्म शरणा॥
ये ही चार शरणा, दुःख दूर हरना।
शिव सुख करना, भवि जीव तरणा॥'

इस सर्व प्रसंग का तात्पर्य ऐसा निकला कि उक्त मूल-पाठ जो प्राकृत मे है और 'चतुः मंगल' रूप मे है, वह मंगल, कल्याण, शान्ति और सुख के लिए पढ़ा जाता है तथा 'स्वस्ति या स्वस्तिक' (मगल कामना) से सम्बन्धित है।

'दिगम्बर आम्नाय' में पूजा को श्रावक के दैनिक षट-कर्मों मे प्रथम गिनाया गया है। वहा प्रथम ही देवशास्त्र-गुरु की पूजा की जाती है और पूजा का प्रारम्भ दोनो (णमोकारमत्र और चतुःशरण पाठ) और उनके माहात्म्य से होता है। जैसे णमोकार मन्त्र वाचन का प्रथम क्रम है, वैसे उसके माहात्म्य वाचन का क्रम भी प्रथम है, यथा—

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत् पचनमस्कार सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मान सः बाह्याऽभ्यतरैः शुचिः।
अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः।
मगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः॥
एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, पढ़म हवइ मगलं॥

इसी क्रम मे जब हम पूजन प्रारम्भ करते है, हमे 'मगलोत्तमशरण पाठ का माहात्म्य और मंगलोत्तमशरण

((शेष पृ० १५२ पर)

# हिन्दी के आधुनिक जैन महाकाव्य

□ कु० इन्दु राय, एम. ए., शोधछात्रा, लखनऊ

भारतवर्ष की विविध संस्कृतियों में अवस्थित है जैन संस्कृति, जिसका अपना विशेष दर्शन है, विशिष्ट दृष्टि है। जैन मतावलम्बियों की अपनी पृथक् आचार-विचार संहिता है, निजी जीवन पद्धति है। उन आचार-विचारों, दर्शन, आदर्शों व मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाला वाङ्मय ही "जैन साहित्य" है। अखिल भारतीय ज्ञान-संवर्धन एवं साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में जैन साहित्यकारों ने प्राचीन एवं अर्वाचीन समस्त भारतीय भाषाओं में विविध विषयक, बहुविद्यात्मक विपुल साहित्य का सृजन करके भारती के भंडार को सुसमृद्ध एव समलंकृत किया है। "संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओ में तो अगणित जैन साहित्य रचा ही गया, पर आधुनिक देशी भाषाओं की जननी अपभ्रंश पर तो जैन साहित्यकारो का एकाधिकार-सा ही रहा है। पुरातन हिन्दी भाषा मे भी गद्य एवं पद्य साहित्य का बहुभाग जैन प्रणीत है।"[1] परन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय साहित्य के इतिहास में जैन साहित्य की उपेक्षा की जाती रही है। इस उपेक्षा का एक प्रमुख कारण स्वयं जैनियों की धर्मान्धता व रूढ़िवादिता भी था।

इतिहासकारो के अनुसार, मुद्रण कला का कार्य सन् ८६८ ई० में चीन में प्रारम्भ हुआ था। भारतवर्ष मे उसका श्रीगणेश सन् १५५६ ई० मे हुआ तथा देवनागरी लिपि का प्रथम लेख सन् १६७८ में छापा गया। मुद्रण का यह कार्य अद्यावधि द्रुत वेग से प्रवाहमान है।[2] १७वीं शती तक अनेकानेक ज्ञान-क्षेत्रों व साहित्यिक विधाओं में जैन वाङ्मय का प्रभूत मात्रा में सृजन हो चुका था, किन्तु अधिकांश जैन धर्मानुयायियों ने सकुचित प्रवृत्तिवश ग्रन्थों के मुद्रण का विरोध किया। परिणामस्वरूप जैन साहित्य का अपेक्षित प्रचार एवं प्रसार नहीं हो सका। अन्ततोगत्वा १९वीं शती के अन्त तथा २०वी शती के आरम्भ में कई जैन तथा जैनेतर विद्वान् 'जैन वाङ्मय' के प्रकाशन की ओर आकृष्ट हुए और तब से यह साहित्य समस्त विधाओं व क्षेत्रों मे विपुल मात्रा मे प्रकाश मे आ रहा है, रचा जा रहा है। यही कारण है कि अब भारतीय साहित्य का सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखने वाले मनीषी 'जैन साहित्य' की पूर्ण उपेक्षा करने मे हिचकने लगे है। वर्तमान समय में रचे जा रहे साहित्य के इतिहास में जैन कृतियो का परिचय समाविष्ट हो रहा है।[3]

जैन साहित्य अत्यन्त व्यापक, अनेक रूपात्मक और बहुमुखी है। अन्यान्य विधाओं की भाति जैन प्रबन्धकाव्यों (महाकाव्य तथा खण्डकाव्य) की भी एक सुदीर्घ एवं सुसमृद्ध परम्परा है। सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश वाङ्मय की श्रीवृद्धि करने वाली, जैन काव्यो की परम्परा, सम्प्रति हिन्दी भाषा में भी प्रगतिमान है। गत सौ वर्षों मे खड़ी बोली हिन्दी मे अनेकानेक जैन प्रबन्धकाव्यों की सृष्टि हुई है, जिनमें उल्लेखनीय है--कवि कृष्णलाल विरचित 'वियोग मालती', श्री दयाचन्द गोयलीय कृत 'सीता चरित्र', कवि राजधरलाल जैन केवलारी कृत 'वीर चरित्र', पन्नालाल जैन विरचित 'मनोरमा चरित्र' व 'भरतेश्वर काव्य', भंवरलाल सेठी द्वारा रचित 'अंजना पवनञ्जय' कवि मंगलसिंह रचित 'तीर्थंकरार्चन', युवा कवि बालचन्द्र

---

१. तीर्थंकरो का सर्वोदय मार्ग—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, पृ० ५९

२. प्रकाशित जैन साहित्य—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, पृ० ५-६

३. (क) हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

(ख) हिन्दी साहित्य का इतिहास—सम्पादक डा० नगेन्द्र

(ग) हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड)—सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि

जैन प्रणीत 'राजुल', कविरत्न गुणभद्र आगास विरचित 'राम वनवास', 'प्रद्युम्नचरित्र' तथा 'कुमारी अनन्तमती', कविवर धन्यकुमार सुधेश कृत 'विराग' और 'परम ज्योति महावीर', कवि नाथूलाल त्रिवेदी का 'महावीर चरित्रामृत', महाकवि अनूप शर्मा प्रणीत 'वर्द्धमान', राजस्थानी कवि मूलदास मोहनदास नीमावत कृत 'वीरायण', श्री यति मोती हंस जी कृत 'तीर्थंकर श्री वर्द्धमान', कविवर वीरेन्द्रप्रसाद जैन विरचित 'तीर्थंकर भगवान महावीर' और 'पार्श्व प्रभाकर', श्री मोतीलाल 'मार्तण्ड' ऋषभ प्रणीत 'श्री ऋषभ चरित्र सार', गुजराती कवि हीराचन्द झवेरी कृत 'त्रिभुवन तिलक', श्री गणेश मुनि का 'विश्व ज्योति महावीर', महाकवि रघुवीर शरण 'मित्र' विरचित 'वीरायन' तथा डा० छैल बिहारी गुप्त प्रणीत 'तीर्थंकर महावीर'। उपर्युक्त प्रबन्ध काव्यों मे से बीसवी शताब्दी में रचे गये हिन्दी के प्रमुख जैन महाकाव्यो का सक्षिप्त विवरण अग्रिम पंक्तियों मे दिया गया है।

आधुनिक युग मे खड़ी बोली हिन्दी मे, सर्वप्रथम जैन महाकाव्य प्रणयन का श्रेय जैनेतर कवि पण्डित अनूप शर्मा को प्राप्त है। महाकवि अनूप प्रणीत महाकाव्य "वर्द्धमान" वीर शासन जयन्ती, श्रावण कृष्ण एक, वीर निर्वाण सवत् २४७७ (जुलाई सन् १९५१) को भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस से मुद्रित हुआ था। सम्प्रति यह महाकाव्य भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कनाट प्लेस, नई दिल्ली से प्राप्त किया जा सकता है। १७ सर्गों मे निबद्ध इस महाकाव्य के कुल १९६७ छन्दों मे जैन तीर्थंकर परम्परा के अन्तिम अर्थात् २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर, के जिनका एक नाम वर्द्धमान भी है, पूर्व भवों से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक के जीवन को काव्यात्मक रूप मे अनुस्यूत किया गया है। महाकाव्यकार ने भगवान वर्द्धमान के इतिवृत्त चित्रण मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर मान्यताओं मे समन्वय स्थापन का प्रयास किया है।[1] समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाने के अनन्तर भी जैन मान्यतायें अक्षुण्ण नहीं रह पाई है, स्थल-स्थल पर कवि का ब्राह्मणत्व काव्यावरण से बाहर झलकने लगा है। भगवान महावीर के सम्पूर्ण जीवन की प्रमुख कथा 'अघारव्य लहिदर्प-मर्दन', 'चन्दना-उद्धार' तथा 'अनंग-परीक्षा' आदि गौण प्रकरण सुष्ठु रूप से सुनियोजित है।

शिल्प सौष्ठव एवं काव्यगत उत्कृष्टता की दृष्टि से 'वर्द्धमान' एक सफल महाकाव्य है। महाकवि ने केवल चार प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। १९६७ छन्द संयुत प्रस्तुत महाकाव्य में १९२२ वंशस्थ, ७० द्रुतविलम्बित, ३ शार्दूलविक्रीडित तथा २ मालिनी छन्द हैं। हिन्दी में इतने अधिक वशस्थ छन्दो का प्रयोग और किसी काव्यकार ने एक कृति मे नही किया है।[1] काव्य की भाषा आद्योपांत प्रांजल व सस्कृतनिष्ठ है। अत्यधिक सामासिक पदावली के प्रयोग से काव्यार्थ में दुरुहता आ गई है, कथा प्रवाह भी स्थान-स्थान पर अवरुद्ध हो गया है। शृंगार एव शात रस प्रधान इस महाकाव्य मे अन्य सभी रसों का भी प्रसंगानुकूल परिपाक हुआ है।

महाकवि अनूप के उपर्युक्त महाकाव्य के उपरांत सन् १९५४ ई० मे कवि धन्यकुमार 'सुधेश' ने 'परम ज्योति महावीर' नामक महाकाव्य का सृजन प्रारम्भ किया, परन्तु काव्य की समाप्ति व प्रकाशन से पूर्व सन् १९५६ मे कवि वीरेन्द्रप्रसाद जैन प्रणीत महाकाव्य "तीर्थंकर भगवान महाबीर" प्रकाशित हो गया था। ९ वर्ष के अन्तराल पर, यत्किंचित् परिवर्द्धन के साथ सन् १९६५ मे 'तीर्थंकर भगवान महावीर' महाकाव्य का द्वितीय संस्करण 'श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज से प्रसारित हुआ। प्रस्तुत महाकाव्य में कुल ७ सर्ग है जिनका नामकरण क्रमशः—पूर्वाभास, जन्म महोत्सव, शिशुवय, किशोरवय, तरुणाई एवं विराग, अभिनिष्क्रमण एवं तप, तथा निर्वाण एवं वन्दना-रूप मे किया गया है। सर्ग शीर्षकों से ही तदन्तर्गत निहित कथ्य का आभास मिल जाता है। महाकाव्यकार ने लोक रजक भगवान

१. "...कवि न दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नाय मे ही नही, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म में भी सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न किया है।"

—"वर्द्धमान" का 'आमुख'—लेखक लक्ष्मीचन्द्र जैन, पृ० १७

१. अनूप शर्मा : कृतियाँ और कला—सम्पादक डा० प्रेमनारायण टण्डन, पृ० २०८

महावीर के पावन चरित्र का सरल, आडम्बर-रहित, सरस भाषा में मनोग्राही चित्रण किया है। विवेच्य महाकाव्य में छन्द संख्याबद्ध नहीं हैं, किन्तु महाकाव्यकार के शब्दों में—"···वास्तव में यह भक्ति की शक्ति ही है जिसने मुझसे मेरे आराध्य के प्रति ११११ छन्द लिखवा लिए।" महाकाव्य के परम्परागत लक्षण का अनुकरण करते हुए कवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन-क्रम का निर्वाह किया है। काव्य में आद्योपाँत गेयता व लयात्मकता का भी ध्यान रखा है।

'वर्द्धमान' तथा 'तीर्थंकर भगवान महावीर' के ही वर्ण्य-विषय पर लिखा जाने वाला तीसरा हिन्दी जैन महाकाव्य है, कविवर धन्यकुमार जैन 'सुधेश' विरचित "परम ज्योति महावीर", जो सन् १९६१ मे 'श्री फूलचन्द जवरचन्द गोधा जैन ग्रथ माला', इन्दौर से प्रकाशित हुआ। कवि ने अपने इस ग्रन्थ को 'करुण, धर्मवीर एवं शांत रस प्रधान महाकाव्य' संज्ञा प्रदान की है।

"परम ज्योति महावीर" महाकाव्य मे सर्गों की संख्या २३ है। इस बहुसर्गात्मक ग्रथ मे कुल २५१९ छन्द है जिनका नियमपूर्वक विभाजन किया गया है। प्रत्येक आशीर्षित सर्ग में १०८ छन्द है। इसके अतिरिक्त ३३ छन्द प्रस्तावना में पृथक् रूप से निबद्ध है।[1] महाकवि ने इस बात का ध्यान रखा है कि तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन व तद्सम्बन्धित घटनाओं के सम्यक् निर्वाह के साथ-साथ महावीर युगीन राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पक्षों का भी समुचित निरूपण हो। अपने इस प्रयास मे कवि पर्याप्त सफल हुआ है। जैन संहिता, दर्शन, धर्मादि से भलीभाँति भिज्ञ कवि 'सुधेश' ने जिनेन्द्र भगवान की दिव्य वाणी की मौलिकता को अक्षुण्ण रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर अवधारणाओं के सत् समन्वय के सम्बन्ध में महाकाव्यकार ने लिखा है—"दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों से जो कुछ सत्, शिव, सुन्दर प्राप्त हुआ है, उससे इस महाकाव्य को अलंकृत करने का प्रयत्न किया है।"[1]

कथा वस्तु की दृष्टि से 'परम ज्योति महावीर' में अपने पूर्वरचित महाकाव्यों से पृथकता इस बात में है कि केवल इस कृति में सन्मति भगवान के ४१ चातुर्मासों व साधनाकाल का विशद वर्णन कर नायक के जीवनवृत्त को सम्पूर्णता प्रदान की गई है। उल्लेख्य महाकाव्य मे आदि से अन्त पर्यन्त केवल एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ को माधुर्य एवं प्रसाद गुण सम्पन्न बनाए रखने के लिए सुबोध, सुकोमल व जन प्रचलित भाषा का आश्रय लिया गया है। काव्य मध्य मे प्रसंगानुकूल आगत जैन पारिभाषिक शब्दो, यथा—आस्रव, निर्जरा, पुद्गल, प्रासुक, निगोद, पड़गाहना, कुलकर, पचास्तिकाय, अनगार, मानस्तम्भ, द्वादश भावनाए आदि, की महाकाव्यान्त में सरल व्याख्या दी गई है। इसी प्रकार, परिशिष्ट २ व परिशिष्ट ३ मे क्रमशः काव्यान्तर्गत प्रयुक्त ऐतिहासिक स्थलों व पात्रों का भी परिचय कवि ने दिया है। सारांशतः काव्यशास्त्रीय दृष्टि व महत् प्रयोजन दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत महाकाव्य उत्कृष्ट है।

पूर्व विवेचित महाकाव्यों से भिन्न कथ्य व पृथक् शैली मे कवि मोतीलाल 'मार्तण्ड' ऋषभदेव ने 'श्री ऋषभ चरितसार' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना की है। प्रस्तुत कृति को लघु आकार का महाकाव्य मानना अनुचित न होगा। विवेच्य महाकाव्य १५ फरवरी, सन् १९६४ में 'श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगज' से प्रकाशित किया गया।

'श्री ऋषभ चरितसार' की कथावस्तु आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अथवा ऋषभनाथ के पावन चरित्र पर आधृत है। हिन्दी भाषा मे तीर्थंकर वृषभदेव पर रचा जाने वाला कदाचित् उपरोक्त काव्य ग्रन्थ ही प्रकाश में आया है। प्रस्तुत महाकाव्य का आकार शास्त्र-ग्रन्थों के समान है तथा इसे तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' की शैली का अनुसरण करते हुए दोहा, चौपाई, सोरठा

१. 'तीर्थंकर भगवान महावीर': "दो शब्द"—श्री वीरेन्द्रप्रसाद जैन, पृ० ३

२. विस्तृत विवरण हेतु देखिए—
'कृति की कथा'—'परम ज्योति महावीर' में—श्री धन्यकुमार जैन 'सुधेश', पृ०२०-२१

३. 'कृति की कथा' : 'परम ज्योति महावीर' में –श्री धन्यकुमार 'सुधेश' पृ० २०-२१

आदि छन्दों में संवारा गया है। काव्यारम्भ से पूर्व भूमिका में बाबू कामताप्रसाद जैन ने वेद, उपनिषदादि संस्कृति ग्रन्थों के उद्धरणों का उल्लेख करते हुए महाकाव्य के महानायक ऋषभदेव की ऐतिहासिकता प्रमाणित कर दी है। भूमिका के उपरांत कवि 'मार्तण्ड' जी की शुद्ध संस्कृत भाषा में 'श्रुत वन्दना' निबद्ध है, तदन्तर काव्य प्रारम्भ हुआ है। विवेच्य महाकाव्य मे ९ सर्ग है जिनके शीर्षक क्रमशः है—मंगल सर्ग, पूर्वभव सर्ग, अवतरण सर्ग, उपकार सर्ग, तप सर्ग, उपदेश सर्ग, विजय सर्ग, स्वप्न सर्ग तथा निर्वाण सर्ग। इन नौ सर्गों मे छन्दो की कुल संख्या लगभग ७३५ है। महाकाव्यकार ने प्रत्येक सर्ग में छन्दों की उनके प्रकार के अनुसार पृथक् संख्या दी है, जिससे क्रम विशृंखलित व सम्भ्रमकारी हो गया है।

पौराणिक महाकाव्यो के लक्षणों का निर्वाह करते हुए, प्रथम सर्ग का आरम्भ मंगलाचरण, वृषभवन्दना एवं देवशास्त्र गुरु-स्तुति से किया गया है। धीर, प्रशांत नायक तीर्थंकर ऋषभनाथ के साधना एवं अनुचिंतक प्रधान जीवन पर आधृत काव्य मे भी कवि ने बहुल घटनाओं का समावेश करके ग्रन्थ को रोचक व ग्राह्य बना दिया है। भगवान ऋषभ के साथ-साथ उनके पुत्र चक्रवर्त्ती सम्राट् भरत तथा महायोगी बाहुबलि के जीवनवृत्त को भी प्रस्तुत काव्य में चारु रूप से सयोजित कर लिया है और कथा प्रवाह अबाधित रहा है। कवि ने प्रत्येक छन्द के उपरान्त हिन्दी गद्य मे अर्थ व्याख्या दे दी है जिसकी प्रबुद्ध पाठक के लिए आवश्यकता नही थी।

'श्री ऋषभ चरित सार' के पश्चात् साहित्यालोक में आने वाला उल्लेख्य हिन्दी जैन महाकाव्य है कवि वीरेन्द्रप्रसाद जैन प्रणीत "पार्श्व प्रभाकर"। प्रस्तुत महाकाव्य २२ जनवरी, सन् १९६४ मे पूर्ण हो चुका था किंतु आर्थिक कठिनाइयों वश मुद्रित न हो चुका।[1] अन्तत सन् १९६७ में गोहाटी की दिगम्बर जैन पचायत के आर्थिक सहयोग से, श्री अखिल विश्व-जैन मिशन, अलीगंज (एटा) से प्रकाशित हुआ। आकार-प्रकार, भाषा एवं शैली-विधा के परिप्रेक्ष्य में अवलोकें तो 'पार्श्व-प्रभाकर' कवि के पूर्व रचित महाकाव्य 'तीर्थंकर भगवान महावीर से पर्याप्त साम्य रखता है, परन्तु काव्य का वर्ण्य विषय पूर्णतः पृथक् है। 'पार्श्व प्रभाकर' मे कवि ने जैन तीर्थंकर परम्परा के २३वें तीर्थंकर 'पार्श्वनाथ' के पूर्व जन्मों से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक के जीवन को काव्य का आधार बनाया है।

कवि वीरेन्द्रप्रसादजी ने महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण या प्रभु वन्दना से न करके भारत देश स्थित प्राकृतिक सुषमा सम्पन्न काशी-राज्य के वैभव वर्णन से किया है; परन्तु काव्यारम्भ से पूर्व पृथक् रूप से 'प्रणत प्रणाम' शीर्षक से ८ पंक्तियों की स्तुति लिखी है। प्रभु पार्श्वनाथ के प्रणमन वन्दना को समर्पित इस लघु स्तुति में अनुप्रासिक सौन्दर्य दृष्टव्य है—कवि ने 'प्रणत प्रणाम' में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का प्रारम्भ 'प' वर्ण से किया है। 'पार्श्व प्रभाकर' महाकाव्य पर कविवर भूधरदास विरचित 'पार्श्व पुराण' का प्रभाव परिलक्षित होता है, कई छन्द तो 'पार्श्व-पुराण' के भाषानुवाद मात्र प्रतीत होते है। विवेच्य कृति मे सर्गों की कुल सख्या १० है तथा तदन्तर्गत निबद्ध छन्द लगभग १३८५ है। सर्गो का नामकरण अग्रलिखित क्रम से हुआ है—प्रथम सर्ग 'पूर्वाभास', दूसरा 'गर्भकाल', तीसरा 'जन्म-महोत्सव', चौथा सर्ग 'शिशुवय', पांचवाँ 'किशोरवय', षष्ठम सर्ग 'तरुणवय एवं विराग', सप्तम 'पूर्व-भव दर्शन एवं लौकान्तिक देवार्चन', अष्टम सर्ग 'अभिनिष्क्रमण, तप एवं केवल-ज्ञान', नवम 'धर्मोपदेश' तथा दशम सर्ग 'निर्वाण वन्दना'।

'पार्श्व प्रभाकर' के उपरान्त कई वर्षों तक कोई हिंदी जैन महाकाव्य साहित्य जगत मे नही आया, किन्तु अब तीर्थंकर भगवान महावीर के पच्चीस-सौवे निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य मे विगत दो-तीन वर्षो के भीतर साहित्य की कथा, नाटक, उपन्यास आदि समस्त विधाओं में विपुलात्मक जैन साहित्य सृजित हुआ तथा निरन्तर रचा जा रहा है। इसी अवधि-अन्तराल मे महाकाव्य विधा मे प्रणीत दो अत्यन्त उत्कृट कृतियाँ प्रकाश मे आई है। कविवर रघुवीर शरण मित्र विरचित 'वीरायन' तथा डा० छैलविहारी गुप्त कृत 'तीर्थंकर महावीर'।

महाकाव्यकार रघुवीरशरण मित्र ने अपने 'वीरायन'

---

१. 'पार्श्व-प्रभाकर का 'प्राक्कथन'—श्री वीरेन्द्रप्रसाद जैन

(महावीर मानस महाकाव्य) को हिन्दी साहित्येतिहास के छायावाद-युगीन अप्रतिम कवि जयशंकर प्रसाद की अमर कृति 'कामायनी' के रूप में टाँकने का प्रयास किया है। महाकाव्य का शीर्षक 'वीरायन' ही इस ओर संकेत करता है। प्रस्तुत कहाकाव्य वीर निर्वाण सम्वत् २५०० (सन् १९७५) में भारतोदय प्रकाशन, वेस्ट एण्ड रोड, मेरठ से प्रकाशित किया गया है। महाकवि ने जिनेन्द्र भगवान महावीर की वन्दना, अर्चना तथा उनकी अमरवाणी, आप्त वचनों के सुदूरगामी व दीर्घकालीन प्रभाव-प्रसार के उद्देश्य से ही प्रस्तुत महाकाव्य की रचना की है। स्वयं महाकाव्यकार के शब्दों में—"श्रद्धा ने तपस्या का व्रत लिया, संकल्प किया कि तपालोक वीर भगवान पर महाकाव्य रचूंगा। 'वीरायन' महाकाव्य से भगवान महावीर का अर्चन किया है और काव्य रचने का उद्देश्य है जन-जन में भगवान महावीर की वाणी का सन्देश देना।...मेरी यह रचना स्वान्तःसुखाय होते हुए भी लोक हितकारी है।"[1]

महाकाव्य सम्बन्धी नवीन लक्षणों, नवीन मूल्यों पर आधारित प्रस्तुत बृहदाकार ग्रन्थ मे १५ सर्ग है, जिनके शीर्षक तद्‌निहित वर्ण्य विषय के अनुरूप निम्नलिखित है:

पुष्प प्रदीप, पृथ्वी पीड़ा, बाल कुमुदनी, जन्म-ज्योति, बालोत्पन्न, जन्म-जन्म के द्वीप, प्यास और अंधेरा, सन्ताप, विरक्ति, वनपथ दिव्य दर्शन, ज्ञान-वाणी, उद्धार, अनन्त तथा युगान्तर। जैसा कि सर्ग के नामों से स्पष्ट है, तीर्थंकर महावीर की प्रमुख कथा चौथे सर्ग से ही प्रारम्भ होती है; उससे पूर्व तो महाकवि के विविध शब्द पुष्पों से देवादेव इष्टों की अभ्यर्थना, प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा का विशद वर्णन तथा सतयुग से कलियुग तक के आवर्त्तन-परिवर्त्तन की विस्तृत विवेचना की है। अन्तिम सर्ग 'युगांतर' में निर्वाणोपरांत भगवान महावीर के अमर वचनों व सिद्धान्तों की जीवन एवं जगत को देन तथा उनकी उपलब्धि और उपयोगिता का आकलन किया गया है। कथा-वस्तु की अपेक्षा प्रस्तुत महाकाव्य काव्यगत उत्कृष्टता की दृष्टि से अधिक सफल है। बहुलछन्दात्मक इस काव्य में स्थान-स्थान पर स्वतन्त्र प्रगीतों का नियोजन स्पृहणीय है। प्रकृति का स्वतन्त्र, आलम्बन तथा उद्दीपन सभी रूपों मे मर्मस्पर्शी चित्रण कवि ने किया है। भगवान महावीर के जीवन को सम-सामयिक सन्दर्भ में देखने के परिणामस्वरूप वर्त्तमानकालीन भारत की समस्याओ, अभावों कुरीतियों आदि के निरूपण व उनके समुचित समाधान के उपायों का भी निर्देश इतस्ततः प्राप्य है। परन्तु स्थान-स्थान पर प्रभु महावीर की, प्रकृति की, दृश्यादृश्य शक्तियों, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शारदा आदि दिव्यादिव्य देवों की, काव्य-साफल्य, जनकल्याण तथा राष्ट्रोद्धार के लिए अभ्यर्थना, वन्दना, प्रार्थना कथा-प्रवाह के व्यवधान है।

'अवन्तिका के शब्द शिल्पी' महाकाव्यकार डा० छैल बिहारी गुप्त विरचित 'तीर्थंकर महावीर' महाकाव्य, हिन्दी जैन महाकाव्यो की नवीनतम उपलब्धि है। मुनि श्री विद्यानन्द को समर्पित उपर्युक्त ग्रन्थ का प्रणयन १७ अक्टूबर, १९७४, गुरुवार को प्रातः ७ बजकर १० मिनट पर प्रारम्भ हुआ तथा इसकी परिसमाप्ति हुई १७ फरवरी, १९७५, सोमवार को प्रातः ८ बजकर १० मिनट पर।[2] प्रस्तुत महाकाव्य इसी वर्ष, अर्थात् १९७६ ई० के मार्च महीने मे 'श्री वीर निर्वाण-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर' से प्रकाशित हुआ है। 'सर्गबद्धो महाकाव्यम्' सूत्र के आधार पर कवि ने तीर्थंकर भगवान महावीर के इतिवृत्त को आठ सर्गों मे विभाजित किया है। महाकाव्यकार ने कथा-निर्वाह में ऐतिहासिक सत्यता, साम्प्रदायिक एवं पारम्परिक जैन मान्यताओं की अक्षुण्णता का पूरा ध्यान रखा है। काव्य का कोई भी प्रसंग या कल्पना इतिहास विसंगत नही है। इतर प्रकरणो को अनावश्यक विस्तार न देकर धीर, प्रशात, धीरोदात्त, सन्मति भगवान महावीर के जीवनवृत्त को प्रसाद तथा माधुर्य सयुत काव्य शैली में

१. 'वीरायन' (महावीर मानस महाकाव्य) का "पूर्वालोक"— लेखक— श्री रघुवीर शरण 'मित्र', पृ० ९-१०

२. 'तीर्थंकर महावीर' (महाकाव्य)—डा० छैलविहारी गुप्त—'उपक्रमणिका' के उपरांत में

चित्रित किया गया है। महाकाव्य को सर्व बोध गम्य बनाने के लिए विद्वान् कवि ने दुरूह, क्लिष्ट संस्कृतगर्भित शब्दावली का मोह परित्याग कर जन-प्रचलित, सरल खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया है और उसके परिणामस्वरूप प्रस्तुत महाकाव्य सरस, सुग्राह्य व प्रवाहशील बन सका है।

'तीर्थंकर महावीर' में महाकाव्यकार ने न सर्गों को शीर्षक दिए है, न छन्दों की संख्या। 'वीरायन' की भांति बहुछन्दात्मक इस ग्रन्थ मे भी एकाधिक स्थलो पर मुक्तक गीतों की संयोजना हुई है। द्वितीय सर्ग मे सन्मति प्रभु महावीर द्वारा अभिचिंतित, जीवन की क्षणभंगुरता, वस्तुओं व स्वजनो के प्रति मोह-मायादिक की निस्सारता को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने वाले १० गीत अत्यधिक प्रभावकारी है। यद्यपि इन गीतो से कथा-प्रवाह अवरुद्ध हो गया है तदपि प्रभावोत्पादन मे वे पूर्ण सफल हुए हैं। महाकाव्यान्त में भी कवि ने एक स्वतन्त्र गीत भगवान महावीर के ढाई हजारवें निर्वाण-वर्ष पर विशेषतः रचा है। इस प्रकार कथ्य, विषय-वर्णन तथा शिल्प-सौष्ठव सभी दृष्टियो से डा० छैलबिहारी गुप्त प्रणीत 'तीर्थंकर महावीर' उच्च कोटि का महाकाव्य है। आशा है कि निकट भविष्य मे न केवल भगवान महावीर पर ही, अपितु 'जिन' परम्परा के पोषक अन्य महानायको के पावन-वृत पर भी, उत्कृष्ट महाकाव्य साहित्य प्रागण मे पदार्पण करेंगे।

□ □ □

# प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाएं

भाषा व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जीवन का हरेक क्षण भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यदि भाषा स्वाभाविक, सुबोध और सम्प्रेषणयुक्त है तो व्यक्ति का जीवन दर्पण की भाँति उजागर होता रहेगा और यदि भाषा क्लिष्ट, थोपी हुई तथा रूढ हो तो जीवनदर्शन सामान्य जन की परिधि से बाहर ही घूमता रहता है। उसमे लोकतन्त्रात्मक विकास की संभावनाएं क्रमशः कम होती जाती है। मानव इतिहास मे भाषा का यह उतार-चढ़ाव संस्कृति को बहुत परिवर्तित करता रहा है। भारत मे प्राचीन समय से ही शिष्ट और जन-सामान्य की भाषा का समानान्तर, प्रयोग होता रहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भी यही स्थिति थी। इन दोनों महापुरुषों ने भाषा की इसी महत्ता को समझते हुए जनभाषा को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। तत्कालीन वह जनभाषा इतिहास में मागधी (पालि) व अर्द्धमागधी (प्राकृत) के नाम से जानी गयी है। भारतीय आधुनिक भाषाओं का विकास इसी जनभाषा से जुड़ा हुआ है।

प्राकृत भाषा का संबन्ध भारतीय आर्य शाखा परिवार से है। विद्वानों ने भारतीय आर्य शाखा परिवार की भाषाओं के विकासको तीन युगों मे विभक्त किया है:—

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल (१६०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक),
२. मध्यकालीन आर्य भाषाकाल (६०० ई० पू० से १००० ई० तक) तथा
३. आधुनिक आर्य भाषाकाल (१००० ई० से वर्तमान समय तक)

प्राकृत भाषा का जो विकास हुआ है वह किसी न किसी रूप में भारतीय भाषाओं के इन तीनो कालो से जुड़ा हुआ है। इस संबन्ध का अध्ययन करने से प्राकृत और भारतीय आधुनिक भाषाओं के परस्पर साम्य—वैषम्य का पता चलता है।

□ □ □

R. N. 10591/62

# वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन


**पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

**आप्तपरीक्षा :** श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

**स्वयम्भू स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २-००

**स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १ ५०

**अध्यात्मकमलमार्तण्ड :** पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १ ५०

**युक्त्यनुशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

**समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-६०

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४-००

**समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

**श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ :** श्री राजकृष्ण जैन ... ... १-२५

**अध्यात्मरहस्य :** पं आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

**जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२ ००

**न्याय-दीपिका :** आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

**जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५ ००

**कसायपाहुडसुत्त :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... ... २० ००

**Reality :** आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी मे अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

**जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००

**ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

**श्रावक धर्म संहिता :** श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

**जैन लक्षणावली (तीन भागों में) :** (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)


प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।